आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार पर आधारित

समयसार अभिनव टीका

भावानुवादक एवं टीकाकार

सी.ए. जयेश मोहनलाल शेठ

✿ भावार्थसहित नमस्कार मन्त्र ✿

णमो अरिहंताणं	तीन काल के तीर्थंकर परमात्माओं एवं केवली परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं	तीन काल के सिद्ध परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो आइरियाणं	तीन काल के आचार्यों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो उवज्झायाणं	तीन काल के उपाध्यायों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं	तीन काल के सभी साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो
एसो पंचणमोक्कारो	यह पंचनमस्कार
सव्वपावप्पणासणो	सभी पापों का नाशक है
मंगलाणं च सव्वेसिं	सभी मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं	यह प्रथम मंगल है

पञ्चपरमेष्ठीवन्दन श्लोक

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः।
आचार्याः जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार पर आधारित

समयसार अभिनव टीका

भावानुवादक एवं टीकाकार

सी.ए. जयेश मोहनलाल शेठ

समर्पण

दादाजी - **पूज्य नानचन्द वेलशीभाई शेठ**

दादीजी - **पूज्य लेरिबेन नानचन्द शेठ**

माताजी - **पूज्य कान्ताबेन मोहनलाल शेठ**

पिताजी - **पूज्य मोहनलाल नानचन्द शेठ**

भ्राता - **श्री रश्मिनभाई मोहनलाल शेठ**

सम्पादक

मनीष यशोधर मोदी

प्रबन्धक

शैलेश पूनमचन्द शाह

Based on the SAMAYASARA by
Acharya Kundakunda

SAMAYASARA
ABHINAVA TIKA

Interpretive Translator and Commentator
C.A. Jayesh Mohanlal Sheth

Dedicated to

Grandfather – **Revered Nanchand Velshibhai Sheth**
Grandmother – **Revered Leriben Nanchand Sheth**
Mother – **Revered Kantaben Mohanlal Sheth**
Father – **Revered Mohanlal Nanchand Sheth**
Brother – **Shri Rashminbhai Mohanlal Sheth**

Editor
Manish Yashodhar Modi

Manager
Shailesh Poonamchand Shah

SAMAYASARA ABHINAVA TIKA (HINDI)

By CA Jayesh Mohanlal Sheth

Mumbai, 2026

ISBN : 978-93-5782-436-1

JSBN : SSHAH0022

Edited by
Manish Yashodhar Modi

Published by
CA. Jayesh Mohanlal Sheth

First Edition: 2026
Copyright © Jayesh Mohanlal Sheth

© All rights reserved

This work is subject to copyright. As such, all rights are reserved and can only and exclusively be assigned by the copyright holder in writing, whether relating to the whole, or part of the material; more specifically, the rights of translation, reprinting, recitation, broadcasting, photocopying, reproduction on microfilms, or in any physical, or mechanical way, and transmission in any form, or by any means, electronic, mechanical, or information storage and retrieval, electronic adaptation, computer software, website, blog, or by similar methodology now known, or hereafter developed.

Price: Svādhyāya

Availability :

Shailesh Poonamchand Shah
402, Parijat, Svami Samarth Marg, Hanuman Cross Road No. 2,
Vile Parle East, Mumbai 400057
Telephones: +91 98294 36799 / +91 93243 37326

Hindi Granth Karyalay
9, Hirabaug, Nath Madhav Lane,
Kasturba Gandhi Chowk, Mumbai 400004
Telephone : +91 98208 96128

Typesetting : **Samir Parekh - *Creative Page Setters,*** M. 83692 68695

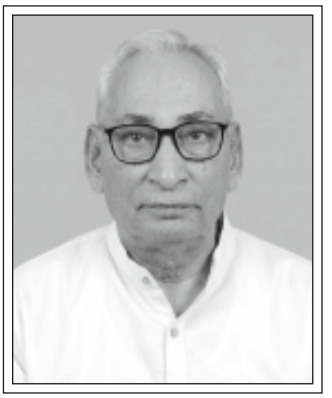
Printing : **Manasi Kandar - *True Colour Print,*** Mumbai M. 97691 08096

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
●	आचार्य कुन्दकुन्द का संक्षिप्त परिचय	१
●	भूमिका	३
१	जीव अधिकार	४३
	जीव अधिकार का उपसंहार	८०
२	अजीव अधिकार	८६
	अजीव अधिकार का उपसंहार	१०६
३	कर्ता-कर्म अधिकार	११०
	कर्ता-कर्म अधिकार का उपसंहार	१७५
४	पुण्य-पाप अधिकार	१८३
	पुण्य-पाप अधिकार का उपसंहार	२०२
५	आस्रव अधिकार	२०६
	आस्रव अधिकार का उपसंहार	२२३
६	संवर अधिकार	२२७
	संवर अधिकार का उपसंहार	२३८
७	निर्जरा अधिकार	२४१
	निर्जरा अधिकार का उपसंहार	२७६
८	बन्ध अधिकार	२८१
	बन्ध अधिकार का उपसंहार	३१६
९	मोक्ष अधिकार	३२२
	मोक्ष अधिकार का उपसंहार	३३५
१०	सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार	३४०
	सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार का उपसंहार	३९१

Courtesy

Nirmal Gangwal - Neelam Gangwal



LATE SHRI DEEPCHAND GANGWAL



LATE SMT. KANCHAN DEVI GANGWAL

BRESCON FOUNDATION

Mumbai 400052

लेखक की अन्य कृतियाँ

सुखी होने की चाबी (हिन्दी / गुजराती / अंग्रेज़ी)

सम्यग्दर्शन की विधि (हिन्दी / गुजराती)

निश्चय–व्यवहार स्पष्टीकरण (हिन्दी / गुजराती / अंग्रेज़ी)

यूनिवर्सल लॉ – धर्मध्यान सहित (हिन्दी / गुजराती / अंग्रेज़ी)

आचार्य कुन्दकुन्द का संक्षिप्त परिचय

जैन श्रमण परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम अत्यन्त पवित्र और पूज्य है। दिगम्बर जैन परम्परा में महत्त्व की दृष्टि से तीर्थंकर परमात्मा भगवान महावीर और गणधर गौतम के पश्चात् तृतीय स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म और जैनदर्शन के शिरोमणि आचार्य थे। उनके द्वारा रचा गया समयसार महाग्रन्थ दिगम्बर आगमों की धवला, महाधवला तथा जयधवला टीकाओं के पश्चात् दिगम्बर परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकायसंग्रह, नियमसार, बारसाणुवेक्खा तथा अट्ठपाहुड जैसे कई आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ रचे थे, जिनमें समयसार तो मुकुटमणि है।

उन्होंने समयसार शास्त्र ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की आत्मानुभूति समझाने के लिये लिखा है। इसमें ज्ञानी के अनुभव का ही वर्णन है। इसलिये उन्होंने इसे अनुभव करके प्रमाणित करने को कहा है। यह शास्त्र अज्ञानी को ज्ञानी के अनुभव का बोध कराता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का कालनिर्णय

दिगम्बर परम्परा के शिलालेखों के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुए थे एवं वे दक्षिण भारत के निवासी थे। इस मत से बीसवीं शताब्दी में हुए जैन समाज के सबसे बड़े इतिहासकार एवं सम्पादक पण्डित नाथूराम प्रेमी और उनके परम मित्र एवं समकक्ष विद्वान् पण्डित जुगलकिशोर मुख़्तार, डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये सभी सहमत हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा: आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ लोक प्रचलित जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचे।

आचार्य कुन्दकुन्द के पाँच नाम

पद्मनन्दि (Padmanandi)

कुन्दकुन्द (Kundakunda)

गृद्धपिच्छ (Gṛddhapiccha)

वक्रग्रीव (Vakragrīva)

एलाचार्य (Elācārya)

इन पाँच नामों के अतिरिक्त कई विद्वानों ने उन्हें वट्टकेरी/वट्टकेर (मूलाचार के कर्ता) से भी जोड़ने का प्रयास किया है। किन्तु पण्डित नाथूराम प्रेमी तथा डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने इस मत को आगम-सम्मत प्रमाणों के अभाव में अस्वीकार किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि मूलाचार के कर्ता वट्टकेर और समयसार, प्रवचनसार आदि के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द, ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे।

आचार्य कुन्दकुन्द नाम कैसे पड़ा?

यह मान्यता है कि आचार्य कुन्दकुन्द तमिलनाडु के कौण्डकुण्ड ग्राम के निवासी थे; अतः उन्हें कौण्डकुण्ड कहा जाने लगा। आगे चलकर इस नाम का ध्वनि परिवर्तन होकर कुन्दकुन्द के रूप में प्रचलित हो गया।

आचार्य कुन्दकुन्द के संस्कृत टीकाकार

आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र (१०वीं शती ई.) माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत में आचार्य जयसेन (१२वीं शती ई.) ने भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर गम्भीर संस्कृत टीका रची।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

- प्रेमी, नाथूराम. जैन साहित्य और इतिहास. मुम्बई: हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, १९५६. (पृ. ५४८-५५०)
- जैन, हीरालाल. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान. भोपाल: मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, १९७५. (पृ. ८३)

भूमिका

समयसार ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य सम्यग्दर्शन की विषयभूत शुद्धात्मा है, जिसे दूसरे शब्दों में दृष्टि का विषय कहा जाता है। इस शास्त्र की गाथा १३ में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों को भूतार्थ नय (शुद्धनय) से जानना यानी शुद्धात्मानुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दों में कहें तो शुद्धात्मा समयसार ग्रन्थ का प्राण है, उसी के गुण समयसार ग्रन्थ में गाये गये हैं। क्योंकि उस शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप प्राप्ति और उस शुद्धात्मा में स्थिरता से मोक्षरूपी मुक्ति ही जिनशासन का सार है। अतएव समयसार ग्रन्थ में ज़्यादातर बातें उस शुद्धात्मा की अनुभूति की अपेक्षा से ही बतायी गयी हैं।

यह समयसार शास्त्र ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की आत्मानुभूति समझाने के लिये लिखा गया है। इसमें ज्ञानी के अनुभव का ही वर्णन है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे अनुभव करके प्रमाणित करने को कहा है। यह शास्त्र अज्ञानी को ज्ञानी के अनुभव का बोध कराता है। अगर कोई अज्ञानी इसे बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से ही मान लेगा और यह समझेगा कि सिर्फ़ बौद्धिकरूप से मान लेने से ही आत्मानुभूति हो जाती है तो यह मिथ्या धारणा इस ग्रन्थराज की सबसे बड़ी अवहेलना होगी तथा जिनशासन की भी अवमानना होगी।

समयसार ग्रन्थराज आत्मानुभूति के मार्ग का अलौकिक दीपक है। आत्मानुभूतिरूप समयसार को कोरी बौद्धिकता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसे कोरी बौद्धिक रीति अर्थात् मात्र शब्दों से मान लेना, शब्दों से रट लेना, इसका ध्यान करना इत्यादि उपक्रम आत्मप्राप्ति के लिये कार्यकारी नहीं हैं, शुद्धात्मानुभूति में सहायक नहीं हैं, वे थोड़ी देर के लिये ख़ुशफ़हमी दे सकते हैं। समयसार शास्त्र का समीचीन अर्थघटन बिना आत्मानुभूति के करना कठिन है। इसी लिये लोगों को इस विषय में कई ग़लतफ़हमियाँ होती हुई दिखायी देती हैं।

उन्हीं ग़लतफ़हमियों को दूर करते हुए समीचीन अर्थघटन प्रस्तुत करने की पवित्र भावना

से यह अभिनव टीका लिखी गयी है। समयसार शास्त्र का समीचीन अर्थघटन समझने के लिये अन्य शास्त्रों में समागत कुछ प्रासंगिक विषयों का प्रस्तुतीकरण यहाँ आवश्यक है।

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक २२० से २२३ में कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को नौ पदार्थों का अनुभव तो है परन्तु मिथ्यादृष्टि को वह अनुभव विशेष रूप (विभावरूप/पर्यायरूप) तथा सम्यग्दृष्टि को वह अनुभव सामान्य रूप (परमपारिणामिक भाव रूप/शुद्धात्मा रूप) होता है। इसलिये उन दोनों के उस अनुभव में ज़मीन आसमान का अन्तर है।

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वैधाभावसद्भावतः पृथक् ।।220।।

अर्थः– ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के सदा ही वस्तु में स्वादभेद पाया जाता है। कारण कि उनके स्वादभेद के अभिव्यंजक जुदे–जुदे दो प्रकार के होते हैं। मिथ्यादृष्टि के ऐसे भाव होते हैं जिससे उन्हें भिन्न प्रकार का (विशेष रूप) स्वाद आता है और सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव होते हैं जिससे उन्हें भिन्न प्रकार का (सामान्य रूप) स्वाद आता है।

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ।।221।।

अर्थः– सामान्य रूप से वस्तु शुद्ध होती है और अपने भेदों की अपेक्षा से वह (विशेष रूप वस्तु) अशुद्ध होती है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टियों को सामान्य रूप से ही वस्तु का स्वाद आता है।

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेऽप्यनीदृशम ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टे दृङ्मोहदोषतः ।।222।।

अर्थः– किन्तु मिथ्यादृष्टियों को ऐसी सामान्य वस्तु का स्वाद नहीं आता जो (सम्यग्दर्शन रूप) विशेष अवस्था के होने पर एक सा बना रहता है, क्योंकि उनका सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय के उदय से दूषित रहता है, इसलिये उनके ज्ञान चेतना का ग्रहण नहीं होता है।

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत् कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ।।223।।

अर्थः– अथवा मिथ्यादृष्टियों को विशेष रूप से वस्तु का स्वाद आता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टियों की चेतना निश्चय से कर्मफल में या कर्म में ही रहती है।

आशय यह है कि मिथ्यादृष्टि (आबाल–गोपाल सभी) को भी आत्मा अनुभव में तो आ रही है परन्तु उसे आत्मा पर्यायरूप से अनुभव में आने के कारण अशुद्ध आत्मा ही अनुभव में आ रही है। यही कारण है कि पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक २१५ के अनुसार सिर्फ़ आत्मा की उपलब्धि (मैं आत्मा हूँ ऐसी समझ) सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है, बल्कि शुद्धात्मा की उपलब्धि ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ।।215।।

अर्थ:– तात्पर्य यह है कि आत्मोपलब्धि मात्र सम्यग्दर्शन का चिह्न नहीं है। किन्तु यदि वह शुद्ध हो तो ही वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है और यदि वह शुद्ध न हो तो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है।

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक १६८ के अनुसार दर्पण में अलग–अलग प्रतिबिम्ब होने पर भी उन्हें गौण करते ही स्वच्छ दर्पण उपलब्ध हो जाता है।

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात् कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ।।168।।

अर्थ:– जिस प्रकार मयूर के सम्बन्ध से दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है तो भी ऐसी अवस्था में भी वहां मयूर का पाया जाना कैसे सम्भव है अर्थात् तब दर्पण में मयूर नहीं पाया जाता है। (स्वच्छ दर्पण पाया जाता है। वैसे ही आत्मानुभूति में ज्ञेय रूप पर्याय गौण हो जाती है और शुद्धात्मा अनुभव में आ जाती है।)

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक १८६ के अनुसार शुद्ध आत्मतत्त्व कहीं इन नौ तत्त्वों से अलग नहीं है किन्तु मात्र नौ तत्त्व सम्बन्धी विकल्पों को कम करते ही अर्थात् गौण करते ही वे नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं।

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किञ्चिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ।।186।।

अर्थ:– अतः शुद्ध तत्त्व कुछ उन नौ पदार्थों से सर्वथा भिन्न नहीं है। किन्तु सिर्फ़ उस विकार के बिना नौ पदार्थ ही शुद्ध रूप हैं ऐसा यहाँ जानना चाहिये। (आत्मानुभूति में नौ पदार्थ रूप पर्याय गौण हो जाती है और शुद्धात्मा अनुभव में आ जाती है।)

उक्त श्लोक १८६ का आशय यह नहीं है कि शुद्ध तत्त्वों की संख्या नौ है, बल्कि व्यवहारनय से जो आत्मतत्त्व नौ तत्त्वों के रूप में दिखायी देता है, वही आत्मतत्त्व शुद्धनिश्चयनय से एक–सामान्यरूप में दिखायी देता है। यही समयसार कलश ७ में कहा गया है कि नौ तत्त्वों को प्राप्त होने पर भी वह आत्मतत्त्व एकत्व को नहीं छोड़ता है—नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति। इस एक शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन का वास्तविक लक्षण है।

सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में होता है यह निर्विवाद सत्य है। पंचाध्यायी उत्तरार्ध के पूर्वोक्त श्लोक २१५ में सम्यग्दर्शन का लक्षण चूँकि शुद्धात्मा की अनुभूति को बताया गया है। इसलिये यह स्पष्ट होता है कि शुद्धात्मानुभूति चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाती है। परन्तु कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण आत्मानुभूति सातवें गुणस्थान में ही मानते हैं। उनका कहना है कि सातवें गुणस्थान में ही ज्ञान–दर्शन–चारित्र की एकता होती है। जैसे कि समयसार ग्रन्थ की दूसरी गाथा में स्वसमय को ज्ञान–दर्शन–चारित्रस्थित बताया गया है। यहाँ सभी को यह स्पष्ट होना चाहिये कि समयसार अध्यात्मग्रन्थ होने के कारण उसमें शुद्धात्मा यानी द्रव्य को ही आत्मा माना गया है। अतः समयसार में द्रव्य अपेक्षा से ज्ञान–दर्शन–चारित्रस्थित बताया गया है। अभेद आत्मानुभूति में सभी गुण विद्यमान हैं, पर ज्ञान–दर्शन–चारित्र प्रमुख होने से इन तीन गुणों में स्थित आत्मा का अनुभव करनेवाले को स्वसमय बताया गया है। इसलिये आत्मानुभूति को ज्ञान–दर्शन–चारित्रमय बताया है, क्योंकि जब आत्मानुभूति होती है तब सभी गुणों से युक्त शुद्धात्मा अनुभूति में आती है। उन सभी गुणों में प्रमुखता से इन तीन गुणों से बात की गयी है।

आचार्यश्री ने ३८३ से ३८६ गाथाओं में यह बताकर चारित्र को परिभाषित किया है कि जो आत्मा अपने को अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्म से दूर रखती है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल का शुभाशुभकर्म जिस भाव में बँधता है, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होती है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है। वर्तमानकाल में उदय में आनेवाले अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्म हैं, उन कर्मो के उदय में हानेवाले दोषों को जो आत्मा (ज्ञाताद्रष्टा रहकर) जान लेती है, वह आत्मा वास्तव में आलोचना है। जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है, और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा वास्तव में चारित्र है। अर्थात् जो ज्ञानी सदा उपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन करता है, वही अभिप्राय की अपेक्षा से सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है। निश्चय से ऐसा ज्ञानी वास्तव में चारित्र से युक्त है। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से चारित्र की व्याख्या की

गयी है। क्योंकि निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है जिसे आचार्यश्री ने यहाँ निश्चय–चारित्र के रूप में निरूपित किया है। उस शुद्धात्मा में पूर्वकृत शुभाशुभकर्म नहीं होते, भविष्यकाल का शुभाशुभकर्म जिस भाव के निमित्त से बँधता है वह भाव भी नहीं होते तथा वर्तमानकाल में उदय में आनेवाले अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्म के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव भी नहीं होते।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द का अभिप्राय सिर्फ़ सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को ही स्वसमय बताने का होता, तो वे चारित्र को उपर्युक्त रीति से यानी शुद्धात्मा की अनुभूति रूप परिभाषित नहीं करते। और वे छठवीं गाथा में यह नहीं कहते कि शुद्धात्मा न तो प्रमत्त है और न ही अप्रमत्त है। इससे तय होता है कि उनको सामान्यभाव यानी द्रव्यात्मा ही इष्ट है, न कि विशेषभाव। वह सामान्यभाव चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सभी जीवों को अनुभव में आता है। और उस सामान्यभाव में सभी गुण विद्यमान हैं परन्तु उन्होंने नाम तो सिर्फ़ ज्ञान–दर्शन–चारित्र का ही लिया है। इसलिये कई लोग इसे विशेषभाव समझकर आत्मानुभूति को सातवें गुणस्थान में ही मानते हैं, उसके पहले नहीं। यही बात आचार्य कुन्दकुन्द ने सातवीं गाथा में भी बतायी है—व्यवहार से कहते हैं कि ज्ञान–दर्शन–चारित्र हैं परन्तु ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है, वह सिर्फ़ शुद्ध ज्ञायक ही है। इसी से स्पष्ट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द को सामान्यभाव अभिप्रेत है, न कि विशेषभाव। विशेषभाव में ज्ञान–दर्शन–चारित्र में स्थितपना सातवें गुणस्थान की दशा में होता है परन्तु यहाँ सामान्यभाव अभिप्रेत है, जिसमें चतुर्थादि गुणस्थान में भी सभी गुण विद्यमान होते हैं।

आगे यही बात आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा क्रमांक ३४, ३५ व ४१२ में भी बतायी है। उनमें कहा है कि ज्ञान यानी ज्ञानस्वरूप की आत्मानुभूति ही प्रत्याख्यान है और उसमें कोई भी परभाव न होने से वहाँ ज्ञान से ही परवस्तुओं का त्याग है। गाथा २७७ में आचार्यश्री स्पष्ट बताते हैं कि मेरी आत्मा (शुद्धात्मानुभूति) ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग है। आचार्यश्री गाथा २०१–२०२ में बता रहे हैं कि वास्तव में जिस जीव में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं, वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो फिर भी आत्मा को (अनुभवपूर्वक) नहीं जानता। और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? शुद्धात्मा में परमाणुमात्र राग भी नहीं होता। अतः इन गाथाओं से यह स्पष्ट होता है कि समयसार ग्रन्थ

में आचार्यश्री सिर्फ़ शुद्धात्मा की ही बात कर रहे हैं। इसलिये उसके अनुभव से ही आत्मा स्वसमय कहलाती है।

गाथा ४०४ में भी आचार्यश्री स्पष्ट बताते हैं कि बुद्ध पुरुष (ज्ञानी) ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) तथा प्रव्रज्या (दीक्षा) मानते हैं। अर्थात् निश्चयनय से सिर्फ़ ज्ञायकभाव को मैंपन से अनुभव करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि है और वह अभिप्राय की अपेक्षा से संयमी है, अंगपूर्वगत सूत्रों के सार का ज्ञाता है, उसे गुणस्थान के अनुसार धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) होते हैं एवं वह इस ज्ञायकभाव (शुद्धात्मा की अनुभूति) से ही पाप और पुण्य का नाश कर मुक्त होनेवाला है। निश्चयनय से शुद्धात्मा की अनुभूति को ही आचार्यश्री सच्ची प्रव्रज्या मानते हैं। गाथा ४१२ में भी आचार्यश्री स्पष्ट बताते हैं कि तू मोक्षमार्ग में यानी आत्मानुभूति में ही अपनी आत्मा को स्थापित कर, उसी का यानी शुद्धात्मा का ही ध्यान कर और उसी का यानी शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हुए शुद्धात्मा में ही विहार कर। अर्थात् परमार्थ से यानी शुद्धनय से यही मोक्षमार्ग है, यही निश्चय रत्नत्रय है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, इसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसा होने के कारण ही चतुर्थादि गुणस्थान से ही जीव स्वसमयी है, अभिप्राय में उसे न कुछ ग्रहण करना शेष है और न ही कुछ त्यागना शेष है। शुद्धनय से ऐसा होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पर्याय का कर्ता न बनते हुए भी विवेकपूर्वक और अनाकुलतापूर्वक अपनी पर्याय की निर्बलता को दूर करने का पुरुषार्थ करता रहता है। उसी को मोक्षमार्ग कहते हैं और इसी से ज्ञानी गुणस्थान आरोहण करते हुए साधु भी होता है और आगे केवली बनकर साक्षात् मोक्ष को पाता है।

निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ही ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। समयसार ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्र होने से इस में ज़्यादातर बातें अभिप्राय की अपेक्षा से ही बतायी गयी हैं। अतः समयसार ग्रन्थ को इसी अपेक्षा से समझना चाहिये। एकान्त से समझने से हमारा कल्याण नहीं होगा।

आचार्य कुन्दकुन्दने सातवीं गाथा में ज्ञानी की बात बतायी है, न कि अज्ञानी की। यानी यह बात चतुर्थादि गुणस्थान में स्थित सभी जीवों पर समान रूप से लागू होती है। आचार्य कुन्दकुन्दने कई अन्य गाथाओं में तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की बात बतायी हैं। वहाँ वे चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठम गुणस्थानवाले जीवों को अज्ञानी नहीं बता सकते, क्योंकि जैसे ही चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होता है, तब ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। तब आचार्य कुन्दकुन्द उन्हें

अज्ञानी क्यों कहेंगे? अत: यह स्पष्ट होता है कि समयसार ग्रन्थ में स्वसमय कहो या ज्ञानी कहो, उसमें चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सभी जीव अभिप्रेत हैं, शामिल हो जाते हैं। यही बात पंचाध्यायी पूर्वार्ध में निम्नरूप से बतायी गयी है।

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात् ।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ।।

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम् ।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ।।

– पंचाध्यायी पूर्वार्ध, ७१७–७१८

अर्थ:– तथा सूत्र में जो यह बताया गया है कि मतिज्ञान तथा उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होते हैं सो यह कहना असिद्ध नहीं है। आशय यह है कि भावमन स्वयं ज्ञानविशिष्ट है। अतः वह अमूर्त है। इसलिये उसके द्वारा जो आत्मा का साक्षात्कार होता है, वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे नहीं होगा? अर्थात् उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

उपरोक्त श्लोक में यह बताया है कि आत्मा का जो साक्षात्कार होता है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। यह बात चतुर्थ गुणस्थान की है। जब किसी जीव को वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता होती है और आगे आत्मानुभूति होती है तब क्या होता है—यह बात इस श्लोक में बतायी है।

कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण मानते हैं कि अपने स्वरूप के अहोभाव के कारण हम उसके प्रति आकर्षित होंगे और आत्मप्राप्ति का पुरुषार्थ आसान हो जायेगा। परन्तु यह ग़लती हम संसार में नहीं करते। संसार में तो हम जो प्रकट है, उसी को महिमामण्डित करते हैं और उसी से प्रेरित होकर पुरुषार्थ करते हैं। अज्ञानी जीव को स्वरूप प्रकट नहीं है। इसलिये वह जो भी स्वरूप का चिन्तन करेगा वह सिर्फ़ कल्पना में ही करेगा, जो आत्मप्राप्ति के लिये कार्यकारी नहीं होगा, शुद्धात्मानुभूति में सहायक नहीं होगा पर वह उसे ख़ुशफ़हमी में ही रखेगा। ऐसा करने से वह अज्ञानी निश्चयाभासी हो जायेगा। बिना आत्मानुभूति के अज्ञानी स्वयं को बौद्धिकरूप से भ्रमवश शुद्धात्मा मानता है, उस मान्यता को शास्त्रों में गधे के सींग के श्रद्धान समान कहा गया है। यही बात पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निम्नरूप से बतायी गयी है।

गय

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ५०

अर्थः– जो कोई अज्ञानी मुमुक्षु जीव निश्चय से (आत्मानुभूतिपूर्वक) निश्चय के स्वरूप को तो जानता नहीं है, परन्तु निश्चय में ही रुचि रखता है और उसी को पालने की प्रतिज्ञा करता है, वह जीव निश्चय के स्वरूप को समझे बिना (बिना आत्मानुभूति के) बाहर इन्द्रियों के व्यापार (अहिंसा आदि इन्द्रियसंयम पालने) को व्यवहार जानकर छोड़ देता है (बन्द कर देता है और भ्रमवश स्वयं को निश्चयधारी यानी ज्ञानी मान लेता है) ऐसा जीव इन्द्रिय–व्यापाररहित महाप्रमादी और अज्ञानी माना जाता है, मोक्षमार्गी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार, बिना आत्मानुभूति के भ्रमवश जो शुद्धात्मा का बौद्धिक श्रद्धान होता है वह सम्यक्त्व का लक्षण नहीं बन पाता।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत ।।

– पंचाध्यायी उत्तरार्ध, ४२३

अर्थः– इसलिये प्रचलित रूढि के आधार से श्रद्धा सम्यक्त्व का लक्षण है यह कहना वास्तव में तभी अविरुद्ध हो सकता है, जब उसे स्वात्मानुभूति से युक्त मान लिया जाये।

बिना आत्मानुभूति के अज्ञानी बौद्धिकरूप से जो स्वयं को शुद्धात्मा मानता है वह उसका भ्रम है। उसका ऐसा मानना यथार्थ नहीं है। इसलिये समयसार ग्रन्थ की गाथा ९६ में बताया गया है कि इस प्रकार मन्दबुद्धि (अज्ञानी) व्यक्ति अज्ञान भाव से परद्रव्यों को अपना करता है और स्वयं को पर रूप बना देता है। आगे गाथा १२६–१२७ में भी बताते हैं कि आत्मा जिस भाव को करती है, वह उस (भाव) कर्म की कर्ता होती है। ज्ञानी का वह (भाव) कर्म ज्ञानमय होता है और अज्ञानी का (वह भाव) अज्ञानमय होता है। अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं। इसलिये वह कर्मों का कर्ता है। ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं। इसलिये वह कर्मों का कर्ता नहीं है। आगे वही बात गाथा १३१ में भी बतायी गयी है कि वैसे ही अज्ञानी के अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। इस प्रकार अज्ञानी का यह कथन कि 'मैं स्वभाव से यानी स्वरूप से तो शुद्ध ही हूँ' भी अज्ञानमय भाव है, उसका फल भी अज्ञान ही है।

कई लोग ऐसा पूछते हैं कि यदि हम अपने स्वरूप का विचार ही न करें तो हमें स्वरूपप्राप्ति की प्रेरणा कैसे मिलेगी? हम उन्हें बताते हैं कि स्वरूपप्राप्ति की प्रेरणा के लिये ही हम भगवान को याद करते हैं, क्योंकि उन्होंने स्वरूपप्राप्ति की है, स्वरूप प्रकट किया है। वैसे भी प्रेरणा तो प्रकट प्राप्तिवालों से ही मिलती है, न कि बिना प्रकट प्राप्तिवाले लोगों से। भगवान को देखकर हम यह तय कर सकते हैं कि हमें भी भगवान बनना है, क्योंकि पहले भगवान भी हमारे जैसे ही थे और उन्होंने सम्यक् पुरुषार्थ करके अपना भगवत्स्वरूप प्रकट किया है। जैसे इलिका प्रकट भ्रमर का ध्यान करती है, न कि अपने भीतर के अप्रकट भ्रमर का जो अभी प्रकट ही नहीं हुआ है। भ्रमर में भ्रमरत्व प्रकट है और इलिका में भ्रमरत्व अप्रकट है; वैसे ही अज्ञानी में शुद्धात्मा अप्रकट है और भगवान में शुद्धात्मा प्रकट है। इसमें भी सभी इलिका भ्रमर के रूप में परिवर्तित हो जाये ऐसी नहीं होती। अर्थात् सभी इलिका भ्रमर के रूप में परिवर्तित होने योग्य नहीं होती। अतएव योग्यता का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि बिना योग्यता के इलिका भ्रमर नहीं बन पाती। इस प्रकार अज्ञानी जीव वैराग्यादि योग्यताओं को पाने का पुरुषार्थ करके भगवान के स्वरूप का आलंबन ले सकते हैं।

अतः सभी जनों को सर्वप्रथम केवल आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्य, तीव्र विषय–कषाय भावों का नाश, पर में सुखबुद्धि का नाश, संसार सम्बन्धी इच्छाओं का नाश, तीव्र बाह्य आसक्ति का नाश, संसार के प्रति निर्वेद, आत्मप्राप्ति का संवेग, सिर्फ़ मुक्ति का लक्ष्य, आत्मा का ध्यान रखने का भाव अर्थात् धर्मध्यान, सरलता, अन्याय–अनीति का त्याग, अभक्ष्यभक्षण का त्याग, सप्त महाव्यसनों का त्याग, भवभ्रमण का भय, संसार को असार मानना, चारों गति के भवों को रोग समान मानना, सभी जीवों के प्रति मैत्री आदि चार भावनाएँ, बारह भावनाओं का प्रायोगिक अनुसरण, तत्वज्ञान में विपरीतता का अभाव, देव–शास्त्र–गुरु–धर्म के प्रति अपार श्रद्धा, आत्महित को सर्वोपरि मानना, बाह्य पदार्थों के मूल्यांकन में कमी, इस भव में सिर्फ़ आत्मप्राप्ति को ही करने योग्य कार्य मानना, भगवान के वचनों में पूर्ण श्रद्धा—ऐसी आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के लिये पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

सही कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता, इसलिये इन योग्यताओं के बिना कोई भी बाह्यनिमित्त कार्यकारी नहीं होता। अपवादस्वरूप कभी–कभी किसी को सामान्य निमित्त से भी सम्यग्दर्शन हो जाता है, जिसका कारण उसके पूर्वभव की जागृत हुई योग्यताएँ होती हैं।

अनेक लोग मानते हैं कि सम्यग्दर्शन के असंख्यात योग होते हैं। जैसे दुःख, कष्ट,

नुकसान, अपमान, गरीबी, शारीरिक रोग, प्रियजन का वियोग, प्रतिकूल परिस्थितियाँ आदि। इन्हें वैराग्यादि योग्यताओं के निमित्त रूप में मानना चाहिये, पर इसका अर्थ यह नहीं कि बिना वैराग्यादि योग्यताओं के ही सम्यग्दर्शन हो जाएगा। ऐसा माननेवाले वास्तव में संसार–रसिक होते हैं जिन्हें वैराग्यादि योग्यताओं का अभ्यास कठिन लगता है। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना इस पुस्तक में बतायी गयी सम्यग्दर्शन की विधि कार्यकारी नहीं बनेगी।

कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि हम अनादि से कई बार व्यवहाराभासी हुए हैं तो एक बार निश्चयाभासी बन गये तो क्या दिक़्क़त है? ऐसा कहकर वे अनेक जीवों को निश्चयाभासी बनने की प्रेरणा देते हैं, लोगों को ख़ुशफ़हमी में ही रखने का काम करते हैं। वे यह नहीं जानते कि निश्चयाभासी बनकर वे निश्चय और शुभभावरूप व्यवहार–दोनों से भ्रष्ट होकर अनन्तकाल तक भवभ्रमण करते रहेंगे। वे यह भी नहीं जानते कि वे जिनशासन पर कितना बड़ा कुठाराघात कर रहे हैं। वर्तमान में ऐसी कई ग़लतफ़हमियाँ फैल रही हैं। हमारा प्रयास रहेगा कि हम उन ग़लतफ़हमियों को निरस्त करें और जिनशासन की प्रभावना में निमित्त बनें।

यह ग्रन्थ शुद्धनयप्रधान ग्रन्थ है। शुद्धनय यानी शुद्धनिश्चयनय। शुद्धनय आत्मानुभूति से ही प्रकट होता है, क्योंकि आत्मानुभूति से ही ज्ञान सम्यक् होता है, प्रमाण होता है। यही बात समयसार ग्रन्थ की चौदहवीं गाथा में भी बतायी गयी है। सच्चा नय प्रमाण का ही अंश होता है। इससे तय होता है कि अज्ञानी को नयाभास होता है, नय नहीं।

सभी सुज्ञजनों को यह समझना चाहिये कि वे स्वयं ही अपने संसार और मोक्ष के लिये ज़िम्मेदार हैं, यही आत्मा की स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग आत्मा के पक्ष में कर हमें अपने समयसार को पाना चाहिये। शास्त्रों में कहा गया है कि आत्मा स्वरूप से शुद्ध है। ऐसा जानकर हमें स्वरूपप्राप्ति का पुरुषार्थ करना है, न कि ऐसा बौद्धिकरूप से मानकर हमें भ्रम में रहना है और भ्रमजनित आनन्द लेते रहना है। शास्त्रों में कहा है कि सभी जीव स्वरूप से शुद्ध हैं। इसका मतलब यह है कि वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर जीव वर्तमान में भी शुद्धात्मानुभूति कर सकता है। यह जानकर हमें वर्तमान में ही वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होकर स्वरूपप्राप्ति यानी शुद्धात्मानुभूति का पुरुषार्थ करना चाहिये, न कि मैं शुद्धात्मा हूँ इस भ्रम में रहकर ही उसका भ्रमजनित आनन्द लेते रहना चाहिये।

अगर हमने मिथ्यात्व दशा में ही अर्थात् बिना स्वात्मानुभूति के ही अपनी आत्मा को बौद्धिकरूप से शुद्ध मानना शुरू कर दिया और उसी भ्रान्ति का आनन्द लेना प्रारम्भ कर दिया तब हम पुरुषार्थहीन दशा को प्राप्त हो जायेंगे। क्योंकि जब हम अपने को भ्रमवश शुद्ध ही मानते हों और उसी भ्रम का आनन्द भी लेते हों, तब फिर आगे उस शुद्धात्मा को पाने के लिये प्रयत्न करेंगे ही नहीं। बस हम ख़ुशफ़हमी में ही रहेंगे।

जानकारी हेतु आत्मा की महिमा जानने–पढ़ने में कोई दिक़्क़त नहीं। लेकिन अगर हमने बिना स्वात्मानुभूति के उस बौद्धिक महिमा का भ्रमित आनन्द लेना प्रारम्भ कर दिया, तो फिर हम पुरुषार्थहीन दशा को प्राप्त हो जायेंगे। अगर हमने अपने आप को वर्तमान पर्याय में ही बौद्धिकरूप से महिमावान मान लिया तो फिर आगे उस महिमा को प्रकट करने का पुरुषार्थ क्यों करेंगे? अर्थात् नहीं करेंगे। इस तरह स्वयं को मोक्षमार्ग मिलना ही कठिन हो जायेगा और अनन्त संसार बढ़ जायेगा।

किसी भी नय का अभिनिवेश हमें शास्त्र का सही अर्थघटन करने से रोकता है। इसलिये हर साधक के लिये नय का यथार्थ रूप समझना नितान्त आवश्यक है। ज़्यादातर लोग पर्यायदृष्टि/व्यवहार से ही त्रिकाली ध्रुवात्मा पाना चाहते हैं, जबकि व्यवहार तो भेद करनेवाला होने से उन्हें त्रिकाली ध्रुवात्मा प्राप्त नहीं होती। पर्यायदृष्टि/व्यवहार से ही त्रिकाली ध्रुवात्मा पाने की इच्छा रखने का मतलब है भ्रमवश आत्मा में द्रव्य और पर्याय ऐसे वास्तविक भेद मानकर उनमें से द्रव्य को पाने की चाह करना। द्रव्य और पर्याय का व्यवहार रूप भेद करने से उन्हें त्रिकाली ध्रुवात्मा प्राप्त नहीं होती। क्योंकि हक़ीक़त में एकान्त से पर्यायशून्य ध्रुवात्मा होती ही नहीं। जो चीज़ न हो, वह प्राप्त कैसे होगी? कभी भी प्राप्त नहीं होगी।

वर्तमान में द्रव्य–गुण–पर्याय के विषय में बहुत सारी ग़लतफ़हमियाँ चल रही हैं, जिनके बारे में हमने अपनी किताब सम्यग्दर्शन की विधि में विस्तार से शास्त्राधारित विवरण दिया है। जिन्हें द्रव्य–गुण–पर्याय की सच्ची समझ बनानी हो उनसे अनुरोध है कि वे सम्यग्दर्शन की विधि के चौथे से आठवें प्रकरणों को ध्यान से पढ़ें। त्रिकाल टिकनेवाली वस्तु द्रव्य है। उसकी वर्तमान अवस्था उसकी पर्याय कहलाती है। और द्रव्य की त्रिकाल विशेषताएँ उसके गुण कहलाते हैं। अगर कोई द्रव्य और पर्याय में अपेक्षाकृत भेद न मानकर भ्रमवश सर्वथा भेद मानते हों तो उन्हें अभेद द्रव्य की प्राप्ति नहीं होगी। और बग़ैर अभेद द्रव्य की प्राप्ति के सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है।

कई लोग भ्रमवश वस्तु को एक सत् न मानते हुए द्रव्य–गुण–पर्याय को तीन सत् मानते हैं। यदि वे अपेक्षा से ऐसा मानते हैं तो ठीक है, लेकिन एकान्त से उन्हें तीन सत् मानना मिथ्यात्व है। जो लोग भ्रमवश द्रव्य–सत्, गुण–सत् और पर्याय–सत् ऐसे तीन अलग–अलग सत् मानते हैं उन्हें अभेद द्रव्य की प्राप्ति नहीं होगी। और बग़ैर अभेद द्रव्य की प्राप्ति के सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है। वैसे ही वर्तमान–पर्यायरहित द्रव्य प्राप्त होना सम्भव नहीं। क्योंकि वर्तमान–पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य छिपा है। वर्तमान पर्याय में ही शुद्धात्मा छिपी हुई है। यह बात तभी समझ में आती है जब वस्तुव्यवस्था और नय का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। यही बात कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पंचाध्यायी उत्तरार्ध और प्रवचनसार में निम्नरूप से बतायी गयी है।

एयंतं पुणु दव्वं, कज्जं ण करदि लेसमेत्तं पि ।
जं पुणु ण करदि कज्जं, तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ।।

– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २२६

अर्थ:– एकान्त स्वरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य को नहीं करता है और जो कार्य ही नहीं करता है वह द्रव्य कैसा है? (वह द्रव्य नहीं होता, परन्तु है तो शून्यरूप–सा (अस्तित्वहीन) ही है।)

जो साहदि सामण्णं, अविणाभूदं विसेसरूवेहिं ।
णाणाजुत्तिबलादो, दव्वत्थो सो णओ होदि ।।

– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २६९

अर्थ:– जो नय वस्तु के विशेष रूप से अविनाभूत सामान्य स्वरूप को अनेक प्रकार की युक्ति के बल से सिद्ध करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। (द्रव्यार्थिक नय में पर्याय गौण हो जाती है।)

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादुसद्विदाम्।।

– पंचाध्यायी उत्तरार्ध, २२१

अर्थ:– सामान्य रूप से वस्तु शुद्ध होती है और अपने भेदों की अपेक्षा से वह अशुद्ध होती है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टियों को (आत्मानुभूति में) सामान्य रूप से (द्रव्यात्मा के रूप में) ही वस्तु अनुभव में आती है। अर्थात् आस्वाद (अनुभव) करने योग्य वस्तु (द्रव्यात्मा) का सम्यक् आस्वाद (अपरोक्ष अनुभव) करे वे ही सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं।

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ।।

– प्रवचनसार, ११४

अर्थ:– द्रव्यार्थिक नय से सब द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय से वह द्रव्य अन्य–अन्य है, क्योंकि उस समय तन्मय होने से द्रव्य पर्यायों से अनन्य है। (द्रव्यार्थिक नय में पर्याय गौण होती है और पर्यायार्थिक नय में द्रव्य गौण होता है।)

अज्ञानी जीव भ्रमवश अपने को शुद्धात्मा मानता हुआ धर्म में पुरुषार्थहीन ही रहता है। वह यह नहीं समझता कि खान से निकलनेवाले स्वर्ण (gold ore) में और शुद्ध स्वर्ण (pure gold) में अन्तर होने के बावजूद दोनों को स्वर्ण ही कहा जाता है, मगर शुद्ध स्वर्ण पाने के लिये खान से निकले स्वर्ण पर कुछ प्रक्रिया अवश्य करनी पड़ती है। उसी प्रक्रिया का नाम आत्मसाधना है। अज्ञानी जीव अपने को भ्रमवश शुद्धात्मा मानता हुआ धर्म में पुरुषार्थहीन ही रहता है, ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। भ्रमवश 'करना यानी मरना' मानने लगता है। उसे यह पता नहीं कि 'करना यानी मरना' यह बात पर की कर्तृत्वबुद्धि छुड़ाने के लिये है, न कि स्व (आत्मा) की साधना छुड़ाने के लिये। वह तो मोक्ष पाने तक करनी ही पड़ती है।

निश्चय को दृष्टि में और व्यवहार को कथन और आचरण में रखना चाहिये। मगर कई लोग ग़लत अर्थघटन करने की वज़ह से इसके विपरीत करते देखे जाते हैं। वे भ्रमवश निश्चय को सिर्फ़ कथन में रखकर आचरण में शून्य बनकर निश्चयाभासी बन जाते हैं और अपना अनन्तकाल अन्धकारमय–दु:खमय बना लेते हैं।

आबाल–गोपाल सभी को आत्मा अनुभव में आ ही रही है मगर अनादि–बन्ध की वजह से परद्रव्य के साथ एकात्मता होने से जीव अपना अनुभव नहीं कर पाता। इसलिये अपनी (आत्मा की) अनुभूति पाने के लिये पर से प्रीति कम करके स्व में रुचि जागृत करनी पड़ेगी। तभी अपना उपयोग पर से हटकर स्व की अनुभूति करेगा।

कई लोग भ्रमवश यह कहते और मानते हैं कि भगवान और ज्ञानी सभी को द्रव्यदृष्टि से ही देखते हैं। मगर उन्हें यह समझना आवश्यक है कि भगवान और ज्ञानी सभी को यथार्थदृष्टि से यथातथ्य (जैसा है वैसा) देखते हैं, न कि सिर्फ़ एक ही दृष्टि से। अर्थात् भगवान और ज्ञानी का ज्ञान प्रमाण होता है, वे जीव को प्रमाणदृष्टि से देखते हैं, न कि एकमात्र द्रव्यदृष्टि से।

ज्ञानी शुद्धात्मा में मैंपन करते हैं, मगर उनका ज्ञान मध्यस्थ होता है। वे स्व और पर को प्रमाणदृष्टि से देखते हुए उनके दोनों पहलुओं को जानते और मानते हैं, न कि एकमात्र द्रव्यदृष्टि से देखकर मूढ़ बने रहते हैं। वे स्व को द्रव्यदृष्टि से भगवान जैसा मानने और अनुभव करने के बावजूद भी अपनी वर्तमान पर्याय की ओर आँख न मूँदकर उसे उन्नत करने के लिये अपनी शक्ति अनुसार साधना करते रहते हैं और दूसरों को भी यही उपदेश देते हैं।

भगवान और ज्ञानी सभी को द्रव्यदृष्टि से ही देखते हैं भ्रमवश ऐसा माननेवाले लोग ख़ुद भी स्व–पर को भ्रमवश द्रव्यदृष्टि से ही देखते–मानते हैं। और स्व (आत्मा) के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता न समझते हुए पररूप संसार में ही पूरा पुरुषार्थ लगाते हैं।

कई लोग कहते हैं कि पर्यायदृष्टिवालों (अज्ञानी) को सच्चा मिच्छामि दुक्कडं (उत्तम क्षमा) नहीं होता। उन्हें यह समझना आवश्यक है कि द्रव्यदृष्टि से तो सभी जीव एक समान होते हैं। इसलिये वहाँ कोई अपराध ही नहीं होता क्योंकि अपराध पर्याय में होता है न कि द्रव्य में। वास्तव में सच्चा मिच्छामि दुक्कडं यथार्थदृष्टि (ज्ञानी) यानी प्रमाणदृष्टिवाले को ही होता है क्योंकि उसे निरपराधी त्रिकाली द्रव्य और अपराधी पर्याय, ये दोनों ही पहलू ज्ञात होते हैं।

अज्ञानी जीव अनादि से भ्रमवश अपनी पर्याय में ही पूर्णता पाना चाहता है मगर उस पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य छिपा होने के बावजूद उसे यह नहीं पता होने से वह स्वयं को बाह्य पदार्थों से ही परिपूर्ण बनाने के लिये लगा रहता है। इसी से वह अनादि से दु:ख झेलता आ रहा है। यही अपनी अनादि की कहानी है।

कई लोग पर्याय में निर्विचारता लाकर पूर्णता (निर्विकल्प अवस्था) पाना चाहते हैं मगर उन्हें यह नहीं पता कि पर्याय में निर्विचारता लाकर भी वे पर्याय का ही अनुभव कर रहे हैं न कि द्रव्य का, जो स्वभाव से ही निर्विकल्प है। इसलिये पर्याय में निर्विचारता पाने का प्रयास न करके द्रव्य को पाने का प्रयास करना चाहिये जो सदा निर्विकल्प होता है।

कई लोग यथेच्छ खाते–पीते हैं, भोग भोगते हैं और राग–द्वेष भी करते हैं और भ्रमवश समझते हैं कि अगर मैं शुद्धात्मा हूँ यह हमने जान लिया और बौद्धिकरूप से मान लिया तो फिर हमें कर्मबन्ध नहीं होगा, इसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। उन्हें यह समझना आवश्यक है कि मात्र बौद्धिकरूप से जान लेना और मान लेना पर्याप्त नहीं परन्तु स्वात्मानुभूति आवश्यक है। अगर बिना स्वात्मानुभूति के वे बौद्धिकरूप से ऐसा करते हैं तब वे नियम से स्वयं को छल रहे हैं तथा अपना भविष्य दु:खमय और अन्धकारमय बना रहे हैं।

जब तक स्वात्मानुभूतिपूर्वक पर से भेदज्ञान नहीं होता तब तक अज्ञानी जीव पर में अहं (मैंपन) करके और पर में मम (मेरा) करके पर से अभेद होकर इन्द्रियों के भोग भोगता है, उन्हें रच–पचकर भोगता है। ऐसा करके वह अपना भविष्य दुःखमय और अन्धकारमय बना रहा है। यही अपनी अनादि की कहानी है।

जिन्हें अज्ञानवश नय का ज्ञान नहीं है वे लोग द्रव्यात्मा जीव का त्रिकाल द्रव्य है, वह त्रिकाली ध्रुव है, वह शुद्धात्मा है ये बातें समझ नहीं सकते। उन्हें लगता है कि संसारी जीव में शुद्धात्मा कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। उन्हें यह बात नय से समझना आवश्यक है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यात्मा ही शुद्धात्मा है, त्रिकाली ध्रुव है। परन्तु अज्ञानी को बिना आत्मानुभूति के यह बात कहने का अधिकार नहीं है कि स्वरूप से तो मैं शुद्ध ही हूँ, क्योंकि उसे स्वरूप की अनुभूति नहीं होती और ऐसा बोलने से तथा मानने से उसे भ्रम हो जाता है।

कई लोग एकान्त से जीव तत्त्व को सिर्फ़ शुद्धात्मा यानी त्रिकाली ध्रुव को ही मानते हैं। वे एक ही नय से जीव की व्याख्या करते हैं। वे सिर्फ़ शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से ही जीव की व्याख्या करते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव तत्त्व की व्याख्या को ही नकार देते हैं। पर जीव तत्त्व को समग्रता से समझने के लिये सभी नयों से उसे समझना आवश्यक है।

जब लोग बिना आत्मानुभूति के दीक्षा ग्रहण करते हैं यानी सिर्फ़ बाह्यचारित्ररूपी साधु बनते हैं तब वे मिथ्यात्व और अविरति इन दो आस्रवों का निरोध हो गया ऐसा भ्रमवश मानते हैं। इसी लिये ऐसे ग़लत अर्थघटन के कारण माना और कहा जाता है कि जो साधु बने वह महान है। वास्तव में देखा जाये तो समझ में आता है कि यदि हम सम्यग्दर्शन और विरति–परिणामसहित साधु बनते हैं तभी मिथ्यात्व और अविरति इन दो आस्रवों का निरोध होता है, अन्यथा नहीं। इससे हम कह सकते हैं कि सिर्फ़ बाह्यचारित्ररूपी साधु बनना मोक्ष की गारण्टी नहीं परन्तु सम्यग्दृष्टि बनना मोक्ष की पक्की गारण्टी है। इसलिये यह कहा जाना चाहिये कि जो सम्यग्दृष्टि बने वह महान है। इससे यह न समझें कि हम साधु बनने को मना कर रहे हैं। साधु बनना तो अच्छा ही है। परन्तु यदि सम्यग्दर्शन न हो तब सिर्फ़ बाह्यचारित्ररूपी साधु बनकर अपने को महान न मानते हुए एकमात्र सम्यग्दर्शन के लक्ष्य से साधुत्व पालना चाहिये।

सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त होते ही उस जीव के अभिप्राय में सर्वविरति के ही भाव होते हैं। परन्तु जब तक वह जीव अपनी कमज़ोरी के कारण (चारित्रमोहनीय कर्मों के कारण) दीक्षा ग्रहण नहीं करता तब तक उसे अविरति का आस्रव रहेगा यानी अविरति का संवर नहीं

होगा। अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) सहित दीक्षा ग्रहण के बाद ही अविरति आस्रव का संवर होता है, अन्यथा नहीं। यह बात समझने जैसी है। इसलिये हमारा पुरुषार्थ सिर्फ़ बाह्यचारित्ररूपी दीक्षाग्रहण का नहीं, पर सम्यग्दर्शनसहित दीक्षाग्रहण का होना चाहिये, जिससे हमारा अक्षयकल्याण (सिद्धत्व) शक्य हो।

भगवान के ज्ञान में तीनों काल की पर्यायें झलकती हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि सभी पर्यायें क्रमनियमित हैं, तभी तो वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनती हैं। क्रमनियमित को सरल भाषा में क्रमबद्ध कहा जाता है। सिर्फ़ इसी अपेक्षा से क्रमबद्धपर्याय को सही कहा जा सकता है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय के प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानना ग़लत होगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये आत्मानुभूति परम आवश्यक है, न कि भगवान के ज्ञान का निर्णय। यदि हम ऐसा कहें कि वे पर्यायें केवली के ज्ञान की ज्ञेय बनी हैं, इसलिये वैसी घटनेवाली हैं तो यह हमारी ग़लत समझ होगी। वे पर्यायें काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ–इन पाँच समवायपूर्वक ही वैसी घटनेवाली हैं। इसी लिये वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनी हैं, किसी अन्य कारण से नहीं। पाँचों समवायों में से नियति को तो हम जानते ही नहीं। न ही नियति हमारे ज्ञान का विषय है। हमारे हाथ में एकमात्र पुरुषार्थ ही है, अतः हमारे लिये वही प्रधान है। इसलिये हमारे लिये योग्य पुरुषार्थ करना ही उचित होगा, क्योंकि भगवानने क्या देखा है यह हमें ज्ञात नहीं है। इसे हम अपेक्षा से नियति भी कह सकते हैं, क्रमबद्धपर्याय भी कह सकते हैं। परन्तु एकान्त से क्रमबद्धपर्याय को सही मानना अवश्य ही नियतिवाद कहलायेगा। भगवानने जो भी देखा है, वह बिना पुरुषार्थ के तो होगा ही नहीं। इसलिये हमें अपना पूरा ध्यान योग्य पुरुषार्थ पर लगाना है, न कि क्रमबद्धपर्याय पर, जो हमें ज्ञात ही नहीं है। हाँ, पूरा ज़ोर लगाकर योग्य पुरुषार्थ करने के बाद जो भी परिणाम आता है, उसे हमें अवश्य ही क्रमबद्धपर्याय (या नियति) मानकर स्वीकार लेना है। सच में तो क्रमबद्धपर्याय काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ–इन पाँचों समवायपूर्वक ही होती है। यानी उसमें पाँचों समवाय समाहित होते हैं। भगवान ने पाँचों समवाय देखे हैं, पाँचों समवायपूर्वक ही पर्याय को देखा है।

निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि न समझने के कारण ही अनेक लोग इस शास्त्र का यथार्थ अर्थघटन नहीं कर पाते हैं और निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि न समझने के कारण ही हम अनादि से संसार में रुल रहे हैं। वर्तमान में भी समाज की प्रायः यही स्थिति दिख रही है। निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि हमें कहीं प्रवास

पर जाना होता है तब हम सिर्फ़ नक़्शा ही नहीं देखते। एक बार नक़्शे को समझ लेने के बाद हम प्रवास भी शुरु कर देते हैं। अगर प्रवास शुरु नहीं किया तो नक़्शा देखने का मक़्सद पूरा नहीं होगा। नक़्शा निश्चय है और प्रवास व्यवहार यानी नक़्शा साध्य है और व्यवहार साधन।

निश्चय और व्यवहार की यथायोग्य सन्धि का मतलब यह है कि जैसे हम जब सब्ज़ी बनाते हैं तब उसमें नमक उचित मात्रा में ही डालना होता है। अगर सब्ज़ी में नमक कम होगा तो वह फीकी लगेगी और ज़्यादा होगा तो वह खाने लायक ही नहीं रहेगी। नमक निश्चय है और सब्ज़ी व्यवहार। इसलिये समझना यह है कि अपनी साधना में निश्चय और व्यवहार का योग्य संयोजन आवश्यक है।

निश्चय और व्यवहार के योग्य संयोजन में सब्ज़ी में नमक की भाँति निश्चय योग्य मात्रा में ही होना आवश्यक है। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण सिर्फ़ निश्चय को ही सच्चा मानकर और व्यवहार को झूठा (उपचरित) मानकर अकेले निश्चय का ही बौद्धिकरूप से सेवन करते रहते हैं। यह इस हुण्डा अवसर्पिणी कलिकाल का ही प्रभाव है कि वे सब्ज़ी को छोड़कर अकेले नमक खाने की ही प्ररूपणा करते हैं। हम सोच भी नहीं सकते हैं कि उनकी क्या दशा होगी। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

वर्तमान में कई लोग अध्यात्म के नाम पर एकान्त निश्चय का ही बौद्धिकरूप से प्रतिपादन करते हैं और उसी से अनेकों की ज़िन्दगियों को बर्बाद करके उन्हें अनन्तकाल तक संसार में रुलाने के लिये वे लोग ज़िम्मेदार हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

अज्ञानी को निश्चय का बौद्धिकरूप से सेवन फ़ायदा नहीं, नुक़सान करता है। अज्ञानी नियम से पर्याय का ही वेदन करता है। इसलिये वह जब भी बौद्धिकरूप से शुद्ध आत्मस्वरूप में रमने का प्रयास करेगा, तब उसकी कल्पना अपनी पर्याय में ही करेगा। वह आत्मानुभूति न होने के कारण नयाभास से अपनी पर्याय को ही अपना त्रिकाली स्वरूप मानकर भ्रमवश उसी का वेदन करने का प्रयास करेगा। जबकि अभी पर्याय तो त्रिकाली स्वरूप जैसी है ही नहीं। इसलिये वह भ्रमवश जो शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है, उस कल्पनाजनित भ्रम में रमने का ही प्रयास करेगा, जो कि आत्मप्राप्ति में ज़रा भी कार्यकारी नहीं है पर वह उसे ख़ुशफ़हमी में डाल देगा। इसे निश्चयाभास कहा जाता है। निश्चयाभास तो उसे भ्रम में ही रखने का काम करेगा, जो कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा है। निश्चयाभास उसके सम्यक् पुरुषार्थ का छेदन कर देगा।

निश्चयाभास के रहते परसन्मुखता कभी छूट ही नहीं सकती। इसलिये हम अज्ञानी को बौद्धिकरूप से स्वरूप के कल्पनाजनित भ्रम में रमने को मना कर रहे हैं।

कई लोग यह सोचकर कि हमारा व्यवहार तो ठीक है। अब हमें सिर्फ़ निश्चय को ही ग्रहण करना शेष है, अकेले निश्चय का ही बौद्धिकरूप से भरपूर सेवन करने लगते हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि यदि आत्मानुभूति का लक्ष्य न हो तो व्यवहार भी व्यवहाराभास ही कहा जाता है। जिसे एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य हो उसके बाँट और तराज़ू (सफलता के पैमाने/मूल्यांकन के मानक) अपने आप बदल जाते हैं। मूल्यांकन के बाँट और तराज़ू बदलने से साधक को बाहरी जगत का सब कुछ असार और निरर्थक लगने लगता है और वह स्वयमेव अपनी अत्यन्त मूल्यवान आत्मा के सन्मुख होने लगता है। आत्मप्राप्ति की यही रीति है। उसके लिये बौद्धिकरूप से निश्चय के अतिरेक की कोई आवश्यकता ही नहीं है और फ़ायदा भी नहीं है, उल्टा नुक़सान ही है। हाँ, जिसने निश्चयनय को बौद्धिकरूप से ही ग्रहण किया हो, उसे यह समझना आवश्यक है कि सम्यक् निश्चय की प्राप्ति आत्मानुभूति से ही होती है।

दूसरे, सम्यक् निश्चय यानी आत्मस्वरूप का जो वर्णन है वह मैं अभी भी प्रकट (अनुभव) कर सकता हूँ, मगर अभी पर्याय में ही वैसा हूँ, ऐसा नहीं। अगर पहली कक्षा में पढ़नेवाला विद्यार्थी अपनी डॉक्टर बनने की सम्भावना है, ऐसा समझने के बजाय स्वयं को भ्रमवश डॉक्टर मानने लगे तो फिर वह आगे पढ़ेगा ही क्यों? वह या तो पढ़ना ही छोड़ देगा या फिर पढ़ाई के प्रति निरुत्साहित हो जायेगा। यही हाल निश्चय को बौद्धिकरूप से ग्रहण करनेवालों का है। वे भ्रमवश अपने को शुद्ध, अकर्ता, अभोक्ता, त्रिकाली ध्रुव, ज्ञाताद्रष्टा, साक्षी, परमपुरुष, सिद्धसम, मुक्त मानने की बातें करते हैं। ऐसा करके वे लोग निश्चयाभासी बनकर अपनी इस ज़िन्दगी को वाणीविलास में बर्बाद करके अनन्तकाल तक अपने को संसार में रुलाने (भटकाने) के लिये स्वयं ज़िम्मेदार होते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

शुद्धनिश्चयनय से जीव भगवान जैसा है। अगर हम अभी वर्तमान दशा (पर्याय) में ही भ्रमवश स्वयं को भगवान मानने लग जायें तो वह भ्रमवश पहली कक्षा के छात्र द्वारा अपने को डॉक्टर मानने जैसा ही होगा। यह बात नहीं समझने से ही यह ग़लतफ़हमी फैल रही है। ऐसी ग़लत प्ररूपणा की वजह से लोग अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

कई लोग भ्रमवश बौद्धिकरूप निश्चयनय का ही प्रचार-प्रसार करते देखे जाते हैं, क्योंकि उन्हें उसके नुक़सान नहीं मालूम। वे स्वयं भी अज्ञानवश इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं। इसलिये जाने-अनजाने में वे अपने और दूसरों के अनन्तकाल तक पतन के लिये ज़िम्मेदार बनते हैं। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

कई लोग हमें पूछते हैं कि मैं वर्तमान में भी स्वरूप से तो शुद्ध हूँ न? हम उन्हें बताते हैं कि स्वरूप से तो आप त्रिकाल शुद्ध ही हैं। उनको लगता है कि हम उनकी मान्यता का ही समर्थन कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें हमारे कथन का गूढ़ार्थ समझ में नहीं आता। जब हम कहते हैं कि स्वरूप से तो सभी जीव त्रिकाल शुद्ध ही हैं तब हम त्रिकाली ध्रुव (शुद्धनिश्चयनय) की बात कर रहे हैं यानी द्रव्यात्मा की बात कर रहे हैं। जिसे वे भ्रम (कल्पना) से वर्तमान में अपनी स्थिति मान लेते हैं, उसे पर्याय में घटाते हैं। उन्हें त्रिकाली ध्रुव का अनुभव तो है नहीं। इसलिये वे इस बात को अपने वर्तमान में घटाकर वैसा अपनी पर्याय में ही भ्रम (कल्पना) से मानने लग जाते हैं। भ्रमवश अपने आप को वर्तमान में ही प्रकट रूप से शुद्ध मानने लगते हैं, जो बहुत ही भयंकर भूल है। यही इस काल की सबसे भयानक विडम्बना है, सबसे ज़्यादा करुणाजनक स्थिति है।

अनादि से हम ग़लतफ़हमी में व्यवहाराभास के कारण भी अनन्त बार लुटे हैं। बिना आत्मप्राप्ति (स्वात्मानुभूति) के लक्ष्य के हमने अनेकों बार बाह्यचारित्र ग्रहण किया जिससे हम व्यवहाराभासी होकर इस संसार में भटक रहे हैं। अब स्वयं पर दया करके सम्यक् निश्चय-व्यवहार की यथार्थ सन्धि समझनी परम आवश्यक है।

अनादि से अभी तक हमने धर्मजगत में प्रवेश करके या तो शास्त्रों की कोरी जानकारी अर्जित की है या फिर बाह्यचारित्र ग्रहण करने का प्रयास किया है मगर संसार के मूल दर्शनमोह को जीतने का प्रयास कभी नहीं किया। इसलिये हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।

दर्शनमोह को मन्द करने हेतु अपनी मूर्छा पर काम करना आवश्यक है, पर-पदार्थों के प्रति मूर्छा कम करने की आवश्यकता है। उसके लिये बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन आवश्यक है।

पहले अपनी तीव्र इच्छा यानी मूर्छा को जाँचना आवश्यक है। फिर हमें इच्छाप्राप्ति के उपाय में होनेवाले आत्मा के परिणामों से भविष्य में आत्मा को क्या दु:ख प्राप्त होंगे? और इच्छित वस्तु प्राप्त होने के बाद आगे कौन सी नयी-नयी इच्छाएँ होंगी? और उस इच्छित वस्तु की

प्राप्ति के उपाय में होनेवाले आत्मा के परिणामों से भविष्य में आत्मा को कौन से दुःख प्राप्त होंगे? इसपर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है।

जब तक हम बाहरी वस्तु या व्यक्ति के प्रति तीव्र प्रीति यानी मूर्छा का भाव रखते हैं तब तक हम उसे प्राप्त करने का भरपूर प्रयास अवश्य करते हैं। अनादि से वह मूर्छा ही हमारे संसार का इंजन है। उसी मूर्छा की वजह से हम अनादि से ढेर सारी शास्त्रोक्त जानकारी प्राप्त करके भी अथवा बाह्यचारित्र ग्रहण करके भी आत्मा की अनुभूति (सम्यग्दर्शन) से वंचित ही रह जाते हैं। बाहरी वस्तु या व्यक्ति के प्रति तीव्र प्रीति यानी मूर्छा और बाहरी वस्तु या व्यक्ति की अपनी ज़रूरत के अनुसार रति-अरति (पसन्द-नापसन्द) के बीच का अन्तर सामान्य लोगों को समझ में नहीं आता। इसलिये कई लोग अपनी मूर्छा को रति मानने की ग़लती कर बैठते हैं। वे समझते हैं कि रति-अरति तो आत्मज्ञानी को भी हो सकती है। उससे हमारी आत्मा की अनुभूति (सम्यग्दर्शन) कहाँ रुकनेवाली है?

बाहरी वस्तु या व्यक्ति या मान-प्रतिष्ठा के प्रति सामान्य रति-अरति (पसन्द-नापसन्द) और बाहरी वस्तु या व्यक्ति या मान-प्रतिष्ठा के प्रति तीव्र प्रीति यानी मूर्छा के बीच का अन्तर समझने के लिये उसे गहराई में जाकर जाँचना चाहिये। यह देखना चाहिये कि क्या मैं उस व्यक्ति या वस्तु या मान-प्रतिष्ठा के बिना बहुत बेचैन रहता हूँ? क्या वह व्यक्ति या वस्तु या मान-प्रतिष्ठा मुझे अपनी आत्मा से भी ज़्यादा अहमियतवाले लगते हैं? क्या मैं अपनी आत्मा का अहित करके भी उस व्यक्ति या वस्तु या मान-प्रतिष्ठा को पाना चाहता हूँ? क्या मैं यह मानता हूँ कि उस व्यक्ति या वस्तु या मान-प्रतिष्ठा को पाकर ही मुझे सुख मिलेगा? इन प्रश्नों में से किसी भी प्रश्न का उत्तर अगर हाँ है तो वह अवश्य ही मूर्छा है, न कि सामान्य रति-अरति (पसन्द-नापसन्द)। हम अपनी इस मूर्छा से प्रायः बेख़बर बने रहते हैं। यही बात आत्मानुशासन, शीलपाहुड और पंचाध्यायी उत्तरार्ध में निम्नरूप से बतायी गयी है।

भङ्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ।

यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ।।

– आत्मानुशासन, ५१

अर्थ:– हे जीव! तू काले नाग के समान प्राणघातक भोगों को भोगने की अति अभिलाषा से अपनी होनहार (भविष्य के भव) को बिगाड़ कर अपण्डित मरण करके व्यर्थ ही सुखों का घात करता है। तू अविवेकी, परलोक के भय से रहित, निर्दय, कठोर परिणामी तथा सज्जनों के द्वारा निन्द्य वस्तुओं का अभिलाषी हो रहा है। जिनका मन काम–क्रोधरूपी महाग्रहों के वश में है ऐसे प्राणी क्या–क्या नहीं करते? सभी अकार्य करते हैं। कामी पुरुषों को धिक्कार है।

उत्पन्नोऽस्यसि दोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान्
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः ।

मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्योऽसि जन्मिन् वृथा
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ।।

– आत्मानुशासन, ५४

अर्थ:– हे अनन्त जन्मों को धारण करनेवाले अज्ञानी जीव! तूने इस संसार में अनेक योनियों में उत्पन्न होकर धातु और मल से निर्मित महादोषरूप देह धारण की है। क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण तू मन की चिन्ताओं तथा तन की व्याधियों से पीड़ित है। तू अभक्ष्य–भक्षण आदि हीन और अयोग्य आचरण करनेवाला दुराचारी होकर अपने आप को ठग रहा है। तू जन्म–मरण के मुख में पड़ा है। जरा से ग्रस्त है। मोह से व्यर्थ ही उन्मत्त हो रहा है। क्या तू आत्मकल्याण का शत्रु है? यदि नहीं, तो फिर तू अकल्याण की कामना क्यों कर रहा है?

कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः ।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ।।

– आत्मानुशासन, ७८

अर्थ:– पण्डितजन अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव! आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न करो। काल के आने पर कुछ भी प्रयत्न नहीं किया जा सकता। काल कब, किस प्रकार, किस जगह और कहाँ से आ जायेगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। दुष्ट काल अचानक ही आ जाता है इसलिये आत्मध्यान करके अविनाशी होने का प्रयत्न करना चाहिये।

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद् वाञ्छन्ति जीवितुम् ।।

– आत्मानुशासन, १९६

अर्थ:– अहो! मूर्ख जीव क्या–क्या नहीं करता! शरीर का पोषण करता है और विषयों का सेवन करता है। मूर्खों को कुछ विवेक नहीं है, वे विष खाकर जीना चाहते हैं। अविवेकियों को पाप का भय नहीं है, वे बिना विचारे न करने योग्य कार्य करते हैं।

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ।।

– शीलपाहुड, ४

अर्थ:– जब तक जीव विषयों के वशीभूत रहता है, तब तक ज्ञान को नहीं जानता है (आत्मानुभूति नहीं करता है) और ज्ञान के बिना मात्र विषयों से विरक्त हुआ जीव पुराने बँधे हुए कर्मों का क्षय नहीं करता।

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ।।

– पंचाध्यायी उत्तरार्ध, २५६

अर्थ:– जैसे जोंक (जलौका) के अशुद्ध खून के चूसने से तृष्णा की बीजभूत रति उसमें देखी जाती है, वैसे ही संसारी जीवों के ये विषय हमारे हितकारी हैं–ऐसा अनुभव करने से, तृष्णा की बीजभूत रति उनमें देखी जाती है।

रयणु व्व जलहिपडियं, मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं ।
एवं सुणिच्छइत्ता, मिच्छकसाये य वज्जह ।।

– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २९७

अर्थ:– समुद्र में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान मनुष्यत्व की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा निश्चय करके हे भव्य जीवो! मिथ्यात्व और कषायों को छोड़ो ऐसा श्रीगुरुओं (ज्ञानी) का उपदेश है।

हम आत्मा की अनुभूति (सम्यग्दर्शन) के लिये जितनी अहमियत शास्त्रों की जानकारी अर्जित करने को या बाह्यचारित्र ग्रहण करने को देते हैं, उतनी अहमियत बाहरी वस्तु या व्यक्ति या मान–प्रतिष्ठा के प्रति तीव्र प्रीति यानी मूर्छा को जाँचने और उसका इलाज करने को नहीं देते, जो दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम के लिये आवश्यक है। इसी लिये हम अनादि से अब तक संसार में भटक रहे हैं। यही बात योगसार, नियमसार कलश और पंचाध्यायी उत्तरार्ध में निम्नरूप से बतायी गयी है।

सत्थ पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।
तहि कारणि ए जीव फुडु ण हु णिव्वाणु लहंति ।।

– योगसार, ५३

अर्थ:– जो शास्त्र तो पढ़ते हैं परन्तु आत्मा को नहीं जानते—अनुभव नहीं करते, वे मूर्ख हैं। इसी कारण वे जीव शीघ्र मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ् नित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ।।

– नियमसार कलश, २४३

अर्थ:– जो जीव अन्यवश (अज्ञानी) है वह भले मुनिवेशधारी हो तथापि संसारी है, नित्य दुःख का भोगनेवाला है। जो जीव स्ववश (आत्मज्ञानी) है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है (अर्थात् उसमें जिनेश्वर देव की अपेक्षा थोड़ी–सी कमी है। वह अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल में ही सिद्ध होनेवाला है।)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत्।।

– नियमसार कलश, २४४

अर्थ:– ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में मुनिवर्ग में स्ववश (आत्मज्ञानी) मुनि सदा शोभा देता है; और अन्यवश (अज्ञानी) मुनि नौकर के समूहों में राजवल्लभ नौकर के समान शोभा देता है अर्थात् संसारी जनों में (नौकर के समूहों में) अज्ञानी मुनि को ऊँची पदवीवाला संसारी (राजवल्लभ नौकर) बताया गया है।

यत् पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक्।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत् कर्मबन्धकृत्।।

– पंचाध्यायी उत्तरार्ध, ७६९

अर्थ:– और जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान हैं, वे यदि सम्यग्दर्शन के बिना होते हैं तो वह न ज्ञान है और न चारित्र है। यदि है तो सिर्फ़ कर्मबन्ध करनेवाला है।

हम अनादि से दर्शनमोह को मन्द करने के पुरुषार्थ की जानकारी या इच्छा के अभाव में ही अब तक संसार में भटक रहे हैं। दर्शनमोह को मन्द करने के लिये ज्ञानगर्भित वैराग्य होना

आवश्यक है। अनादि से हम भ्रमवश बाह्यचारित्र ग्रहण करने की अपनी इच्छा को ही वैराग्य मानते आये हैं। हमें बाह्यचारित्र ग्रहण करने की अपनी इच्छा के मूल में जाकर उसे जाँचने की आवश्यकता है। अनादि से हमने कई बार बाह्यचारित्र ग्रहण किया है मगर अभिप्राय में से संसार के प्रति आसक्ति हटी ही नहीं, पर में सुखबुद्धि हटी ही नहीं। इसलिये हम अनादि से अब तक संसार में भटक रहे हैं। यानी अनादि से हमारी तीव्र चाहत संसार में धन, पद, प्रतिष्ठा, रूप, अधिकार, प्रतिभा, ताक़त, सामर्थ्य, प्रसिद्धि, सिद्धि, रसलोलुपता, भोगलालसा इत्यादि की ही रही है। रागादिमय आन्तरिक संसार से छूटने की चाहत कभी नहीं हुई। यही बात परमात्मप्रकाश में निम्नरूप से बतायी गयी है।

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसहिं सुक्कहिं पण्ण ।।

– परमात्मप्रकाश, १४०

अर्थ:– पंचेन्द्रियों के नायक मन को वश में करो। उस मन के वश में होने से अन्य सभी इन्द्रियाँ वशीभूत हो जायेंगी। जैसे वृक्ष की जड़ नष्ट हो जाने पर पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं।

अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति ।
सो वढ जोएँ किं करइ जासु ण एहि सत्ति ।।

– परमात्मप्रकाश, १५७

अर्थ:– जिसने शीघ्र ही मन को वश में करके यह आत्मा परमात्मा में नहीं मिलायी, हे वत्स! जिसकी ऐसी शक्ति नहीं है वह योग से क्या कर सकता है?

अनादि से हम सुख की खोज बाहर कर रहे हैं, जबकि सुख आत्मा का गुण होने से आत्मा के बाहर कैसे प्राप्त होगा? इन्द्रियजनित सुख (सुखाभास) के लिये भी निमित्त कोई भी हो, सुख तो अपनी आत्मा से ही आता है, यह निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है।

भगवान ने हमें हड्डी चबाते हुए कुत्ते का उदाहरण देकर यही बात समझायी है कि जैसे कुत्ते को लगता है कि ख़ून हड्डी में से निकल रहा है, वैसे हमें भी अनादि से लगता है कि सुख बाहर से मिलता है। वास्तव में कुत्ते को हड्डी चबाते वख़्त हड्डी तालु में लगने से जो ख़ून निकल रहा है वह कुत्ते का अपना ही है, हड्डी का नहीं। वह ख़ून कुत्ते के तालु में हड्डी चुभने से निकला है। इसी प्रकार हमें जो भी बाहर से प्राप्त होनेवाला इन्द्रियजनित सुख (सुखाभास) मिलता है, वह अपनी आत्मा से ही आता है, बाहर से नहीं।

अनन्तानन्त (असंख्यात पुद्गलपरावर्तन) काल तक दुःख में रहने के लिये कोई भी जीव तैयार नहीं है। मगर वर्तमान में बलवान मोह के कारण यह बात ज़्यादातर जीवों को तो समझ में आती ही नहीं। उन्हें इस बात पर विश्वास ही नहीं होता। कई लोग कहते हैं कि हमें भगवान के उपदेश पर पूरा विश्वास है। मगर जब हम उनसे पूछते हैं कि क्या आपको संसार अच्छा लगता है? रहने लायक लगता है? तब वे कहते हैं कि हमारे जीवन में तो कोई दुःख नहीं है। इसलिये संसार अच्छा लगता है, रहने लायक लगता है। या फिर कहते हैं कि हम तो इस जीवन का भरपूर लुत्फ़ उठा रहे हैं, हमें तो संसार में मज़ा आ रहा है। तब हम उन्हें कहते हैं कि फिर आप भागवान के उपदेश को यथार्थ रीति से समझे ही नहीं।

कोई आपको कहे कि तुम जिस भगवान की रोज़ पूजा करते हो उस भगवान पर तुम्हें विश्वास ही नहीं है तब वह बात आपको पचती नहीं, जँचती नहीं। लेकिन यह हक़ीक़त है कि अगर हम उनके उपदेश के विरुद्ध जीवन जी रहे हैं, उनकी सीख को अपने जीवन में गौण कर रहे हैं तो यह निश्चित है कि भगवान के उपदेश पर हमें पूरा विश्वास नहीं। जब जीव को एक बार सही मायने में भगवान के उपदेश पर पूरा विश्वास हो जाता है, तब उस जीव के संसारसमुद्र का किनारा नज़दीक आ जाता है।

दर्शनमोह को मन्द करने हेतु अपनी मूर्छा पर काम करने के लिये बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन इस प्रकार करना है–हर भावना को कम से कम एक माह तक प्रयोग में लेना चाहिये। जैसे कि हर वस्तु को देखते या विचार करते वक़्त यह भी सोचना है कि क्या वह नित्य है? अगर वह अनित्य है तो फिर उसके पीछे समय और पुरुषार्थ क्यों बर्बाद करना है? ज़रूरत न होने पर वह स्वयमेव छूट जायेगा। इसी प्रकार बारह भावनाओं का प्रयोगात्मक चिन्तन करना आवश्यक है।

साधकों को यह पता होना चाहिये कि अभिप्रायशुद्धि (संसार के प्रति आसक्ति हटाने, पर में सुखबुद्धि हटाने) से ही आत्मशुद्धि का प्रारम्भ होता है। क्योंकि अभिप्रायशुद्धि के बिना अनेकों बार व्यवहारशुद्धि करने पर भी हम अनादि से इस संसार में भटक रहे हैं और अनन्तानन्त दुःख भोग रहे हैं। अब उसका अन्त करना ही हमारा परम कर्तव्य है।

सिर्फ़ शुद्धनिश्चयनय की बौद्धिकरूप से कोरी बातें (मैं शुद्धात्मा हूँ मैं परम अकर्ता हूँ इत्यादि) करने से ही दर्शनमोह (सम्यग्दर्शन को रोकनेवाला कर्म = मिथ्यात्व) का उपशम या क्षयोपशम नहीं होता। दर्शनमोह ही संसार की जड़ है। इसलिये उसे मन्द करने के लिये हमें आत्मा

की वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करना आवश्यक है।

'मैं जाननेवाला हूँ' यानी 'मैं ज्ञायक हूँ' यह सूत्र इतना सटीक है कि यह सोचते ही आत्मप्राप्ति (स्वात्मानुभूति) हो सकती है। मगर यह बात भी तय है कि जीव जब तक वैराग्यादि आत्मा की योग्यताओं को प्राप्त कर आत्मसन्मुख नहीं होता, तब तक यह सूत्र काम ही नहीं करता, कार्यान्वित ही नहीं होता। इसलिये हमें यह समझना है कि वैराग्यादि आत्मा की योग्यताओं को प्राप्त कर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होना परम आवश्यक है।

जब तक हमारी सुखबुद्धि बाहर में है यानी ऐसा लगता है कि सुख बाहर से आता है, तब तक अपनी दौड़ बाहर की ओर ही होगी। बाह्यसुख तो पुण्य के अधीन है। इसलिये बाह्यसुख को तलाशनेवाले जीव को पुण्य ही मीठा लगेगा, सत्यधर्म नहीं। पुण्य की मिठास आत्मभाव को भुला देती है। इसलिये बिना आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) के लक्ष्य से किया गया पुण्य भी पापानुबँधी होता है। वह अपने उदय के काल में नये पाप का बन्ध करायेगा। नये दु:खों का सर्जक बनेगा।

अगर साधक अपनी शक्ति के अनुसार भी धर्म के अनुकूल स्वयं को बदलने के लिये तैयार नहीं होता तो यह समझना चाहिये कि उसे दर्शनमोह का तीव्र उदय है। इसलिये साधक क्या बातें करता है? उससे ज़्यादा उसकी मान्यता क्या है? वह स्वयं को अपनी शक्ति के अनुसार धर्म के अनुकूल बदलने के लिये कितना तैयार है? इससे उसके दर्शनमोह की तीव्रता का पता चलता है।

हमने अनादि से अनेकों बार दूसरों के प्रति दया का भाव किया है। मगर सच्ची भावदया स्वयं से आरम्भ होनी चाहिये। यानी सबसे पहले स्वयं पर दया करके अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये। इस जीवन का एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) ही होना चाहिये। तब जाकर हमारा दया का भाव सार्थक होगा।

जब किसी जीव को आत्मानुभूति होती है, तब उसे सामान्यभाव का यानी द्रव्यात्मा का यानी शुद्धात्मा का अनुभव होता है। तब उस जीव का मैंपन उस शुद्धात्मा में ही स्थापित हो जाता है। शुद्धात्मा में वह मैंपन आत्मानुभूति के काल में उपयोगरूप से होता है और बाद में जब तक सम्यग्दर्शन रहता है, तब तक वह मैंपन लब्धिरूप से होता है। इस तरह उस जीव को शुद्धात्मा में मैंपन कभी उपयोगरूप से और कभी लब्धिरूप से होता है। जब उसे शुद्धात्मा में मैंपन लब्धिरूप से होता है, तब वह अपनी पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है। इस प्रकार उस जीव को ज्ञाताद्रष्टा कहा जाता है। यदि कोई बिना आत्मानुभूति के स्वयं को भ्रमवश कल्पना करके

ज्ञाताद्रष्टा मानता है या कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तो वह भ्रमित है। वह इस ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

जब कोई जीव बिना आत्मानुभूति के स्वयं को भ्रमवश कल्पना करके ज्ञाताद्रष्टा मानता है या कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है, तब वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होता है, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। वास्तव में यदि वह अज्ञानी अध्यात्ममार्ग में प्रगति करना चाहता है तो उसे अपने वर्तमान परिणमन के प्रति उदासीन न रहते हुए उसे सत्यधर्म के अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब हमें बुख़ार आता है तब हम उस स्थिति में सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा नहीं रहते बल्कि हम उसका इलाज करते हैं। वैसे ही अज्ञानी को भी अपनी राग–द्वेषरूप पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज करना चाहिये।

समस्त संसारी जीवों को सभी संयोग अपने कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। इसलिये सभी संसारी जीवों को कौन से संयोग मिलेंगे? उसमें वे पराधीन हैं, परवश हैं। परन्तु वे अपनी प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र हैं। इसी लिये जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी जीव मोक्षप्राप्ति के लिये अध्यात्ममार्ग के अनुकूल अपने परिणमन का यथार्थ इलाज बारह भावना, चार भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इत्यादि का आश्रय लेकर कर सकता है। आगे हमने धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) की रीति समझायी है। इस प्रकार अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुसार यथार्थ इलाज करना चाहिये। अज्ञानी होने के कारण स्वयं कर्ताभोक्ता होने के बावजूद भी हम तो ज्ञाताद्रष्टा हैं ऐसे भ्रम में रहकर मूढ़ नहीं बने रहना चाहिये।

कई लोग कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा बने रहने का ध्यान या अभ्यास करते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होने के कारण वे कर्ताभोक्ता होते हैं। इसी कारण तो समयसार ग्रन्थ में अज्ञानी को कर्ता बताया है और ज्ञानी को अकर्ता बताया है। जब अज्ञानी पर्याय का कर्ताभोक्ता होता है, तब वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा कैसे बन सकता है? कभी नहीं बन सकता। इसी लिये अज्ञानी के लिये कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा बने रहने का ध्यान या अभ्यास भ्रम में ले जानेवाला बनता है और वह स्वयं के परिणमन का अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज भी नहीं कर सकता बल्कि वह सिर्फ़ मूढ़ (पर्यायमूढ़) ही बना रहता है।

बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होता है। इसलिये वह पर्याय का कर्ता ही होता है। और ज्ञानी को आत्मानुभूति में सिर्फ़ शुद्धात्मा का ही अनुभव होता है। इसलिये ज्ञानी का मैंपन भी उस शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अतएव ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी का सहज ही ज्ञाताद्रष्टा भाव बना रहता है। इसलिये अज्ञानी को कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा बनने का अभ्यास नहीं परन्तु आत्मानुभूति के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जिससे वह आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त कर सके।

शुद्धात्मा सदैव ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। और ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में होने के कारण वह भी अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी को बन्धभाव में मैंपन न होने के कारण ज्ञानी को बन्ध नहीं होता—ऐसा कहा जाता है। क्योंकि ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से बन्धभाव की पर्याय का कर्ता नहीं है, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही है। जबकि अज्ञानी को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होने के कारण उसका मैंपन भी पर्याय में ही होता है। इसलिये वह पर्याय का कर्ताभोक्ता होता है यानी बन्ध का भी कर्ता होता है।

अनादि से अपनी ग़लती के कारण से ही हम संसार में भटक रहे हैं। अनादि से हमने कभी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अपनी आत्मा के उत्थान के लिये नहीं किया। इसलिये कहा जा सकता है कि अपने संसार और मोक्ष के लिये वास्तव में हम स्वयं ही ज़िम्मेदार हैं। यह समझ बनाकर अब सभी साधकों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति पाने का पुरुषार्थ ही करना चाहिये।

पाप और पुण्य किसी अपेक्षा से समान होते हैं। इसलिये उन्हें समयसार ग्रन्थ में एक समान बताया है। पाप और पुण्य आस्रव की अपेक्षा से समान हैं, क्योंकि दोनों आस्रव हैं। पाप और पुण्य बन्ध की अपेक्षा से भी समान हैं, क्योंकि दोनों का आत्मा के साथ बन्ध होता है। पाप और पुण्य जीव की स्वभावस्थिरता में बाधक होते हैं। इसलिये भी समान हैं। पाप और पुण्य आत्मस्वभाव से विपरीतता की अपेक्षा से भी समान हैं, क्योंकि वे जीव के त्रिकालस्वभाव नहीं हैं। इसलिये उपादेय नहीं हैं। परन्तु इस समझ से विपरीत अर्थ ग्रहण करके, यानी ग़लत अर्थघटन

के कारण पाप एवं पुण्य को समान रूप से हेय मानकर अगर कोई पुण्य को छोड़कर पाप में रहता है तो वह अनन्तकाल के लिये दु:खों को आमन्त्रण देता है। ऐसा करना समझ की विपरीतता होगी और यही हमारी अनादि की कहानी है। यही बात आत्मानुशासन और दर्शनपाहुड में निम्नरूप से बतायी गयी है।

पापाद् दु:खं धर्मात् सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद् विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ।।

– आत्मानुशासन, ८

अर्थ:– पाप से दु:ख होता है और धर्म से सुख होता है यह कथन समस्त लोक में प्रसिद्ध है। सभी ऐसा मानते हैं और कहते हैं। इसलिये जिसे सुख चाहिये, उसे पाप को छोड़कर हमेशा धर्म का आचरण करना चाहिये, (क्योंकि धर्म से ही उत्कृष्ट पुण्य बँधता है।)

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ।।

– दर्शनपाहुड, गाथा ८

अर्थ:– जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं; अर्थात् अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

कई लोग शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण एकान्त से पुण्य–पाप को एक समान हेय मानकर पुण्य को छोड़कर पाप करते रहते हैं, उसको उपरोक्त गाथा से यह बात समझनी है कि जो दर्शन से भ्रष्ट है यानी मिथ्यात्वी है, वह अगर आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से होनेवाले पुण्य को भी छोड़ देगा तो उसे इस गाथा में भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट है ऐसा बताया गया है। अतः सभी साधकों को एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभ में रहना कर्तव्य है, यह इस गाथा का उपदेश है।

ज्ञानी को सिर्फ़ शुद्धभाव का ही आदर होता है यानी सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही रहने का अभिप्राय होता है। परन्तु जब तक वह शुद्धात्मा में नहीं रह सकता, तब तक वह शुभभाव में रहता है। हालाँकि अज्ञानी को तो अभी तक शुद्धभाव का अनुभव ही नहीं है। परन्तु उसे भी लक्ष्यरूप से तो शुद्धभाव ही रखना चाहिये और जब तक उसे शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसे सिर्फ़ शुभभाव में ही रहना चाहिये। यह समझ नहीं होने के कारण कई अज्ञानी जीव ग़लत अर्थघटन के कारण भ्रमवश शुभ और अशुभ को एक समान मानकर अशुभ में भी बिना कोई अफ़सोस के मज़ा लेते हुए रहते हैं, जिसकी वजह से वे अनन्त संसार में भटकते हैं।

समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में शुद्धात्मा का श्रद्धान न जाने हुए गधे के सींग के श्रद्धान के समान होने के कारण, सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। यानी वह श्रद्धान सिर्फ़ बौद्धिक कल्पना से उपजा भ्रम ही होता है। इसलिये आत्मा सधती नहीं, आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा होने पर भी कई निश्चयाभासी उपदेशक अज्ञानी को भी बिना आत्मानुभूति के मैं शुद्धात्मा हूँ यह मानने को कहते हैं या जाप जपने को कहते हैं या धारणा करने को कहते हैं या निर्णय करने को कहते हैं। परन्तु बौद्धिकरूप से सिर्फ़ मैं शुद्धात्मा हूँ मान लेने से ही वैराग्यादि योग्यताएँ एवं पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता नहीं हो जाती और बिना आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के और बिना पर की इच्छाओं से विरत हुए आत्मसन्मुखता भी नहीं होती। इसलिये आत्मानुभूति भी नहीं होती यानी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जब तक जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख नहीं होता तब तक जीव बहिरात्मा ही है और बहिरात्मा को आत्मानुभूति नहीं होती।

जिसे संसार में डूबे हुए जीव सुख मानते हैं, वास्तव में तो वह दु:ख ही है, क्योंकि वह सुख (सुखाभास) भी दु:खपूर्वक ही होता है। वैसा सुख भोगने से पहले की भोगलालसा, तीव्र इच्छा, भोगतृष्णा आदि दु:ख है। सुख भोगते हुए आकुलता का दु:ख होता है, उस सुख को भोगने के बाद उसके अभाव का दु:ख होता है और उस सुख को भोगते वक़्त बाँधे हुए पापों से भविष्य में भी दु:ख मिलता है। ऐसे भूत–वर्तमान–भविष्य में दु:ख देनेवाले सुख को हम सुख कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते। इसलिये सभी साधकों/मुमुक्षुओं को सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये उन्हें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे उन्हें आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त हो सके।

जैसे हिरण मरीचिका के पीछे भागता है, वैसे ही हम भी सुखाभास को सुख मानकर उसके पीछे अनादि से भाग रहे हैं। फलस्वरूप हमें अनन्त दु:खमय संसार ही मिला है। इसलिये अब हमें इस सुखाभास को पहचानकर उसके पीछे भागना बन्द करके सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त कर सकें। यही बात मोक्षपाहुड में निम्नरूप से बतायी गयी है।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ।।

– मोक्षपाहुड, ६६

अर्थ:– जब तक मनुष्य विषयों में प्रवृत्ति करता है, तब तक आत्मा नहीं जानी जाती अर्थात् आत्मज्ञान नहीं होता है। विषयों से विरक्त चित्त योगी ही आत्मा को जानता है।

यहाँ एक बात समझना आवश्यक है कि समयसार ग्रन्थ में आचार्यश्री शुद्धात्मा को ही आत्मा कहते हैं, क्योंकि शुद्धात्मा ही आत्मानुभूति का विषय है और इस ग्रन्थ में प्रायः उसी का वर्णन है। शुद्धात्मा में मात्र उपादान की ही भूमिका होती है। अतः इस ग्रन्थ में अधिकांश बातें उपादान की अपेक्षा से कही गयी हैं। निमित्त की भूमिका पर्याय में आती है। इसलिये इस ग्रन्थ में निमित्त सम्बन्धी बातों को गौण कर दिया गया है। यदि कोई साधक इस बात को अन्यथा ग्रहण कर एकान्त से निमित्त को अकर्ता मानने लगे, तो वह जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा— अर्थात् वह पाखण्डी मत का ही समर्थक होगा।

समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी की स्वात्मानुभूति का वर्णन है, जिसे शुद्धनिश्चयनय कहा जाता है। इससे यह समझना है कि शुद्धनिश्चयनय प्रकट करना है, उसकी अनुभूति करनी है। उसे सिर्फ़ बौद्धिकरूप से—शब्दों से मान लेने की बात नहीं है। शुद्धनिश्चयनय से ज्ञानी को मात्र शुद्धात्मा में ही मैंपन होता है यानी ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से मात्र शुद्धात्मा में ही स्व—स्वामित्व सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में शुद्धनिश्चयनय से यानी अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन मात्र शुद्धात्मा में ही होता है।

समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी की स्वात्मानुभूति यानी द्रव्यात्मा का ही वर्णन होने के कारण ही जीव की सभी पर्यायों को आत्मबाह्य बताया गया है यानी जीव की सभी पर्यायों का वर्णन करके यह बताया गया है कि वे आत्मा में नहीं हैं या आत्मा नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में प्रमुखतः ज्ञानी की आत्मानुभूति का ही वर्णन है। इसलिये इस ग्रन्थ में मात्र शुद्धात्मा (द्रव्यात्मा) को ही आत्मा कहा गया है, जो कि आत्मानुभूति का विषय है।

ज्ञानी को स्वात्मानुभूति के कारण शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मा के अलावा किसी से भी स्व–स्वामित्व अभिप्राय में नहीं है। परन्तु अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा अपने कार्य की कर्ता होती है। इसलिये बताया गया है कि ज्ञानी अपने ज्ञानभाव का कर्ता है और अज्ञानी अपने अज्ञानभाव का कर्ता है। अज्ञानी का नियम से पर्याय में ही मैंपन होता है और सभी संयोगों में मेरापन होता है। अतः अज्ञानी का पर से स्व–स्वामित्व सम्बन्ध होता है।

व्यवहारनय से भी ज्ञानी का मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। परन्तु जब अपने को शरीर या उसके नाम से सम्प्रेषित करता है तब उसे यह पता होता है कि वह जो भी बोल रहा है, वह सिर्फ़ उपचार कथन ही है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है। व्यवहारनय से ज्ञानी को अपनी पर्याय में मेरापन (स्वामित्व) अवश्य होता है। अतएव ज्ञानी अपनी पर्याय का कर्ता न बनकर भी अपनी पर्याय की कमी को दूर करने का अनाकुलतापूर्वक पुरुषार्थ भी करता रहता है। उसी को मोक्षमार्ग कहते हैं और इसी से ज्ञानी गुणस्थान आरोहण करता हुआ साधु बनता है और आगे चलकर केवली बनकर साक्षात् मोक्ष को पाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार की ११वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ बताते हैं। इसमें भी कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण अभूतार्थ का अर्थ झूठ ऐसा करते हैं परन्तु वास्तव में अभूतार्थ का अर्थ अविद्यमान होता है। चूँकि व्यवहार भेदवाला होता है और आत्मानुभूति अभेद की होती है। इसलिये आत्मानुभूति में व्यवहार अभूतार्थ होता है यानी अविद्यमान होता है और निश्चय भूतार्थ यानी विद्यमान होता है, यह बताया गया है। अर्थात् निश्चय विद्यमान होता है यानी अभेद की आत्मानुभूति होती है। समयसार ग्रन्थ के कई अनुवादों में अभूतार्थ को असत्यार्थ भी कहा है, वहाँ असत् यानी अविद्यमान होने को ही असत्यार्थ कहा गया है यह समझना आवश्यक है। इस तरह से कई लोग शब्दों के सही अर्थ न कर पाने के कारण अर्थ का अनर्थ कर देते हैं और अनेक जीवों के संसार को बढ़ाने में निमित्त बनते हैं। व्यवहारनय आत्मानुभूति में अविद्यमान होने की अपेक्षा से उसे अभूतार्थ बताया गया है। परन्तु जब वह जीव आत्मानुभूति से बाहर आता है, तब उस जीव के लिये भेदरूप व्यवहारनय भूतार्थ है। इसी लिये ज्ञानी का मैंपन लब्धिरूप से शुद्धात्मा में होने पर भी वह अपनी पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा बनता है, पर का भी ज्ञाताद्रष्टा बनता है।

इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द गाथा क्रमांक १२ में बताते हैं कि परमभाव को देखनेवाले यानी अनुभव करनेवाले ज्ञानी को तो शुद्धनय ज्ञातव्य है यानी अभेद निर्विकल्प शुद्धात्मा का ही अनुभव करने योग्य है। उसी का आश्रय लेने योग्य है। और अपरमभाव में स्थित जीव यानी अज्ञानी को व्यवहार द्वारा उपदेश देना योग्य है यानी अज्ञानी को अनेक भेदों के द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपदेश देना योग्य है, परन्तु ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को सिर्फ़ बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने को कहना या निश्चय को शब्दों से ग्रहण करके भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा मान लेना कदापि योग्य नहीं है। ऐसा करना उसे ख़ुशफ़हमी में ही रखेगा।

यदि अज्ञानी समयसार ग्रन्थ का ग़लत अर्थघटन करके बौद्धिकरूप से सिर्फ़ निश्चयनय को ही ग्रहण करेगा तो नयाभास के कारण वह निश्चयाभासी हो जायेगा। वर्तमान काल की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि यह परमपवित्र ग्रन्थराज कई हलक़ों (क्षेत्रों) में अस्पृश्य हो गया है और कई हलक़ों में इसे पढ़कर लोग ग़लत अर्थघटन करके निश्चयाभासी या स्वच्छन्द हो जाते हैं। अज्ञानी अर्थात् आत्मानुभूतिरहित व्यक्ति समयसार शास्त्र का सही अर्थघटन नहीं कर पाता।

इस शास्त्र का सही अर्थघटन न कर पाने से कई एकान्तों ने जन्म लिया है –

१. अज्ञानी नियम से पर्यायदृष्टि होता है। इसके बावजूद भी कई अज्ञानी जन भ्रमवश स्वयं को त्रिकाली शुद्ध मानने लगते हैं।
२. कई अज्ञानी अपने निहित नयाभास के कारण भ्रमवश स्वयं को वर्तमान पर्याय में ही शुद्ध मानने लगते हैं और पुरुषार्थहीन बन जाते हैं। वे इस ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं।
३. कई अज्ञानी निश्चयनय प्रकट न होने पर भी भ्रमवश स्वयं को शुद्ध मानते हुए बोलने लगते हैं कि सिद्ध बनना नहीं है, मैं सिद्ध ही हूँ—यह निर्णय करना है। इस प्रकार कई अज्ञानी जीव भ्रमवश स्वयं को छलते हैं और पुरुषार्थहीन बनकर अपना अनन्त संसार बढ़ाते हैं।
४. कई अज्ञानी भ्रमवश स्वयं को शुद्ध मानकर प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं से विरक्त हो जाते हैं तथा प्रतिक्रमण आदि को एकान्त से विषकुम्भ मानने लगते हैं।
५. कई अज्ञानी लोग भ्रमवश अपने को परम अकर्ता मानते हुए बोलने लगते हैं कि करना यानी मरना है। ऐसा भ्रमपूर्वक मानकर वे अध्यात्म का पुरुषार्थ त्यागकर लौकिक पुरुषार्थ में लग जाते हैं।
६. कई अज्ञानी भ्रमवश अपने राग–द्वेष की ज़िम्मेदारी कर्मों पर छोड़ देते हैं और कहते हैं मैं तो अकर्ता हूँ, कर्म ही कर्म करते हैं और रागादिभावों में वे तन्मय रहते हैं। इस प्रकार ऐसे अज्ञानी भ्रमवश अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते हैं।
७. ज्ञानी की आत्मानुभूति में रागादि नहीं होते यह पढ़कर कई अज्ञानी भ्रमवश स्वयं को रागादिरहित मानने लगते हैं।
८. कई अज्ञानी राग करने के बावजूद भी भ्रमवश कहते हैं कि उनमें राग का कण भी नहीं हैं।
९. कई अज्ञानी भ्रमवश स्वयं को कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा मानने लगते हैं।
१०. कई अज्ञानी संसार की सभी गतिविधियों में निमग्न रहने के बावजूद भी भ्रमवश स्वयं को कृत्रिमता से साक्षीभाव में स्थित मानने लगते हैं। अतः भ्रमवश उनका स्वदोष का दर्शन,

स्वीकार, निन्दा–गर्हा आदि का पुरुषार्थ भी छूट जाता है और उनका अनन्त दुःखमय भवभ्रमण भी बढ़ जाता है।

११. दो द्रव्यों के बीच में कर्ता–कर्म सम्बन्ध न होने के कारण यह कहा जाता है कि उपादान की अपेक्षा से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता। परन्तु कई अज्ञानी अपने अज्ञानवश इस सिद्धान्त को निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध में भी घटा देते हैं। यानी एकान्त से निमित्त की अपेक्षा से भी कार्य–कारणभाव का अपलाप करके निमित्त का कुछ भी असर आत्मा पर नहीं होता है, ऐसा एकान्त से मानने लगते हैं और इस ग़लत अर्थघटन के कारण वे अज्ञानवश बुरे निमित्तों से भी बच नहीं पाते।

१२. कई अज्ञानी भ्रमवश स्वयं को वर्तमान में ही प्रकटरूप से अबन्धस्वरूप (कर्मबन्धन से मुक्त) मानने लगते हैं और राग–द्वेषरूपी बन्धभाव के निमित्त में डूबे रहते हैं।

१३. कई अज्ञानी भ्रमवश स्वयं को वर्तमान में ही कर्मबन्धन से मुक्त समझने लगते हैं। पर्याय में मैंपन रहते हुए भी वे स्वयं को भ्रमवश अबन्धस्वरूप मानने लगते हैं। हक़ीक़त में अज्ञानी का पर्याय में मैंपन होने से वह बन्धस्वरूप ही है।

१४. कई अज्ञानी आत्मा के अपराधों में स्वरसतः लिप्त होने के बावजूद भ्रमवश स्वयं को निरपराध मानकर अपना अनन्त संसार बढ़ाते हैं।

१५. कई अज्ञानी स्वयं परज्ञेयलुब्ध (संसार में रुचि रखनेवाला) होने के बावजूद भी वर्तमान में ही भ्रमवश प्रकटरूप से यानी वर्तमान पर्याय में ही अपने को सामान्य चेतनारूप मानने लगते हैं।

१६. इस शास्त्र में म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में समझाने की बात कही गयी है। जैसे कि अभेद द्रव्य में भेद उत्पन्न करके द्रव्य–गुण–पर्याय, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आदि कहा गया है। उन भेदों को वास्तविक मानकर कई अज्ञानी जीव भ्रमवश द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न–भिन्न मानने लगते हैं और भ्रमवश द्रव्य तथा पर्याय के षट्कारकों को भी स्वतन्त्र मानने लगते हैं, जैसे कि वे दो द्रव्य ही हों! कई अज्ञानी तो उन भेदों में ही रमते हैं और इस भ्रमवश वे अभेद आत्मद्रव्य की अनुभूति प्राप्त करानेवाले मार्ग को ही खो देते है। जैसे प्रवचनसार की गाथा १०७ में सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय कहा गया है, वह भी भेदरूप व्यवहारनय का कथन है। यह भिन्नता वास्तविक नहीं, अपितु समझाने के लिये की गयी है; अर्थात म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में समझाने का उपक्रम मात्र है। वास्तविक रूप से कोई भेद नहीं है। इसी कारण प्रवचनसार की गाथा १०२ में इन तीनों

को समवेत, अर्थात् एकरूप बताया गया है। तथा प्रवचनसार गाथा ८ में द्रव्य को परिणाममय कहा गया है—अर्थात् द्रव्य पर्यायमय ही है।

इसी बात को और स्पष्ट करने के लिये प्रवचनसार गाथा १०६ में विभक्त प्रदेशत्व को पृथकत्व, अर्थात् भिन्न द्रव्यत्व कहा गया है; अर्थात यदि कोई प्रदेश–भेद मानता है, तो उसे वहाँ भिन्न द्रव्यत्व भी स्वीकार करना पड़ेगा।

आगे प्रवचनसार गाथा १११ में इसे और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो द्रव्य द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य है, वही पर्यायार्थिक नय से पर्याय है। अर्थात् द्रव्य और पर्याय में वास्तव में कोई प्रदेश–भेद नहीं है; सिर्फ़ दृष्टि–भेद से ही भेद प्रतीत होता है–यह समझना अत्यंत आवश्यक है।

आगे प्रवचनसार गाथा ११४ में पूर्ण रूप से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि द्रव्यार्थिक नय से सब (पूर्ण पदार्थ) द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय से वह अन्य–अन्य (सब पर्याय रूप) है, क्योंकि उस समय तन्मय होने से (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।

१७. कई अज्ञानी जीव रसपूर्वक रागादिभावों के रूप में परिणत होते हुए भी स्वयं को भ्रमवश एकान्त से अपरिणामी मानने लगते हैं और कहते हैं कि मैं तो अपरिणामी हूँ। परिणाम को आना हो तो आये, शुद्ध होना हो तो हो जाये, मेरा परिणाम से कुछ भी लेना–देना नहीं है!

कई ग्रन्थों में आत्मा का स्वरूप तो बताया गया है पर शुद्धात्मा का अनुभव करने की विधि स्पष्ट न होने के कारण अनेक लोग भ्रमवश बौद्धिकरूप से ही ऐसा मानने और कहने लगते हैं कि निश्चय से तो मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं परम अकर्ता हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञाताद्रष्टा हूँ, मैं अबन्धस्वरूप हूँ, मैं अपरिणामी हूँ, मैं पर्यायरहित द्रव्य हूँ आदि–आदि। ग्रन्थों का सही अर्थघटन पता न होने से वे भ्रमवश मानते हैं कि ऐसा करते रहने से ही कभी आत्मा की अनुभूति हो जायेगी। हक़ीक़त में ऐसा करने से होता यह है कि वे ऐसा करते–करते कब निश्चयाभासी बन जाते हैं यह उन्हें भी पता नहीं चलता। क्योंकि अज्ञानी को नियम से पर्याय का ही अनुभव होता है। इसलिये वह नियम से पर्यायदृष्टि होता है। और वह इस बात को अज्ञानवश, अनजाने में ही पर्याय में बिठाकर स्वयं को भ्रमवश पर्याय से ही यानी प्रकटरूप से ही ऐसा मानने लगता है।

मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं परम अकर्ता हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञाताद्रष्टा हूँ, मैं अबन्धस्वरूप हूँ, मैं अपरिणामी हूँ, मैं पर्यायरहित द्रव्य हूँ इत्यादि रूप से स्वयं को भ्रमवश माननेवाले लोग अज्ञानी होने के बावजूद समयसार ग्रन्थ में वर्णित द्रव्यदृष्टि (शुद्धनय) के आधार पर स्वयं को भ्रमवश ज्ञानी मानने लगते हैं और इस ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं।

जबकि वास्तविकता यह है कि समयसार ग्रन्थ में वर्णित द्रव्यदृष्टि (शुद्धनय) तो ज्ञानी की आत्मानुभूतिरूप है—ज्ञानी की दृष्टि है, ज्ञानी के चश्मे जैसी है। ज्ञानी की आत्मानुभूति का शब्दरूप चश्मा लगाकर भ्रमवश अज्ञानी स्वयं को शुद्ध मानने लगता है। परन्तु ज्ञानी की आत्मानुभूति का शब्दरूप चश्मा लगा लेने मात्र से अज्ञानी को ज्ञानी जैसी द्रव्यदृष्टि (शुद्धनय–स्वरूप चक्षु) प्रकट नहीं हो जाती। इसलिये ज्ञानी की आत्मानुभूति का शब्दरूप चश्मा लगा लेने पर भी अज्ञानी को अनुभव के रूप में तो आत्मा की अशुद्ध पर्याय ही आती है। तथापि भ्रमवश अज्ञानी, ज्ञानी की आत्मानुभूति के शब्दरूप चश्मे के माध्यम से कल्पना करके भ्रमवश अपनी आत्मा को शुद्ध मानने लगता है। चूँकि अज्ञानी नियम से पर्यायदृष्टि ही होता है। इसलिये वह जो भी कल्पना करता है, पर्याय में ही करता है, क्योंकि द्रव्य को जानने की दृष्टि तो उसके पास है ही नहीं। ज्ञानी की आत्मानुभूति के चश्मे (द्रव्यदृष्टि) से तो सभी जीव त्रिकाल शुद्ध हैं; परन्तु अज्ञानी, ज्ञानी की आत्मानुभूतियुक्त दृष्टि को शब्दरूप से ग्रहण करने मात्र से ही मेरी आत्मा शुद्ध है ऐसा अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि वह परायी दृष्टि है, अपनी द्रव्यदृष्टि नहीं है।

चूँकि भ्रमवश अज्ञानी ने ज्ञानी की आत्मानुभूति के शब्दरूप चश्मे के आधार पर मेरी आत्मा शुद्ध है यह कल्पना की है, इसलिये उसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि यदि मैं यही शब्दरूप चश्मा दिन–रात लगाये रखूँगा तो मुझे आत्मा की शुद्धता का अनुभव हो जायेगा।

दूसरे, वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर परसन्मुखता का अभाव करने के लिये अत्यधिक आन्तरिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। उसकी अपेक्षा भ्रमवश ज्ञानी की आत्मानुभूति का शब्दरूप चश्मा दिन–रात लगाये रखना यानी सदैव बौद्धिकरूप से नयाभासरूपी शुद्धनय (निश्चयाभास) की मुख्यता बनाये रखना अज्ञानी को आसान लगता है, क्योंकि ऐसा करते हुए उसे अपनी पर में सुखबुद्धि हटानी नहीं पड़ती और स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानने में अपना अहंकार भी पुष्ट होता है। इसलिये अज्ञानी यही करता है। फलस्वरूप वह निश्चयाभासी बना रहता है।

यही वर्तमान काल की भयंकर विडम्बना है। इस कारण से हम इस टीका में आत्मा का अनुभव करने की विधि आगम, युक्ति और अनुभव से समझा रहे हैं। यह शास्त्र अध्यात्मशास्त्र होने से उसे अध्यात्मचक्षु द्वारा ही समीचीनतया जाना जा सकता है।

प्रस्तुत अनुवाद तथा टीका में हमने समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति दोनों मानक टीकाओं में उपस्थित सभी गाथाओं को सम्मिलित किया है। आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकावाले मूल पाठ के साथ–साथ आचार्य जयसेनकृत टीकावाले मूल पाठ की गाथाओं पर भी प्रकाश डाला है। गाथा संख्या में भ्रम न हो इसलिये हमने दोनों महान टीकाकारों की गाथा संख्या

उल्लेखित की है। यह अध्यात्मशास्त्र होने से उसमें शुद्धनिश्चयनय की बात ही ज़्यादातर बतायी गयी है। इसलिये टीका में जहाँ कहीं भी हमने निश्चय या निश्चयनय की बात की है, उसे शुद्धनिश्चयनय समझना चाहिये। उस निश्चय को आत्मानुभूति जनित निश्चयनय समझना चाहिये, क्योंकि निश्चय बिना आत्मानुभूति के प्रकट ही नहीं होता। आत्मानुभूति के बिना जो बौद्धिक या शाब्दिक निश्चयनय है, वह नयाभास या निश्चयाभासरूप ही होता है, क्योंकि बिना आत्मानुभूति के ज्ञान प्रमाण नहीं होता। नय प्रमाण का अंश होने के कारण, बिना ज्ञान के प्रमाण हुए वह सम्यक् नहीं होता, अपितु नयाभास या दुर्नयरूप ही होता है। जहाँ कहीं भी हमने आत्मानुभूति की बात की है, वहाँ उसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही समझना चाहिये। निश्चय की बात को स्पष्ट करने के लिये हमने प्रायः 'अभिप्राय की अपेक्षा से' ऐसा लिखकर अभिप्राय स्पष्ट किया है। यदि कहीं यह स्पष्टीकरण न भी हो, तो भी पाठक को वही अपेक्षा लगाकर समझना चाहिये।

यहाँ हम संक्षेप में आत्मानुभूति की आगम–युक्तिसंगत विधि बताते हैं। उसका विस्तृत वर्णन हमारी पुस्तक 'सम्यग्दर्शन की विधि' तथा 'युनिवर्सल लॉ (धर्मध्यान सहित)' को पढ़कर जानना चाहिये। अनादि से हमने अज्ञानवश मोक्षप्राप्ति हेतु या तो मात्र जानकारी रूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने का अथक प्रयास किया है या फिर हमने सिर्फ़ बाह्यचारित्रग्रहण को ही मोक्षमार्ग माना है। जबकि मोक्षमार्ग के द्वाररूप सम्यग्दर्शन को अटकानेवाले दर्शनमोहनीय कर्म पर तो हमने काम ही नहीं किया या फिर बहुत कम काम किया है।

इसलिये सभी आत्मार्थी यानी मोक्षार्थी साधकों को सबसे पहले अपने दर्शनमोह पर काम करना चाहिये। उसके लिये सर्वप्रथम स्वयं की दिशा यानी स्वयं की रुचि को जाँचना चाहिये, क्योंकि अक़्सर हम कहते तो हैं कि हमें मोक्ष चाहिये परन्तु जब हम भीतर झाँकते हैं तो पता चलता है कि वास्तव में हमें तो रागादिमय संसार ही चाहिये, क्योंकि अनादि के सुखाभास के अनुभव के कारण हमें तो संसार में ही सुख भासता है। इसलिये सर्वप्रथम आत्मार्थी साधक को संसार का सच्चा स्वरूप समझकर स्वयं को पर से विमुख करना चाहिये। यह समझना अति आवश्यक है कि संसार अनन्त दुःखमय है, दुःखफलक (दुःखरूपी फल देनेवाला) है और दुःखानुबँधी (दुःखरूपी अनुबन्ध करानेवाला) है। इसलिये सर्वप्रथम ज्ञानगर्भित वैराग्य पाना आवश्यक है। उसके लिये अच्छी तरह से बारह भावनाओं के चिन्तन से संसार के स्वरूप का निर्णय करना है। उसी चिन्तन के द्वारा पर से सुखबुद्धि भी हटानी है। क्योंकि जब तक पर में सुखबुद्धि विद्यमान होगी, तब तक नियम से परसन्मुखता ही रहेगी। अनादि से हमने मृगमरीचिका की भाँति इन्द्रियसुख के पीछे भागकर अनन्त दुःख पाये हैं। सम्यग्दर्शनप्राप्ति हेतु वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि

आत्मसन्मुखता नहीं है तो आत्मप्राप्ति कठिन है। इसी कारण से अनादि से हमारी कई दीक्षाएँ निष्फल हुई हैं। क्योंकि ऊपरी तौर पर तो हम कषाय को मन्द करने में सफल हुए हैं परन्तु भीतर से अनन्तानुबँधी कषायों को मिटा नहीं पाये हैं। उसके लिये अपने अभिप्राय में बाह्य वस्तु, व्यक्ति, मान–प्रतिष्ठा, विभावपरिणति में सुखबुद्धि को छोड़कर, सभी जीवों के प्रति मैत्री आदि चार भावनाएँ और धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) को आत्मसात् करना आवश्यक है।

आत्मप्राप्ति की साधना आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा क्रमांक १८७–१८८–१८९ में परोक्ष रूप से बतायी है। उन्होंने बताया है कि एकमात्र शुद्धोपयोग के लक्ष्य से पर में सुखेच्छा रहित और अभिप्राय में सर्वसंग के राग से रहित होने की साधना करनी चाहिये। उसके लिये अज्ञानी जीव को सर्व प्रथम देव–शास्त्र–गुरु पर श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा का मतलब भगवान के कहे वचन पर विश्वास। जब तक भगवान के वचनों पर श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती, तब तक जीव को पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, निगोद, कर्म, मोक्ष, नौ तत्त्व, मोक्षमार्ग की परम आवश्यकता–इन बातों पर भी श्रद्धा नहीं होती। इसी लिये हमें कई अज्ञानी जीव बाह्यरूप से कथनमात्र भगवान पर श्रद्धा रखते हुए भी भगवान के वचन (कर्मवाद के सिद्धान्त) पर श्रद्धा नहीं रखकर अपना पूरा जीवन धनार्जन में ही खपाते हुए दिखते हैं, क्योंकि उन्हें यह विश्वास ही नहीं होता कि पुण्य से धन की प्राप्ति होती है। इसलिये हमें अपना कम से कम समय धनार्जन के पीछे लगाना चाहिये और ज़्यादा से ज़्यादा समय आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से उपरोक्त धर्माराधना में लगाना चाहिये। बिना भगवान पर श्रद्धा के एवं बिना जिनवचन पर श्रद्धा के तात्त्विक आन्तरिक वैराग्य, पर में सुखेच्छा का नाश, एकमात्र मोक्ष पाने का ही लक्ष्य, सभी गतियाँ दुःखमय लगना, संसार असार लगना, भवचक्र में भ्रमण जीव के लिये रोगरूप लगना इत्यादि योग्यताएँ भी नहीं उत्पन्न होतीं।

अनादि से अगर मुझे किसी ने सबसे ज़्यादा सज़ा दिलायी है तो वह और कोई नहीं, मैं ही हूँ। क्योंकि अनादि से मुझे जो भी दुःख मिले हैं उनका एकमात्र कारण मैं ही हूँ। कर्मों के उदयकाल में अपनी प्रतिक्रिया कैसी हो उसके लिये हम स्वतन्त्र हैं। मगर हमने अनादि से ही अपनी उस स्वतन्त्रता का सम्यक् उपयोग नहीं किया। इसलिये हम अनादि से अनन्त दुःख झेलते आ रहे हैं।

हम कर्मों के उदयकाल में प्रतिक्रिया की स्वतन्त्रता का सम्यक् उपयोग निम्नलिखित तरीक़े से कर सकते हैं। हमें सदैव अपनी प्रतिक्रिया मैत्री आदि चार भावनाओं से, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) से तथा भगवान की आज्ञा का विचार करके धर्म के अनुकूल ही देनी चाहिये, जिससे हम अपने पुराने कर्मों के विषचक्र से छूट सकें।

हमें प्रत्येक कर्म के उदय का उपयोग आत्महित के लिये करना चाहिये। जैसे क्रिकेटर हर गेन्द का उपयोग रन बनाने के लिये करता है, वैसे ही हमें प्रत्येक कर्मोदय का उपयोग अपनी आत्मा के हित में करना चाहिये। उसके लिये हमें सदैव अपनी प्रतिक्रिया मैत्री आदि चार भावनाओं से, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) से तथा भगवान की आज्ञा का विचार करके धर्म के अनुरूप देनी चाहिये।

धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इस प्रकार है –

एक बात तो निश्चित ही है कि हमें जो भी दुःख प्राप्त होता है, उसमें दोष हमारे ही पूर्व के पापों का ही होता है, किसी और का नहीं। जो अन्य लोग हमें दुःख पहुँचाते प्रतीत होते हैं, वे तो सिर्फ़ निमित्तमात्र ही हैं। उसमें उनका कोई दोष नहीं है; बल्कि वे तो हमें हमारे पूर्वकृत पापों को छुड़ानेवाले ही हैं।

लेकिन ऐसी समझ न होने से जब हमें उन निमित्तों के प्रति ज़रा सा भी क्रोध या ख़राबभाव आये, तब हम पुनः पाप बाँध लेते हैं—जो कि भविष्य के दुःखों का निमित्तकारण बनने के लिये सक्षम है।

इसी प्रकार अनादिकाल से हम दुःख भोगते हुए, नए दुःखों का सृजन करते आ रहे हैं, और अभी भी वही कर रहे हैं।

ऐसे अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने का मात्र एक ही उपाय है कि हम दुःख देनेवाले निमित्त को उपकारी समझें, क्योंकि वही हमारे पापों से छुड़ाने में निमित्त बना है।

मैं उस निमित्त के दोष–गुनाह का चिन्तवन न करूँ, क्योंकि उसका ज़रा–सा भी दोष नहीं है। बल्कि अपने पूर्व के दुष्कृत्य ही वर्तमान दुःख के कारण हैं। इसलिये यह विचार करें कि:

ओह! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है!! मिच्छामि दुक्कडं! उस दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह प्रतिक्रमण है) (Sorry! Sorry!)

अब मैं निर्णय करता हूँ कि ऐसे किसी भी दुष्कृत्य का आचरण फिर से कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (यह प्रत्याख्यान है) (Never again!)

और फिर अपने दुःख के कारण के रूप में दूसरों को दोषी देखने की बजाय, अपने ही पूर्वकृत भावों को, यानी पूर्व के अपने ही पापकर्मों को, अर्थात् स्वयं को दोष दें और अन्य को उन पापों से छुड़ानेवाला मानकर, उपकारी समझकर मन में धन्यवाद दें! स्वागतम् कहें! - (Thank You! Welcome!) और नये पापों से बचें (यह समताभाव—संवर—सामायिक है)।

सबसे पहले धन्यवाद! Thank You! का उपयोग क्रोधाग्नि शमन के लिये करना है, Sorry! Sorry! और Never again! का उपयोग बाद में करना है। यह दुःखो का स्वागत! Welcome! करने का तरीक़ा हैं। जिससे हम नये कर्मों के बन्ध से बच सकते हैं और विपरीत संयोगों में भी प्रसन्न रह सकते हैं।

पूर्वोक्त अज्ञानवश फैली एकान्त मान्यताओं के आधार पर चलता वर्तमान समाज वास्तव में जिनमतबाह्य मार्गों पर चल पड़ा है। निश्चयाभासी उपदेशकों के अनर्गल प्रलाप से उपजे कोलाहल का उपशमन करने हेतु अत्यन्त करुणाभाव से सही अर्थघटन समझाने के लिये स्वपरात्मकल्याणार्थ मैं आगम, युक्ति और अपनी आत्मानुभूति के आधार पर समयसार ग्रन्थ की यह अभिनव टीका लिख रहा हूँ।

इस टीका की रचना का शुभारम्भ हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई में श्री शैलेश पूनमचन्द शाह, मनीष मोदी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती निरुपमा की साक्षी और सहभागिता में हुआ। मैं प्रत्येक गाथा का भावानुवाद लिखवाकर फिर उसपर स्वतःस्फूर्त टीका लिखवाता था, जिसे मनीष जी और निरुपमा जी सावधानी पूर्वक लिपिबद्ध करते। इस दौरान शैलेशभाई मनोयोगपूर्वक श्रवण करते और प्रसंगानुसार किसी विषय पर अधिक स्पष्टता करने को कहते अथवा अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते। तत्पश्चात् निरुपमा जी के सहयोग से मनीष जी सम्पूर्ण लेखन को संगणक (computer) में व्यवस्थित रूप से लिपिबद्ध करते, जिसमें मैं आवश्यकतानुसार संशोधन करता। मनीष जी ने इस टीका की भाषा को सहज, प्रवाही और सुपाच्य बनाने में बड़ी रुचि से मेहनत की। हमारे छोटे भाई एडवोकेट रश्मिन शेठ ने भी इस टीका को सम्पूर्ण रूप से पढ़कर कई अमूल्य सुझाव दिये हैं। डॉ. प्रमोद जैन ने भी बड़ी रुचि से गाथा शुद्धि के लिये मेहनत की है। इस प्रकार, इस कार्य में इन सभी की सक्रिय सहभागिता और अमूल्य सहयोग रहा है। अन्यों का भी इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ा सहयोग रहा है। मैं हृदय से इन सभी का बहुत ही आभारी हूँ।

यदि हमारे द्वारा भगवान की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

भवदीय,

– सी.ए. जयेश मोहनलाल शेठ

मुम्बई, ३० मार्च २०२६

जीव अधिकार

समयसार ग्रन्थ का समीचीन अर्थघटन समझने के लिये पूर्वोक्त भूमिका पढ़ना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ।।1।।

भावानुवाद : *मैं ध्रुव, अचल, अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धों को वन्दन करके श्रुतकेवलियों द्वारा प्रणीत समयपाहुड को कहूँगा।*

टीका : सर्वप्रथम सिद्धों को वन्दन करने से मंगल होता है और मोक्षमार्ग में विघ्नभूत मिथ्याभिमान का नाश होता है। आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ सिद्धों का स्वरूप बताकर हमारा त्रिकाल स्वरूप समझा रहे हैं। वे हमें इसी त्रिकाल स्वरूप को प्रकट करने की प्रेरणा भी देते हैं। वे यह भी कह रहे हैं कि श्रुतकेवलियों से प्राप्त इसी आत्मस्वरूप को मैं इस समयपाहुड (समयसार) ग्रन्थ में कहूँगा। वे आगे कहते हैं कि सिद्ध भगवन्तों ने मनुष्यादि चार गतियों से विलक्षण पञ्चमगति प्राप्त की है। पञ्चमगति अर्थात् सिद्धगति ध्रुव, अचल और अनुपम है। यहाँ तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान का एकत्व ध्रुव भाव में है और उनकी आत्मानुभूति भी ध्रुव है। सिद्धों के आत्मप्रदेश अयोगी होने से अचल हैं। सिद्ध भगवान के सुख की कोई उपमा नहीं दी जा सकती। इसलिये उन्हें अनुपम कहा गया है। सिद्ध भगवान का आनन्द ध्रुव, अचल और अनुपम होता है।

इस जगत का सर्वोत्कृष्ट सुख भी सिद्ध भगवान के आनन्द के समक्ष नगण्य है, क्योंकि सिद्ध भगवान का आनन्द संसार के सर्वोत्कृष्ट सुख से अनन्त गुना अधिक है। उनके सुख की जाति भी अलग है, क्योंकि संसार का सुख इन्द्रियजनित है और सिद्धों का सुख अतीन्द्रिय है। वह अपना लक्ष्य भी होना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ।।2।।

भावानुवाद : *जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्मसमूह में स्थित है उसे परसमय जानो।*

टीका : स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि/ज्ञानी/चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मानुभूति के समय शुद्धात्मा में स्थित होता है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वात्मानुभूतिरूप चारित्र में स्थित होता है। जब तक सम्यग्दर्शन टिकता है तब तक ये तीनों लब्धिरूप में विद्यमान रहते हैं। अपूर्व आनन्द की आंशिक अनुभूति होने से वह जीव बार–बार इस तरफ़ सहज ही आकर्षित होता है। आत्मानुभूति की आवृत्ति बढ़ती जाती है और बढ़ते–बढ़ते इतनी बढ़ जाती है कि गुणस्थान आरोहण करते–करते उस जीव की क्षपकश्रेणी लग जाती है और वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है। वह आयुक्षय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और सादि अनन्तकाल के लिये अव्याबाध सुख भोगता है। यह है स्वसमय में स्थित होने का अपूर्व फल!

परसमय यानी मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी। परसमय का एकत्व (मैंपन) नियम से पर्याय में अर्थात् भावकर्म और शरीर रूप नोकर्म में होता है। पर्याय कर्मोदय के अनुरूप होती है। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि अज्ञानी पुद्गल–कर्मसमूह में स्थित है।

विडम्बना यह है कि कर्मसमूह में स्थित होने की वजह से अज्ञानी लगातार नये कर्म बाँधता है और कर्मकृत विषचक्र से बाहर निकल नहीं पाता। यही हमारी अनादि की दुःखभरी कहानी है, जिसका अन्त करना बहुत आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द इसी के लिये प्रेरणा दे रहे हैं।

कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण स्वसमय का अर्थ सातवें गुणस्थान में स्थित आत्मा करते हैं जो कि असमीचीन है, क्योंकि इस शास्त्र को अध्यात्मचक्षु से पढ़ना चाहिये अर्थात् द्रव्यदृष्टि से समझना चाहिये, न कि पर्यायदृष्टि से। अध्यात्मचक्षु आत्मानुभूति से प्राप्त होते हैं। यह ग़लतफ़हमी गाथा में चारित्र शब्द होने से पनपी है। वस्तुतः यहाँ चारित्र से आत्मानुभूति अभिप्रेत है, क्योंकि जब सम्यग्दृष्टि जीव आत्मानुभूति में होता है तब उतने काल के लिये वह स्वात्मानुभूतिरूप चारित्र में स्थित होता है और बाद में जब तक सम्यग्दर्शन टिकता है तब तक

लब्धिरूप से यानी अभिप्राय में चारित्र होता है। आत्मा में स्थित होना निश्चय चारित्र कहलाता है। इसलिये चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीवों को स्वसमय कहा गया है।

कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि जिन्होंने संक्लेशस्थान तो छोड़ा, विशुद्धिस्थान के विकल्प को भी त्याग दिया हो और विशुद्धिस्थान की प्राप्ति का भी विकल्प न हो वे ही स्वसमयी हैं। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द द्रव्यदृष्टि से सामान्यभाव जो ज्ञान–दर्शन–चारित्र आदि सभी गुणों से युक्त है उसके अनुभव की बात करते हैं, न कि पर्यायदृष्टि से विशेषभाव के अनुभव की। इसलिये ग़लत अर्थघटन के कारण ऐसा मानना कि जिन्होंने संक्लेशस्थान तो छोड़ा, विशुद्धिस्थान के विकल्प को भी त्याग दिया हो और विशुद्धिस्थान की प्राप्ति का भी विकल्प न हो वे ही स्वसमयी हैं उचित नहीं है, क्योंकि ये सभी विशेषभाव हैं और जिसके अनुभव की बात हो रही है वह तो सामान्यभाव है। अत: हमें ऐसे विशेषभावों का अभाव होने की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है। इन सभी विशेषभावों का सामान्यभाव में त्रैकालिक अभाव होता ही है। ये संक्लेशस्थानादि सभी विशेषभाव विद्यमान हों तब भी उस जीव को आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता होने से आत्मानुभूति हो सकती है।

आचार्यश्री समयसार ग्रन्थ की गाथा २०१–२०२ में बता रहे हैं कि वास्तव में जिस जीव के परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो फिर भी आत्मा को (अनुभवपूर्वक) नहीं जानता। और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? शुद्धात्मा में परमाणुमात्र भी राग नहीं होता। इससे समझ में आता है कि आचार्यश्री द्रव्यदृष्टि से सामान्यभाव की बात कर रहे हैं जो इस ग्रन्थ का प्राण है। आत्मा को अनुभवपूर्वक जाननेवाले का मैंपन शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है और शुद्धात्मा में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान नहीं हैं, विशेषभाव नहीं है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ही ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान नहीं हैं। अतः इन गाथाओं से यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में आचार्यश्री मात्र शुद्धात्मा की ही बात कर रहे है। इसलिये उसके अनुभव से ही आत्मा स्वसमय कहलाती है।

वह आत्मानुभूति उपयोग और लब्धि के रूप में दो प्रकार की होती है। जब निर्विकल्प आत्मानुभूति होती है तब तो उपयोग निर्विकल्प होता है परन्तु बाद में जब तक सम्यग्दर्शन टिकता

है तब तक लब्धिरूप से आत्मानुभूति अवश्य होती है। इस प्रकार स्वसमय को भी आत्मानुभूति के बाद के काल में अवश्य ही विशुद्धिप्राप्ति के विकल्प हो सकते हैं–यह समझना अत्यावश्यक है। फलत: यह तय होता है कि यहाँ द्रव्यदृष्टि से सामान्यभाव की बात की है, पर्यायदृष्टि से विशेषभाव की नहीं। अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाला चतुर्थ आदि गुणस्थान स्थित सम्यग्दृष्टि ही स्वसमय कहा जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बन्धकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ।।३।।

भावानुवाद : *(शुद्धात्मा से) एकत्व प्राप्त आत्मा लोक में सर्वत्र सुन्दर है। उस एकत्व में बन्धन की कथा विसंवादिनी होती है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। शुद्धनिश्चयनय से प्राप्त शुद्धात्मा में जिसका मैंपन है वह ज्ञानी है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, इसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। वह ज्ञानी लोक में कहीं भी हो, किसी भी गति में हो उसका मैंपन शुद्धात्मा में होने से वह सदैव अभिप्राय की अपेक्षा से आंशिक सिद्धत्व को प्राप्त होता है। अभिप्राय की अपेक्षा से सदैव अतीन्द्रिय आनन्दयुक्त होने के कारण उसे लोक में सर्वत्र सुन्दर कहा गया है। मैंपन को एकत्व भी कह सकते हैं, ये दोनों ही समानार्थी शब्द हैं।

अज्ञानी का एकत्व सदैव पर्याय में होता है और उसकी पर्याय निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण बँधे हुए कर्मों के उदय के अधीन होती है। कर्म की विचित्रता की वजह से उसके भाव, गति आदि में भी विचित्रता होती है। अज्ञानी अधिकांशत: निगोद में ही रहता है। इसलिये अत्यन्त दु:खी रहता है। ज्ञानी के विपरीत अज्ञानी का वर्तमान अत्यन्त कष्टमय होता है। यह है अज्ञानी की विसंवादिता।

अज्ञानी को यह विसंवाद छोड़कर अपनी अनादि की दु:खभरी कहानी का अन्त लाना चाहिये। यह अन्त वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके ही ला सकता है। इसी की यहाँ प्रेरणा दी गयी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।4।।

भावानुवाद : *कामभोगबन्ध की कथाएँ सभी ने सुनी हैं, उनसे परिचित भी हैं और उनका अनुभव भी है परन्तु उनसे विभक्त शुद्धात्मा से एकत्व की प्राप्ति (आत्मानुभूति) सुलभ नहीं है।*

टीका : यही अपनी अनादि की दुःखभरी कहानी है। अनादि से सभी संसारीजन इसी में सुख मानकर फँसे हुए हैं, क्योंकि वे सुख को बाहर ढूँढ रहे हैं।

पाँच इन्द्रियों के विषयों में से शब्द और रूप को काम कहा जाता है तथा स्पर्श, रस और गन्ध को भोग कहा जाता है। पाँचों मिलकर कामभोग कहलाते हैं। इनके विषय में अधिकांश लोगों को रस और रुचि होने से वे सब आपस में इन्हीं की चर्चा करते हैं और सुझाव भी देते हैं।

श्रुत–परिचित–अनुभूत कामभोगों में सुखबुद्धि होने से और उन्हीं के पीछे लगे रहने से हमने अनादि काल से अनन्त दुःख भोगे हैं। अगर हम भ्रमवश यह मानते हैं कि सुख बाहर से आता है तो उस मान्यता से पापों का बन्ध होता है, जिससे हमारी दुर्गति होती है। ऐसे विषचक्र में फँसकर अन्ततोगत्वा हम निगोद में जाते हैं। जहाँ हम अनन्तकाल तक अनन्त दुःख भोगते हुए रह सकते हैं।

कई बार हमने धर्म के नाम पर भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्धन–उदय–उदीरणा आदि की ही चर्चा की होगी परन्तु शुद्धात्मा से एकत्व और विभाव से विभक्त आत्मा की अनुभूति का लक्ष्य या प्राप्ति कभी नहीं की, अन्यथा हम अब तक तो सिद्धालय में होते। विभाव से विभक्त करना यानी भेदज्ञान करना कहा जाता है। पर के साथ आत्मा का कर्ता–कर्म सम्बन्ध कभी भी नहीं होता। इसलिये भी पर से विभक्त बताया गया है। पर में मैंपन, मेरापन और कर्ताभोक्ताभाव से विरक्त होने को भी पर से विभक्त बताया गया है। अनादि से हमने कभी भेदज्ञान के बारे में सुना भी होगा तो भी पर से सुखबुद्धि न छूटने के कारण ही हम आज तक संसार में भटक रहे हैं। वर्तमान में भी कई लोग भेदज्ञान के नाम से ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने की प्ररूपणा करते हैं, जिससे शायद इस जन्म में तो धारणा (conditioning) के कारण अच्छा भी लग सकता है, ख़ुशफ़हमी बनी रहती है यानी भ्रम से

कई जीव स्वयं को सम्यग्दृष्टि भी मानने लगते हैं परन्तु उनका एक भी भव नहीं कटता। उल्टा भ्रम के कारण संसार बढ़ता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

ऐसे ही हमने दुःख से भरा हुआ अनन्त पुद्गल परावर्तन काल बिताया है। अब आगे क्या करना है? यह सोचकर हमें अपने पर दया करके स्वयं की खोज में लगना चाहिये और अपनी शुद्धात्मा से एकत्व की प्राप्ति करनी चाहिये। उसके लिये सर्वप्रथम आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यादि योग्यताएँ लानी चाहिये, पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पानी चाहिये। वर्तमान में यह बात लुप्त–सी हो गयी है और लोग भ्रमवश 'मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अकर्ता–अभोक्ता हूँ, मैं ज्ञाताद्रष्टा हूँ' आदि मानकर निश्चयाभासी बने फिरते हैं, वे इस ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं। वे सोचते हैं कि बौद्धिकरूप से ऐसा मानने से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायेगा। यह उनकी सबसे बड़ी भूल है जिसकी सज़ा हो सकती है अनन्तकाल तक दुःखमय निगोद निवास।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ५

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।।5।।

भावानुवाद : *पर से भिन्न शुद्धात्मा से एकत्ववाली निजवैभव (आत्मानुभूति) प्राप्त आत्मा को प्रस्तुत करता हूँ। उसको अनुभव करके प्रमाण मानना और यदि मैं चूक जाऊँ (आपको अनुभव न हो सके) तो आप छल (भ्रम) मत ग्रहण कर लेना।*

टीका : आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि परभाव से भिन्न और स्वभाव से एकत्ववाली मेरी जो निज आत्मानुभूति है, उस निज आत्मानुभूतिस्वरूप वैभव को इस शास्त्र में बतानेवाला हूँ।

यहाँ आचार्यश्री स्पष्ट बताते हैं कि इस शास्त्र में वे अपनी आत्मानुभूति का ही वर्णन करनेवाले हैं। आप इस शास्त्र को पढ़कर, उसमें बतायी गयी आत्मानुभूति से अपनी आत्मानुभूति की तुलना करके प्रमाणित कीजिये। अगर आप आत्मानुभूति नहीं कर पाये तो यहाँ बतायी गयी बातों को बौद्धिकरूप से सिर्फ़ शब्दों से ग्रहण करके भ्रमवश स्वयं को वैसा मानकर छल (भ्रम) ग्रहण मत कीजियेगा, ख़ुशफ़हमी में मत रहियेगा। अनादि काल से हमने यही किया है—ज्ञानी के शब्दों को बिना अनुभव के ग्रहण करके स्वयं को छला है। वर्तमान में भी कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण बिना आत्मानुभूति के ही बौद्धिकरूप से स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानते हैं और दूसरों को भी बिना आत्मानुभूति के भी ख़ुद को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे अपना और दूसरों का अनन्तकाल बिगाड़ते हैं।

अनादि से अगर मुझे किसीने सबसे ज़्यादा छला है तो वह और कोई नहीं, मैं ही हूँ। क्योंकि अनादि से मुझे जो भी दुःख मिले हैं उनका एकमात्र कारण मैं ही हूँ। अनादि से हमने शास्त्रों का ग़लत अर्थघटन ग्रहण करके ख़ुद को छला है। इसलिये हम अनादि से अनन्त दुःख झेलते आ रहे हैं। अभी अपने पर दया करके शास्त्र का सही अर्थघटन ग्रहण करना चाहिये और वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करनी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ।।6।।

भावानुवाद : *जो न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है ऐसा ज्ञायक जानने में आता है तो उसे शुद्ध कहते हैं, क्योंकि जो जाननेवाला है वह वही (ज्ञायक) है।*

टीका : प्रमत्त और अप्रमत्त विशेषभाव हैं। प्रमत्तभाव पहले से छठवें गुणस्थान तक होते हैं और अप्रमत्त सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। दोनों ही विशेषभाव हैं और चूँकि आत्मानुभूति सामान्यभाव की होती है। इसलिये आत्मानुभूति में ये दोनों नहीं होते। आत्मानुभूति शुद्धनयरूप शुद्धात्मा की होती है और उस वख़्त सभी विशेषभाव गौण हो जाते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि आत्मानुभूति शुद्धात्मस्वरूप है, आत्मानुभूति अभेद शुद्धात्मा की ही होती है। आत्मानुभूति न प्रमत्त भाव की होती है और न अप्रमत्त भाव की, क्योंकि दोनों विशेषभाव हैं। आत्मानुभूति तो ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की होती है जिसमें कोई भी विशेषभाव नहीं होते और संसार दशा में जो भी अशुद्धि है वह सब विशेषभाव में ही होती है। इस कारण से ज्ञायक को यानी ज्ञानसामान्यभाव को शुद्ध कहा गया है।

ज्ञायक यानी जाननेवाला। ज्ञायक को पाने की विधि – यह चिन्तन कीजिये कि जो जाननेवाला है वही मैं हूँ। यदि वैराग्यादि अन्य योग्यताएँ विद्यमान होंगी और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता हो तो इस विधि से ज्ञायक (शुद्धात्मा) की अनुभूति हो सकती है। यदि आत्मानुभूति न हो, तो आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करने का और उससे पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये।

इससे हमें समझ में आता है कि निश्चय का जन्म आत्मानुभूति से ही होता है। निश्चयनय

निषेधयुक्त है। इसलिये यहाँ प्रमत्त–अप्रमत्त इन दोनों व्यवहार भावों का निषेध किया गया है और शुद्धनयस्वरूप ज्ञायक की अनुभूति बतायी गयी है। गाथा ५ में यही आत्मानुभूति करके प्रमाण करने को कहा गया है।

इस गाथा से समझ में आता है कि इस शास्त्र में ज़्यादातर बातें उस अभेद शुद्धात्मा की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। उस शुद्धात्मा में कोई भी पर्यायरूप विशेषभाव नहीं होते। इसलिये इस शास्त्र को उसी अपेक्षा से समझना आवश्यक है। जैसे दूसरी गाथा में कहा है कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय जानो'। उसे अभेद शुद्धात्मा ही समझना है, न कि पर्याय की बात समझकर बाह्यचारित्र समझना है, क्योंकि वे तो विशेषभाव हैं और आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा तो ज्ञानसामान्यभाव है।

कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण बिना अनुभव के निश्चय को बौद्धिकरूप से मात्र शब्दों से ग्रहण करके निश्चयाभासी बन जाते हैं और स्वयं को छलते हैं। और कई लोग चतुर्थ गुणस्थान में आत्मानुभूति को न मानकर व्यवहाराभासी बनकर स्वयं को छलते हैं। यही वर्तमान काल की भयंकर विडम्बना है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।7।।

भावानुवाद : *व्यवहार से ज्ञानी को चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है। लेकिन शुद्ध ज्ञायक में न ज्ञान है, न दर्शन है और न ही चारित्र है।*

टीका : आत्मानुभूति शुद्ध ज्ञायक की होती है। ज्ञायकभाव सामान्यभाव होता है। इसलिये आत्मानुभूति निर्विकल्प होती है। आत्मानुभूति अभेद आत्मा की होती है। अभेद सो निश्चय, भेद सो व्यवहार। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भेद होने से इन्हें व्यवहार कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द अज्ञानी को समझाने के लिये अभेद आत्मा में भेद उपजाकर बताते हैं। कई लोग भेद–प्रभेद में डूबे रहना पसन्द करते हैं और ग़लत अर्थघटन के कारण मानते हैं कि इसी से सम्यग्दर्शन (आत्मा का अनुभव) हो जायेगा। वस्तुतः आत्मानुभूति अभेद की होती है, भेद की नहीं। इसलिये भेद को व्यवहार और अभेद को निश्चय कहा है। यही बात इस गाथा में बतायी गयी है।

इस शास्त्र में ज़्यादातर बातें उस अभेद शुद्धात्मा की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। इसलिये इस शास्त्र को उसी अपेक्षा से समझना आवश्यक है। जैसे दूसरी गाथा में कहा है कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय जानो'। उसे अभेद शुद्धात्मा ही समझना है, न कि पर्याय की बात समझकर बाह्यचारित्र समझना है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।8।।

भावानुवाद : *जैसे अनार्य को अनार्य भाषा के बिना कुछ भी समझाना अशक्य है, वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।*

टीका : परमार्थ यानी शुद्धात्मा की अनुभूति। परमार्थ यानी शुद्धनय। शुद्धनय मूक होता है। उसे भाषा में अभिव्यक्त करना व्यवहार कहा जाता है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि बिना व्यवहारनय के परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है। व्यवहारनय की उपयोगिता जीव–अजीवादि को समझने के लिये है और अहिंसादि सदाचार के आचरण हेतु भी है।

ग़लत अर्थघटन के कारण कई लोग निश्चयनय को बौद्धिकरूप से शब्दों में ग्रहण करके अपनी जानकारी बढ़ाते हैं और भ्रमवश मानते हैं कि इससे आत्मप्राप्ति आसान हो जायेगी। उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द समझाते हैं कि शुद्धनिश्चयनय मूक होता है। इस ग्रन्थ में उसे निम्नलिखित कारणों से व्यवहार रूप में अभिव्यक्त किया है –

१. ताकि अनार्य (अज्ञानी) पाठक ज्ञानी की आत्मानुभूति को समझ सके।

२. ताकि ज्ञानी अपनी आत्मानुभूति को प्रमाणित कर सके।

यहाँ आचार्यश्री बताते हैं कि द्रव्य–गुण–पर्याय, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य, ४७ शक्तियाँ आदि भेद सिर्फ़ अज्ञानी को समझाने के लिये हैं, वे भेद वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वस्तु तो अभेद है। आत्मानुभूति में कोई भेद नहीं होते, क्योंकि आत्मानुभूति तो अभेद आत्मा की ही होती है। इसलिये भेद में रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं, वे सिर्फ़ अज्ञानी को समझाने के लिये ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९, १० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९, १०

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ।।9।।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ।।10।।

भावानुवाद : *जो श्रुतज्ञान से अपनी आत्मा को मात्र शुद्ध ही अनुभव करता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषि (केवलज्ञानी) श्रुतकेवली कहते हैं। जो समस्त श्रुतज्ञान को जानते हैं। उन्हें जिनेश्वर (व्यवहार से) श्रुतकेवली इसलिये कहते हैं, क्योंकि समस्त ज्ञान आत्मा ही है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। वह जीव बार–बार आत्मानुभूति करते हुए गुणश्रेणीवाली निर्जरा करता है और गुणस्थान आरोहण करते हुए श्रावक या मुनि भी बनता है।

कर्मों की अपेक्षा जब अनन्तानुबँधी चतुष्क और मिथ्यात्वमोहनीय का उपशम या क्षयोपशम या क्षय होता है तब श्रद्धान सम्यक् होता है और साथ में सम्यग्ज्ञानरूप आत्मानुभूति भी होती है। वह आत्मानुभूति मति–श्रुत–ज्ञानरूप होती है यानी शुद्धात्मा की अनुभूति श्रुतज्ञान का चरमबिन्दु है। इसलिये केवली भगवान ज्ञानी को श्रुतकेवली कहते हैं। क्योंकि जिसने एक आत्मा को जान लिया उसने सभी आगमों के सार को जान लिया।

आत्मानुभूति निश्चय मोक्षमार्ग में प्रवेश की द्योतक होने से आत्मानुभूतिधारक को श्रुतकेवली कहते हैं। क्योंकि उसने सम्पूर्ण श्रुत की साररूप शुद्धात्मा को पा लिया है। यह निश्चयनय का कथन है। व्यवहारनय से जो समस्त श्रुत को जानते हैं उन्हें जिनेश्वर ने श्रुतकेवली कहा है, क्योंकि समस्त ज्ञान आत्मस्थित होने से वह आत्मा ही है यानी श्रुतज्ञान भी ज्ञानगुण की ही पर्याय है और ज्ञानगुण के ग्रहण से पूर्ण आत्मा का ग्रहण हो जाता है। जो भी श्रुतज्ञान है उसे गौण करने से ज्ञानसामान्यभाव प्राप्त होता है। इस अपेक्षा से भी यहाँ बताया है कि समस्त ज्ञान आत्मा ही है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११, १२

णाणम्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णिवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे ।।

जो आद भावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणि समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।

भावानुवाद : *वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र की ही भावना करनी चाहिये, क्योंकि वे तीनों आत्मा ही हैं। इसलिये आत्मा की भावना करें। जो मुनि आत्मभावना में बार-बार लीन होता हुआ सम्यक् आचरण करता है, वह थोड़े ही काल में सर्वदुःख से मुक्ति प्राप्त करता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। वह जीव बार-बार आत्मानुभूति करते हुए गुणश्रेणीवाली निर्जरा करता है और गुणस्थान आरोहण करते हुए श्रावक या मुनि भी बनता है। अतः वह उसी शुद्धात्मा को बारम्बार अनुभव करते हुए गुणश्रेणीवाली निर्जरा करता है और गुणस्थानारोहण करते हुए क्षपकश्रेणी चढ़ता है और केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त करता है। आगे आयु का अन्त होने पर वह सिद्ध बनता है। यही मोक्ष की आराधना है।

शुद्धात्मानुभूति और उसमें स्थिरता यह सम्पूर्ण जिनशासन का सार है। आत्मानुभूति में समस्त गुण भेदरहित रूप से सम्मिलित होते हैं, किन्तु यहाँ उन्हें समझाने हेतु भिन्न-भिन्न रूप में बताया गया है। उसी को 'आत्मा' कहा गया है। 'आत्मा की भावना करने' का तात्पर्य बार-बार आत्मानुभूति करते रहने से है।

निश्चयनय से शुद्धात्मा की अनुभूति से ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान कहे जाते हैं तथा बार-बार आत्मानुभूतिरूपी आत्मस्थिरता को ही चारित्र कहा जाता है। इस अपेक्षा से भी यहाँ बताया गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की ही भावना करनी चाहिये।

इसी लिये सभी साधकों को सर्वप्रथम आत्मा प्राप्त करनी है और उसी का बार-बार अनुभव करते हुए, गुणस्थानारोहण करते हुए क्षपकश्रेणी चढ़कर कैवल्य प्राप्त करना है। उससे अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है यानी सभी दुःखों से मुक्ति मिलती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ११ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३

ववहारोऽभूदत्थो भुदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।11।।

भावानुवाद : *व्यवहारनय अभूतार्थ है तथा शुद्धनय भूतार्थ है। जो जीव भूतार्थनयाश्रित होता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।*

टीका : व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, क्योंकि व्यवहार भेदरूप होता है और दूसरे के साथ सम्बन्ध बताता है। शुद्धनय भूतार्थ यानी अनुभूतिस्वरूप आत्मा में विद्यमान होता है। शुद्धनय का विषय शुद्धात्मा यानी द्रव्यात्मा है। द्रव्यात्मा त्रिकाल शुद्ध होती है। वह निगोद से लेकर मोक्ष में स्थित सभी जीवों में विद्यमान है। भूतार्थ को कई जगह सत्यार्थ भी कहा गया है। सत् यानी अस्तित्व और सत्यार्थ यानी विद्यमान होना। इसलिये सत्यार्थ यानी विद्यमान तथा असत्यार्थ यानी अविद्यमान समझना। कोई लोग असत्यार्थ को झूठा बताते हैं परन्तु यहाँ वैसा अर्थ लेना ग़लत है।

जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उस सामान्यभावरूप शुद्धात्मा की अनुभूति ही शुद्धनय है। इसे ही सम्यक्त्व कहा गया है। जब कोई जीव शुद्धात्मा की अनुभूति करता है तब वह निश्चय सम्यग्दृष्टि कहलाता है। शुद्धात्मा में कोई भी विकल्प नहीं होता, क्योंकि वह सामान्यभाव है। शुद्धात्मा की अनुभूति निर्विकल्प होती है। इसलिये शुद्धनय गूंगा होता है। आत्मानुभूति में ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा यानी शुद्धनय विद्यमान है यानी भूतार्थ है और उसमें भेदरूप या उपचाररूप व्यवहार अविद्यमान है यानी अभूतार्थ है—यह बात इस गाथा में बतायी गयी है।

जब लोग शुद्धनय को बौद्धिकरूप से शब्दों में ग्रहण करते हैं तब वह व्यवहारनय कहलाता है। इसलिये जो अनात्मा में स्थित है यानी अज्ञानी है उसके पास शुद्धनय नहीं है। उसके पास सिर्फ़ नयाभास होने से वह अगर शुद्धनय को सिर्फ़ बौद्धिकरूप से शब्दों में ग्रहण करेगा तो वह नयाभासी हो जायेगा। यहाँ जो कहा गया कि भूतार्थ नय का आश्रय करनेवाला सम्यग्दृष्टि होता है वह भूतार्थ नय का आश्रय यानी भूतार्थ नय की अनुभूति होती है। यह आश्रय मात्र शाब्दिक न होकर अनुभूतियुक्त होता है। इसलिये कहा जा सकता है कि शुद्धनय का जन्म आत्मानुभूति

से ही होता है। अर्थात् जब तक जीव अज्ञानी है यानी आत्मानुभूतिरहित है तब तक उसके पास शुद्धनय नहीं है—यह समझना अति आवश्यक है।

शुद्धनय का विषय उपरोक्त द्रव्यात्मा होता है, जो हर जीव में विद्यमान है। शुद्धनय की विषयभूत द्रव्यात्मा कई नामों से पहचाना जाता है जैसे कि सामान्यभाव, परम पारिणामिक भाव, परमभाव, ज्ञायक भाव, त्रिकाल शुद्धभाव, शुद्धात्मा, समयसार, कारण परमात्मा, कारण शुद्ध परमात्मा, कारण शुद्ध पर्याय इत्यादि।

शुद्धनय स्वयं आत्मानुभूति ही है। इसलिये कहा गया है कि शुद्धनय आत्मानुभूति में विद्यमान है अर्थात् वह भूतार्थ है। इसके विपरीत, आत्मानुभूति में कोई भेदमूलक या उपचाररूप व्यवहार न होने के कारण कहा गया है कि व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् आत्मानुभूति में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता।

जो जीव शुद्धभाव का अनुभव करता है वह सम्यग्दृष्टि है। शुद्धभाव को छोड़कर जीव के अन्य सभी भाव व्यवहार कहलाते हैं, क्योंकि वे संयोगजनित होते हैं अथवा पराश्रित होते हैं। इसलिये जो व्यवहार में स्थित है उसे आत्मानुभूति नहीं होती। इस कारण से व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है यानी वह आत्मानुभूति में विद्यमान नहीं है और भूतार्थनयाश्रित यानी आत्मानुभूति युक्त जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

***नोट** : आचार्य जयसेन ने निश्चय और व्यवहार दोनों को भूतार्थ बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब ज्ञानी आत्मानुभूति से बाहर आता है, तब वह कहता है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' यह कथन व्यवहार कथन है। निश्चयनय बोलता नहीं, क्योंकि निश्चय निर्विकल्प आत्मानुभूतिरूप होता है। इसलिये निश्चय आत्मानुभूति में विद्यमान होता है–इस अपेक्षा से भूतार्थ है और व्यवहार आत्मानुभूति से बाहर आने पर विद्यमान होता है–इस अपेक्षा से भूतार्थ है।*

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १४

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।12।।

भावानुवाद : *परमभाव को देखनेवाला (ज्ञानी) शुद्धात्मा दर्शानेवाले शुद्धनय के उपदेश का पात्र है। अपरम भाव में स्थित (अज्ञानी) व्यवहारनय के उपदेश का पात्र है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा यानी परमभाव में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। परमभाव यानी शुद्धात्मा यानी परम पारिणामिक भाव यानी सामान्यभाव के अनुभवी पुरुष यानी शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाला जीव जो चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती होता है उसे आगे भी बार-बार आत्मानुभूति करनी होती है। बार-बार आत्मानुभूति करने से गुणस्थान आरोहण होता है। परमभाव में स्थित जीव को गुणस्थान आरोहण करते हुए आगे कैवल्य प्रकट करके मोक्ष पाना है। यही मोक्षमार्ग है।

इसलिये यहाँ कहा गया है कि परमभाव में स्थित ज्ञानी ही शुद्धनय के उपदेश का पात्र है, जबकि अपरमभाव में स्थित अज्ञानी आत्मा की वैराग्यादि योग्यता और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता की प्राप्ति के लिये व्यवहारनय के उपदेश का पात्र है।

परमभाव में स्थित जीव को सिर्फ़ आत्मानुभूति ही उपादेय रह जाती है। इसी लिये वह शुद्धनय के उपदेश का पात्र है।

जो जीव अपरम भाव में स्थित है यानी अज्ञानी है उसे शुद्धात्मा की अनुभूति न होने से उसे शुद्धनय प्रकट नहीं हुआ है। उसे शुद्धनय प्राप्त करने के लिये आत्मानुभूति करनी आवश्यक है। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये जीव को ज्ञानगर्भित वैराग्ययुक्त होकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पानी आवश्यक है। इसके लिये उसे व्यवहार द्वारा उपदेश देना योग्य है। ऐसे अज्ञानी जीव को अगर ग़लत अर्थघटन के कारण शुद्धनय का उपदेश दिया गया तो वह भ्रमवश नयाभास के कारण निश्चयाभासी बन सकता है, ख़ुशफ़हमी में ही रह सकता है। इसलिये ऐसे जीव को व्यवहारनय का उपदेश देना चाहिये।

कई निश्चयाभासी उपदेशक इस बात को नहीं समझकर इसी शास्त्र का आधार लेकर ग़लत अर्थघटन के कारण अज्ञानी जीवों को भी सिर्फ़ शुद्धनय का ही उपदेश देते हैं। इसी कारण यह शास्त्र ऐसे जीवों को शस्त्र के रूप में परिणमता है, जो इस शास्त्र का उद्देश्य है ही नहीं। इसलिये सभी को इस शास्त्र के अर्थ को सर्वांग रूप से समझकर अपना आत्मकल्याण करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं ।।13।।

भावानुवाद : *जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष को भूतार्थ से जानना सम्यग्दर्शन है।*

टीका : भूतार्थ नय से यानी शुद्धनय से जब हम इन नौ तत्त्वों को जानते हैं तब उसमें शुद्धात्मा ही अनुभव में आती है। वही सम्यग्दर्शन का विषय है। इसलिये कहा है कि नौ तत्त्वों को भूतार्थ से जानना सम्यग्दर्शन है। नौ तत्त्व जीव और अजीव के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण प्रकट हुए है, उससे मोक्षमार्ग समझ में आता है। इन नौ तत्त्वों से जीव की निगोद से मोक्ष तक की यात्रा समझ में आती है। सात तत्त्वों में से हेय–उपादेयता समझाने के लिये पुण्य–पाप को अलग करके नौ तत्त्व बताये गये हैं। इन नौ तत्त्वों में संवर और निर्जरा एकदेश उपादेय हैं और मोक्ष सर्वदेश उपादेय है।

अज्ञानी पर्यायरूप इन नौ तत्त्वों में मैंपन करता है और ज्ञानी उन पर्यायों में छिपी शुद्धात्मा में मैंपन करता है—यह बात इस गाथा में दर्शायी गयी है। इसलिये कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष को भूतार्थ से जानना सम्यग्दर्शन है।

सच्चे संवर और निर्जरा के लिये यानी मोक्षमार्ग के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। इसलिये यहाँ सम्यग्दर्शन की व्याख्या की गयी है। अज्ञानी इन नौ तत्त्वों को व्यवहार से ही जानता है, क्योंकि वह इन नौ तत्त्वों में छिपी आत्मज्योति को नहीं पहचानता। अज्ञानी इन नौ तत्त्वों को विशेषरूप से यानी पर्यायरूप से जानता है और ज्ञानी इन नौ तत्त्वों को सामान्यरूप से यानी द्रव्य के रूप में, शुद्धात्मा के रूप में जानता है। ज्ञानी इन नौ तत्त्वों के भेद में न रमकर अभेद शुद्धनय का अनुभव करता है। यानी इन नवतत्त्वरूपी विशेषों को गौण करके शुद्धात्मारूपी सामान्य का अनुभव करता है। यह आत्मानुभूति वैराग्यादि योग्यताओं के बिना और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख हुए बिना नहीं होती। सभी को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का ही प्रयास करना चाहिये—यही इस गाथा का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।14।।

भावानुवाद : *जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखता है उसे शुद्धनय जानें।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति ही शुद्धनय है। यहाँ स्पष्टरूप से बताया गया है कि शुद्धनय का जन्म चतुर्थ गुणस्थान में ही होता है। इसलिये यदि कोई अज्ञानी बिना आत्मानुभूति के भ्रमवश स्वयं को बौद्धिकरूप से ही शुद्धात्मा मान लेता है तो वह निश्चयाभासी बन जाता है और ख़ुशफ़हमी में ही रहता है।

यहाँ शुद्धनय की व्याख्या की गयी है। शुद्धनय से आत्मा सिर्फ़ त्रिकाली शुद्ध है। इसलिये शुद्धनय अपेक्षा से वह कभी किसी अन्य द्रव्य से या अन्य द्रव्य के निमित्त से उपजे अपने भाव यानी अपनी पर्याय से न तो बद्ध हुई है, न ही स्पृष्ट हुई है, क्योंकि आत्मानुभूति में ज्ञायकभाव के अलावा कोई भाव नहीं है और ज्ञायकभाव में पर्याय गौण हो गयी है। आत्मानुभूति त्रिकाल ज्ञानसामान्यभावरूप ही होती है, अन्य रूप नहीं होती। इसलिये अनन्य है। वह अनादि अनन्त शुद्धरूप से नियत है, क्योंकि आत्मानुभूति एकरूप ही होती है, वह बदलती नहीं। वह त्रिकाल ज्ञानसामान्यभावरूप नियत ही होती है। शुद्धात्मा सामान्यभाव होने से उसमें सदैव विशेष का अभाव होता है। इसलिये वह अविशेष है। एक अभेद शुद्धात्मा होने से वह अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्याश्रित भावों से पृथक् है अर्थात् असंयुक्त है, वह सिर्फ़ परमपारिणामिकभाव रूप ही होती है। उसमें अन्य उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय ये चार भाव नहीं होते। इस अपेक्षा से भी वह असंयुक्त है। स्वभावतः असंग होने से शुद्धात्मा पुद्गलादि अन्य द्रव्य से भी असंयुक्त है।

अनादि से आत्मा कर्मों से बँधी हुई है। इसलिये वह संसार में अनन्त दुःख झेलती हुई भटक रही है। जब वही आत्मा वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करती है, तब उसे शुद्धात्मा अनुभव में आती है। वह शुद्धात्मा

कर्मों से भी अबद्ध तथा अस्पृष्ट है, क्योंकि वह सामान्यभाव है। शुद्धनय यानी आत्मानुभूति। इस अपेक्षा से यहाँ आत्मा को अबद्ध तथा अस्पृष्ट कहा गया है।

अनादि से जीव मोह के कारण कर्मों से बँधा हुआ है और अन्य-अन्य रूप धारण करता हुआ चौरासी लाख योनियों में घूम रहा है। वह अन्य-अन्य रूपों में विद्यमान द्रव्यभाव त्रिकाल एकरूप ही होता है और वही आत्मानुभूति में आता है। इस अपेक्षा से शुद्धनय को अनन्य कहा है।

वह भाव स्थायी और त्रैकालिक अथवा ध्रुव है। इसलिये उसे नियत कहा है।

शुद्धनय स्वरूप आत्मानुभूति सामान्यभाव की होती है। उसमें चारों विशेषभावों का अभाव होता है। इसलिये उसे अविशेष कहा है।

अनादि से जीव संसार में उदयादि भावों से संयुक्त वर्तते हुए हर समय कर्मोदय भोग रहा है और नये कर्म बाँध रहा है। इस प्रकार व्यवहारनय से जीव अनेक भावों से संयुक्त होता है। परन्तु जो शुद्धनयरूप आत्मानुभूति है वह असंयुक्त यानी सभी कर्मजनित भावों से भिन्न होती है। इस अपेक्षा से शुद्धनय असंयुक्त है। शुद्धनय का विषय सामान्यभाव भी असंयुक्त है।

यह पाँचों भाव (बद्ध, स्पृष्ट, अन्य-अन्य, अनियत, विशेष और संयुक्त) शुद्धनय रूप द्रव्य स्वभाव में प्रवेश नहीं पाते। आचार्यश्री की भावना है कि ऐसा शुद्धनय सभी साधक अनुभव करें। ऐसी आत्मानुभूति आत्मा की वैराग्यादि योग्यता और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करने से प्राप्त होती है। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण इसे बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से ही मान लेने का उपदेश देते हैं, जिससे अज्ञानी को प्रमाणज्ञान न होने से नयाभास के कारण निश्चयाभास होता है। सभी को इस भयस्थान से बचकर अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।15।।

भावानुवाद : *जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, अप्रदेशी (अखण्ड) तथा शान्त भाव में स्थित देखता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देख रहा है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति ही सम्पूर्ण जिनशासन का सार है। अतः सम्पूर्ण जिनशासन की अनुभूति है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी सम्पूर्ण जिनशासन को देख रहा है।

अनादि से आत्मा कर्मों से बँधी हुई है। इसलिये वह संसार में अनन्त दुःख झेलती हुई भटक रही है। जब वही आत्मा वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करती है, तब उसे शुद्धात्मा अनुभव में आती है। वह शुद्धात्मा कर्मों से अबद्ध तथा अस्पृष्ट है, क्योंकि वह सामान्यभाव है। शुद्धनय यानी आत्मानुभूति। इस अपेक्षा से यहाँ आत्मा को अबद्ध तथा अस्पृष्ट कहा गया है।

अनादि से जीव मोह के कारण कर्मों से बँधा हुआ है और अन्य–अन्य रूप धारण करता हुआ चौरासी लाख योनियों में अनन्त दुःख झेलते हुए भटक रहा है। वह अन्य–अन्य रूपों में विद्यमान द्रव्यभाव त्रिकाल एकरूप ही होता है और वही आत्मानुभूति में आता है। इस अपेक्षा से शुद्धनय को अनन्य कहा गया है।

शुद्धनय स्वरूप आत्मानुभूति सामान्यभाव की होती है। उसमें उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इन चारों विशेषभावों का अभाव होता है। इसलिये उसे अविशेष कहा है।

शुद्धनय रूप आत्मानुभूति एक अखण्ड निर्विकल्प भाव की होती है। इसलिये वह अप्रदेशी है। उसमें कोई भेद नहीं है।

शुद्धनय की अनुभूति अपूर्व आनन्दयुक्त शान्त भाव में निमग्न होती है। इसलिये उसे शान्त भाव में स्थित बताया गया है। उसमें कोई विकल्प न होने से भी उसे शान्त भाव बताया गया है।

ऐसी शुद्धनय की अनुभूति जिनशासन का सार है। सम्पूर्ण जिनवाणी का प्रथम उद्देश्य शुद्धात्मा की अनुभूति कराना ही है। इसलिये जब शुद्धात्मा की अनुभूति होती है तब सम्पूर्ण जिनशासन का हार्द अनुभव में आता है। इसलिये वह जीव सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है– यह बताया गया है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १८

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।

भावानुवाद : *निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में और मेरे चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है और मेरे संवर में तथा योग में (शुद्धोपयोग में भी) आत्मा है।*

टीका : जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका उपयोग ज्ञानसामन्यभावरूप शुद्धात्मा में ही लगता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहा जाता है।

ऐसे चतुर्थादि गुणस्थानस्थित ज्ञानी के लिये शुद्धात्मा ही ज्ञान है, शुद्धात्मा ही दर्शन और चारित्र है, शुद्धात्मा ही प्रत्याख्यान है और शुद्धात्मा ही संवर तथा योग है। यहाँ शुद्धात्मा की अनुभूति को ही योग बताया गया है।

निश्चयनय से शुद्धात्मा की अनुभूति से ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन कहे जाते हैं तथा बार-बार आत्मानुभूतिरूपी आत्मस्थिरता को ही चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा योग कहा जाता है। इस अपेक्षा से भी यहाँ बताया गया है कि निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में और मेरे चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है और मेरे संवर में तथा शुद्धोपयोगरूपी योग में भी आत्मा है। निश्चयनय से शुद्धात्मा ही कारण समयसार है यानी उसी की अनुभूति से मोक्षमार्ग है और आगे कैवल्य और मुक्तिरूप मोक्ष भी है।

यही बात गाथा क्रमांक दो में भी दूसरे शब्दों में बतायी गयी है। वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थित जीव को 'स्वसमय' बताया गया है, क्योंकि चतुर्थादि गुणस्थानस्थित ज्ञानी के लिये निश्चय से शुद्धात्मानुभूति ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १९

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।16।।

भावानुवाद : *साधु को ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का सेवन नित्य करना चाहिये। और उन तीनों को निश्चय से आत्मा ही जानें।*

टीका : यहाँ निश्चय और व्यवहार का अच्छी तरह से स्पष्टीकरण दिया गया है। एक अभेद आत्मा में ज्ञान–दर्शन–चारित्र के भेद करने को व्यवहार कहते हैं। और उसी अभेद आत्मा के अनुभव को निश्चय कहते हैं—यह समझाया है।

यहाँ आगम तथा अध्यात्म का भी अच्छा समन्वय किया गया है। जैसे आगम में साधु (साधक) को ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का सेवन निरन्तर करने को कहा गया है। ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का बाह्य और अन्तरंग स्वरूप भिन्न–भिन्न होता है। आगम में उनके बाह्य स्वरूप का वर्णन होता है तथा अध्यात्म में उनके अन्तरंग स्वरूप को महत्त्व दिया जाता है। वह अन्तरंग स्वरूप शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप होता है।

समयसार अध्यात्मग्रन्थ है। इसलिये इसमें शुद्धनय की अनुभूति को ही ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र माना गया है, क्योंकि आत्मानुभूति ही ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का प्राण है। आत्मानुभूति के बिना बाह्य आचाररूपी चारित्र भी व्यर्थ है अर्थात् मोक्ष रूपी फल देने में समर्थ नहीं है। इसलिये इस गाथा में सभी को परोक्षरूप से आत्मानुभूति प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है और उसी में ठहर जाने को कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७, १८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०, २१

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।।17।।

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।।18।।

भावानुवाद : *जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष राजा को जानकर श्रद्धा करता है और उसकी प्रयत्नपूर्वक सेवा करता है, वैसे ही मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को जीवरूपी राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करनी चाहिये और उसका अनुसरण करना चाहिये।*

टीका : जैसे संसार में धन चाहनेवाला पुरुष सर्वप्रथम राजा की पहचान करता है और श्रद्धान करता है कि राजा के पास से ही उसे धन प्राप्त होगा। यह तय हो जाने के बाद वह राजा की सेवा में लग जाता है। वैसे ही मोक्ष के इच्छुक पुरुष को सर्वप्रथम आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान करना चाहिये। यहाँ आत्मा को अनुभूतिपूर्वक जानना समझना है।

जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका उपयोग ज्ञानसामन्यभावरूप शुद्धात्मा में ही लगता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहा जाता है। यहाँ आत्मानुभूतिपूर्वक जानने को ही 'जानना' कहा गया है। इसी को आगम में सम्यग्दर्शन कहा गया है। जिनशासन में प्रवेश पाने के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के अभाव में यदि कोई अज्ञानी अपने को बौद्धिकरूप से ही शुद्धात्मा मानने लगता है, तब वह भ्रमवश मात्र कल्पना में ही अपने को शुद्धात्मा मानने लगता है और ख़ुशफ़हमी में ही रहता है।

जैसे कोई गधे के सींग का श्रद्धान मात्र कल्पना में ही करता है वैसे ही अज्ञानी को भी काल्पनिक रूप से ही शुद्धात्मा का श्रद्धान होता है। अर्थात् अज्ञानी को शुद्धात्मा की श्रद्धा कार्यकारी नहीं होती यानी सम्यग्दर्शनरूपी फल देनेवाली नहीं होती। उसे वह भ्रम देनेवाली होती है, वह उसे निश्चयाभासी ही बनाती है।

सम्यग्दर्शन पाने के लिये वैराग्यादि योग्यताएँ तथा पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाना आवश्यक हैं। जिस जीव में वैराग्यादि योग्यताएँ एवं आत्मसन्मुखता होंगी, उसके लिये 'यह जो जाननेवाला है वही मैं हूँ'—यह सूत्र ही काफ़ी है। इसी से आत्मानुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आ जायेगी। आत्मानुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आने से वह जीव सम्पूर्ण जिनशासन को जानेगा। इससे उसे पता चलेगा कि इसी शुद्धात्मा की बार-बार आत्मानुभूति (अनुचरण) करने से कैवल्य की प्राप्ति होगी और आगे सिद्धत्व की प्राप्ति होगी। इस तरह यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने सिद्धत्व प्राप्त करने का राजमार्ग बताया है और उसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२

कम्मे णोकम्मम्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।19।।

भावानुवाद : *जब तक कर्म और नोकर्म में 'यह मैं हूँ और कर्म-नोकर्म मुझमें हैं' ऐसी बुद्धि है तब तक व्यक्ति अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है।*

टीका : यहाँ अज्ञानी का लक्षण बताया गया है। अज्ञानी को नियम से पर्याय का ही अनुभव होता है। पर्याय कर्मों के निमित्त से होती है। इसलिये अज्ञानी स्वयं को भावकर्म रूपी

मानता है। जो नोकर्मरूप शरीर है उसमें भी वह अज्ञानवश मैंपन करता है। कर्म पुद्गलरूप होते हैं। चार घाती कर्मों के कारण होनेवाले जीव के भाव, भावकर्म या भावास्रव कहलाते हैं और चार अघाती कर्मों के कारण मिलनेवाले शरीरादि संयोगों को नोकर्म कहते हैं।

इस प्रकार अज्ञानी स्वयं को कर्म और नोकर्म में स्थित पाता है और उस रूप में स्वयं का अनुभव करता है। कर्म–नोकर्म के स्वरूप सदैव बदलते रहते हैं। उस बदलते स्वरूप में मैंपन करने से मिथ्यात्वादि कर्मों का बन्ध होता है और जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा रहता है। यही अपनी अनादि की कहानी है।

यहाँ जो अप्रतिबुद्ध जीव का स्वरूप बताया गया है उसे कई लोग शास्त्रों की आत्मानुभूतिरहित बौद्धिक जानकारी के आधार पर स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मानते हुए '(कर्म और नोकर्मरूप)–यह मैं हूँ और कर्म–नोकर्म मुझमें हैं' इस बात को बौद्धिकरूप से झुठलाते हैं और भ्रमवश ख़ुद को प्रतिबुद्ध मानने लगते हैं। ख़ुशफ़हमी में रहने लगते हैं। इसी तरह हमने स्वयं को अनादि काल से छला है। इससे हम कह सकते हैं कि अगर किसीने हमें सबसे अधिक छला है तो वह हम ही हैं। अब आगे हम इस छल (भ्रम) को पहचानकर इससे बाहर निकलें और अपना कल्याण करें इसी प्रयोजन से आचार्य कुन्दकुन्दने इस गाथा में अप्रतिबुद्ध का लक्षण बताया गया है।

अप्रतिबुद्ध, अर्थात् अज्ञानी, भ्रमवश सिर्फ़ बौद्धिकरूप से स्वयं को शुद्धात्मा मान लेने से ही प्रतिबुद्ध नहीं कहलाता पर वह ख़ुशफ़हमी में रह जाता है। जब वह वैराग्यादि योग्यताओं के साथ पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तभी वह वास्तव में प्रतिबुद्ध कहा जा सकता है–अन्यथा नहीं। यह बात प्रत्येक साधक के लिये विचार करने योग्य है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २३

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्मि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बन्ध मोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो।।

भावानुवाद : *सर्वज्ञ भगवान ने संक्षेप में बताया है कि वर्तमान काल में (जीव का) उपयोग जीव (शुद्धात्मा) या अजीव (शरीर) जहाँ युक्त है उससे मोक्ष या बन्ध होता है।*

टीका : जीव का उपयोग जहाँ लगता है उसी से उसके कर्मबन्धन अथवा कर्ममुक्ति तय होते हैं। जब तक जीव अज्ञानी है, तब तक उसका उपयोग अजीव में तथा अजीव के निमित्त

से उपजे अपने भावों में लगता है। अजीव में मैंपन होने से मिथ्यात्वादि कर्मों का बन्ध होता है। इस कारण अज्ञानी की मुक्ति नहीं होती।

जब वह जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष शुद्धात्मा में लगता है, उसका मैंपन शुद्धात्मा में होता है। उसका उपयोग बार-बार शुद्धात्मा में लगने से गुणश्रेणीवाली निर्जरा होती है और वह आगे क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है और अन्ततः मोक्ष पाता है।

ज्ञानी का मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। अतः ज्ञानी को शुद्धात्मा का आलम्बन मोक्ष का दाता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि उपयोग शुद्धात्मा में लगने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। परन्तु अज्ञानी जीव का मैंपन शरीर में होने के कारण उसका उपयोग शरीररूपी अजीव से जुड़ता है। ऐसे अज्ञानी जीव को पर से ममत्व होने की वजह से कर्मबन्ध होता है, यह बताया गया है। इसलिये कर्मबन्ध से मुक्ति प्राप्त करने के लिये सभी साधकों को यथाशीघ्र वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त कर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करनी चाहिये। यहाँ आचार्यश्री प्रेरणा दे रहे हैं कि आप भी वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करें और अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति करें।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ।।

भावानुवाद : *आत्मा निश्चय से जिस भाव को करती है वह उसी भाव की कर्त्री होती है। व्यवहारनय से आत्मा पुद्गलकर्म की कर्त्री होती है।*

टीका : जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष शुद्धात्मा में लगता है, उसका मैंपन शुद्धात्मा में होता है। आत्मानुभूति से शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। ऐसा आत्मानुभवी जीव शुद्धनिश्चयनय से अपने शुद्धभाव का कर्ता होता है और अशुद्धनिश्चयनय से अपने भावकर्म यानी भावास्रव का कर्ता होता है। वैसा ज्ञानी जीव अज्ञानी को भी स्वयं के भाव का ही कर्ता मानता है परन्तु अज्ञानी जीव अज्ञानवश स्वयं को पर का कर्ता मानता है। इसलिये जीव का कर्म के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्ध हो सकता है। इस अपेक्षा से व्यवहारनय (उपचार) से जीव को पुद्गलकर्मों का कर्ता कहा गया है।

जीव और पुद्गलकर्म भिन्न द्रव्य होने से उनका आपस में कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है। दोनों का अपने–अपने भावों से कर्ता–कर्म सम्बन्ध है। इसलिये निश्चय से दोनों अपने–अपने भावों के कर्ता हैं। परन्तु आत्मा और पुद्गलकर्म का आपस में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि व्यवहारनय से आत्मा पुद्गलकर्म की कर्त्री होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २० – २२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २५ – २७

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तामिस्सं वा ।।20।।

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ।।21।।

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ।।22।।

भावानुवाद : *अपने से अन्य जो सचित्त–अचित्त–मिश्र परद्रव्य में मैं यह हूँ, यह मैं हूँ, मैं इसका हूँ, यह मेरा है, पूर्व में यह मेरा था, पूर्व में मैं भी इसका था, फिर यह मेरा होगा, और मैं भी इसका हो जाऊँगा इस प्रकार के मिथ्या आत्मविकल्प जो करता है वह मूढ़ है। जो भूतार्थ को जानता हुआ ऐसे विकल्प नहीं करता वह अमूढ़ है।*

टीका : यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर बताया गया है। सचित्त यानी माता–पिता, स्त्री–पुत्र, सहोदर इत्यादि और अचित्त यानी धन–धान्य, घर, प्रतिष्ठान इत्यादि। मिश्र यानी ग्राम, नगर, देश, दुनिया इत्यादि।

ज्ञानी का मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है और अज्ञानी का मैंपन शरीर में। अज्ञानी का मैंपन शरीर में होने के कारण अज्ञानवश वह अपने शरीर को 'यह मैं हूँ' मानता है। अज्ञानी जीव का मैंपन पर्याय में होने से कर्मों के कारण होनेवाले अपने भावों के प्रति वह 'मैं यह हूँ' ऐसा आत्मविकल्प करता है।

अहं शरीर में होने के कारण वह स्वयं को अपने माता–पिता का पुत्र मानता है, अपनी पत्नी का पति मानता है, अपने बच्चों का पिता मानता है, सहोदरों का भाई मानता है इत्यादि। इसी कारण वह अपने माता–पिता, पत्नी, बच्चे, सहोदरों के प्रति 'मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं' ऐसा आत्मविकल्प करता है।

घर बदलने के बाद वह सोचता है कि 'यह पूर्व में मेरा था'। पूर्व भव के सम्बन्धों को जानकर वह यह आत्मविकल्प करता है कि 'पूर्व में मैं भी इसका था'। उदाहरणार्थ वह अपने पूर्व भव की पत्नी को विभंग ज्ञान आदि से देखकर यह सोचे कि 'मैं भी इसका पति था' या पूर्व भव के पिता को देखकर यह सोचे कि 'मैं भी उनका पुत्र था'।

वर्तमान भव के सम्बन्धों के बारे में किसी के भविष्य को सुनकर वह यह सोचता है कि 'फिर यह मेरा होगा, मैं भी इसका होऊँगा।' जैसे अपने वर्तमान पुत्र के बारे में यह जाना कि 'भविष्य के भव में यह मेरा पुत्र होगा' तो वह यह आत्मविकल्प करता है कि 'यह फिर मेरा पुत्र होगा, मैं फिर इसका पिता बनूँगा'।

इस प्रकार के मिथ्या आत्मविकल्प में मैंपन अज्ञानी की पहचान है, क्योंकि अज्ञानी स्वयं के शरीर को अपनी आत्मा मानता है और दूसरों के शरीर को उनकी आत्मा मानता है। वह भगवान के शरीर को ही भगवान मानता है।

इस प्रकार अज्ञानी का संसार हरा–भरा रहता है, उसका अन्त नहीं होता। उसके दुःखों का अन्त नहीं होता। इसलिये जिसे दुःखों से छुटकारा चाहिये, उसे यथाशीघ्र वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करके और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मज्ञान पाना चाहिये जिससे उसे दुःखों से मुक्ति मिले। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यरूप शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये उसे मिथ्या आत्मविकल्प नहीं होते। यह अपने भवों को भूमिका (role) के रूप में जानता है, न कि 'मैं' के रूप में।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। शुद्धात्मा में मैंपन करने को ही भूतार्थ को जानना बताया गया है और इसलिये यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को अमूढ़ बताया गया है और मिथ्यादृष्टि को मूढ़ यानी अज्ञानी बताया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३ – २५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २८ – ३०

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।23।।

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।24।।

जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं ।।25।।

भावानुवाद : *अज्ञान से मूर्छित बुद्धिवाला तथा अनेक प्रकार के भावों से युक्त जीव इस बद्ध तथा अबद्ध पुद्गलद्रव्य को मेरा कहता है किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा गया है कि जीव सदा उपयोग लक्षणवाला होता है। तो वह जीव पुद्गलरूप कैसे हुआ? यदि वह जीव पुद्गलद्रव्य के रूप में घटित होता हो या इसके विपरीत यदि पुद्गल जीव द्रव्य के रूप में घटित होता हो तभी यह कह सकते हैं कि पुद्गलद्रव्य मेरा है।*

टीका : अज्ञानी जीव की मति मोहरूपी अज्ञान से ग्रस्त है। इस कारण से वह अनादि से मोहराग–द्वेषादि भावों को कर रहा है। अनादि से जीव का सबसे बड़ा दुश्मन दर्शनमोह रहा है। दर्शनमोह की वजह से अज्ञानी शरीर में मैंपन करता है। इससे वह धनधान्यादि पत्नीपुत्रपरिवारादि में मेरापन करता है। कर्म और शरीर यह दोनों बद्धपुद्गल हैं और स्त्री, पुत्र, धन, मित्रादि अबद्धपुद्गल हैं।

सर्वज्ञ के ज्ञान में जीव नित्य उपयोग लक्षणवाला देखने में आया है। क्योंकि वे स्वयं को भी उपयोग लक्षणवाला अनुभव करते हैं। वे सभी जीवों को भी अपने जैसा ही उपयोग लक्षणवाला देखते हैं। वे यह भी देखते है कि अज्ञानी स्वयं को पुद्गलरूपी शरीर मानते है।

सर्वज्ञ बताते हैं कि जीवों को छोड़ अन्य किसी भी द्रव्य में उपयोग लक्षण न होने से उपयोग जीव का निर्विवाद लक्षण है। तब फिर अज्ञानी का जीव कैसे पुद्गलस्वरूप हो सकता है? अज्ञानी कैसे कह सकता है कि यह पुद्गल मेरा है? यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होकर दोनों एकरूप हो जायें या फिर पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप होकर दोनों एकरूप हो जायें तभी दोनों एकरूप हो जाने से वह ऐसा कह सकता है कि 'मैं पुद्गलद्रव्य हूँ' अथवा 'पुद्गलद्रव्य मेरे हैं'। लेकिन जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाये या फिर पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप हो जाये और दोनों

एकरूप हो जायें–ऐसा तो कभी होता ही नहीं है। क्योंकि सभी द्रव्यों का त्रिकाल स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है।

एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्य के रूप में नहीं परिणमता। तीनों काल सभी द्रव्य, स्वद्रव्य के रूप में ही परिणमते हैं। परन्तु अज्ञानी अज्ञानवश परद्रव्य को मैं और मेरा मानता है। इसी कारण वह अनादि से कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है। अत: सभी साधकों को यथाशीघ्र आत्मप्राप्ति कर मोहरूपी अज्ञान से मुक्ति पानी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २६ – ३० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३१ – ३५

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।26।।

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एकट्ठो ।।27।।

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।28।।

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ।।29।।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।।30।।

भावानुवाद : *यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति सब ही मिथ्या है। इसलिये देह ही आत्मा है। व्यवहारनय कहता है कि जीव और देह एक ही हैं परन्तु निश्चयनय से जीव और देह एक पदार्थ नहीं हैं। जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके मुनि ऐसा मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान की स्तुति एवं वन्दना की गयी। यह निश्चय दृष्टि से उपयुक्त नहीं माना जाता है, क्योंकि शरीर के गुण केवली के नहीं होते। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वह तत्त्वतः केवली की स्तुति करता है। जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं होता, वैसे ही देह के गुणों की स्तुति करने पर केवली के गुणों की स्तुति नहीं होती।*

टीका : अज्ञानी जीव अज्ञानवश स्वयं को देहरूप मानता है। इसलिये तीर्थंकर और आचार्यों को भी देह के रूप में ही देखता है। इसलिये जब वह तीर्थंकर और आचार्य की स्तुति करता है तब वह अज्ञानी जीव अपनी मिथ्या मान्यता अनुसार उनके देह की स्तुति ही करता है। इसलिये अगर उसे कहा जाये कि जीव शरीर नहीं है तो वह ऐसा मानता है कि फिर तो सभी स्तुतियाँ मिथ्या हो गयीं! ऐसे अज्ञानी अपनी मान्यता में देहात्मबुद्धि (देह को ही आत्मा समझना) दृढ़ करता रहता है। वह तो तीर्थंकरों और आचार्यों की देह की स्तुति को ही तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति मानता है। इसलिये वह कह रहा है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति सब मिथ्या है। इसलिये देह ही आत्मा है।

व्यवहारनय से यानी उपचार से जीव और देह को एक बताया जाता है किन्तु निश्चयनय से जीव और देह कभी भी एक नहीं हो सकते, क्योंकि जीव का लक्षण और देह का लक्षण भिन्न है। अतः दोनों भिन्न द्रव्य हैं। जीव और देह का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से व्यवहारनय से उन्हें एक कहा जाता है। वास्तव में वे एक नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि उन्हें भिन्न जानता है और सम्यग्दृष्टि की आत्मानुभूति को ही शुद्धनिश्चयनय कहा जाता है। इसलिये कहा है कि निश्चयनय से जीव और देह एक पदार्थ नहीं हैं।

फिर भी चेतनायुक्त जीव से भिन्न स्पर्शरसगन्धवर्णयुक्त पुद्गलमय देह की स्तुति करके यदि कोई मुनि ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति और वन्दना की है तो वह स्तुति और वन्दना निश्चयनय से योग्य नहीं है। क्योंकि केवली के गुण देहरूपी पुद्गल में होते ही नहीं। केवली के गुण उनकी आत्मा में ही होते हैं। उस आत्मा के गुणों की स्तुति ही तत्त्वतः केवली की स्तुति कही जाती है। इसलिये तत्त्वतः केवली की स्तुति ज्ञानी ही कर सकता है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि यदि किसी को केवली की सच्ची स्तुति करनी है तो उसे पहले सम्यग्दर्शन पाना होगा। इसलिये आत्मानुभूति को अभेद–भक्ति या अभेद–स्तुति भी कहा जा सकता है।

जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं होता, क्योंकि नगर के वर्णन में नगर, नगररचना आदि और नगरवासियों का वर्णन आता है, राजा का वर्णन नहीं आता। इसी प्रकार स्पर्शरसगन्धवर्णयुक्त देह के गुणों की स्तुति करने पर अनन्त दर्शन–ज्ञान–चारित्र–सुख–वीर्य इत्यादि केवली के गुणों की स्तुति नहीं होती।

इसलिये तीर्थंकर, केवली और आचार्यों की निश्चय स्तुति सिर्फ़ ज्ञानी ही कर सकता है, क्योंकि ज्ञानी ने अपनी आत्मानुभूति में उनके आनन्द का आंशिक रूप से स्वाद चख लिया है और उसने देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव भी किया है। अज्ञानी को देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव न होने के कारण उसमें देहात्मबुद्धि ही वर्तती है। इसलिये वह व्यवहार से ही देह की स्तुति करता है। जब वह आत्मानुभूति प्राप्त करके आत्मज्ञान प्राप्त करता है तभी निश्चय का जन्म होता है, शुद्धनय का अनुभव होता है। इसलिये आत्मानुभूति ही सबके लिये कर्तव्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३६

जो इंदिए जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।31।।

भावानुवाद : *निश्चय में स्थित साधु वास्तव में उसे जितेन्द्रिय कहते हैं जो इन्द्रियों को जीतकर आत्मा को ज्ञानस्वभाव से अधिक जानता है यानी अनुभव करता है।*

टीका : यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने तत्त्वतः जितेन्द्रियता की व्याख्या की है। हम अनादि से कई बार साधु बने तथा बाह्य रूप से इन्द्रियों को जीता, अच्छे से बाह्याचाररूपी चारित्र पालन किया। हम अनेक बार नौवें ग्रैवेयक तक के देव बने फिर भी हम संसार से मुक्त नहीं हुए। इससे पता चलता है कि वह बाह्य जितेन्द्रियता तत्त्वतः वास्तविक नहीं थी। क्योंकि बाह्य जितेन्द्रिय बनना साधन है, साध्य नहीं। हम अनादि से उसे साध्य मानते हुए उसी से संतुष्ट होते रहे। वास्तव में वह आत्मानुभूति के लिये साधन है। साध्य तो आत्मानुभूति है। इसलिये जब तक साधक वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति नहीं कर लेता तब तक तत्त्वतः जितेन्द्रियता नहीं आती। निश्चय में स्थित साधु (ज्ञानी) आत्मानुभूतिवाले को ही वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ 'ज्ञानस्वभाव से अधिक जानता है' कहने का तात्पर्य यह है कि जानने एवं देखने स्वरूप विशेषात्मक ज्ञानस्वभाव से अधिक ज्ञानसामान्यभावरूप अनुभव करता है, मात्र जानता नहीं है, क्योंकि यदि मात्र जानना ही उद्देश्य होता तो हमने अनेकों बार नौ पूर्व तक अभ्यास करके उसे शब्दरूप से जाना है परन्तु मात्र बौद्धिकरूप से जानने से काम नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें सभी जगह जानने और देखने को अनुभवपूर्वक ही बताया गया है।

इसे अन्यथा न समझें। इसलिये आत्मा को अनुभव से जानना ही जानने–देखने रूप ज्ञानस्वभाव से अधिक जानना कहा गया है। जानने–देखने रूप ज्ञानस्वभाव विकल्पयुक्त होता है और ज्ञानस्वभाव से अधिक यानी ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति निर्विकल्प होती है।

ग्रन्थकार ने आत्मा के अनुभव का विषय भी बताया है। ज्ञानी स्वपर को जानता है और अज्ञानी सिर्फ़ पर को जानता है। अज्ञानी का यह पर को जानना ज्ञान का ही स्वभाव है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मानुभूति की विधि बता दी है। ज्ञानी उस ज्ञानस्वभाव से अधिक यानी पर के जानने को गौण करके ज्ञान के जिस धरातल पर, पर का ज्ञान प्रतिबिम्बित होता है उस ज्ञानधरातल का यानी ज्ञानसामान्य का अनुभव करता है। वह उसी में मैंपन करके अनुभव करता है। अज्ञानी का पर का जानना विशेष है। जिस ज्ञानधरातल पर, पर प्रतिबिम्बित होता है उसे ज्ञानसामान्यभाव कहते हैं। वह सामान्यभाव स्वपर को जाननेवाले विशेष ज्ञानस्वभावरूपी ज्ञेय से अधिक है। आत्मानुभूति के लिये ज्ञानविशेषरूप इन्द्रियज्ञान और ज्ञानविशेषरूप इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान से ज्ञानसामान्य का महत्त्व अधिक है, क्योंकि ज्ञानविशेष ज्ञानसामान्यरूप आत्मानुभूति में जाने की सीढ़ी है और ज्ञानसामान्य की अनुभूति मोक्षमार्ग है। इसलिये निश्चय से ज्ञानसामान्य की अनुभूति करनेवाले साधु को ही जितेन्द्रिय बताया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३७

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति ।।32।।

भावानुवाद : *परमार्थ के जाननेवाले उस साधु को जितमोही कहते हैं जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक आत्मा का अनुभव करता है।*

टीका : यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने तत्त्वतः जितमोही की व्याख्या की है। हम अनादि से कई बार साधु बने तथा बाह्य रूप से मोह को जीता, अच्छे से बाह्याचार रूप चारित्र पालन किया। हम अनेक बार नौवें ग्रैवेयक तक के देव बने फिर भी हमने मोह को परास्त नहीं किया। यहाँ मोह से तात्पर्य दर्शनमोह से है। इससे पता चलता है कि हमारा जितमोहीपम तत्त्वतः वास्तविक नहीं था। हम अनादि से बाह्य आचार में मोह को जीतकर ही सन्तुष्ट हो गये। संसार में रुलानेवाला मोह मन का संसार है। उस मन के संसार का नाश ही मोह को जीतना कहा जायेगा। इसलिये आत्मानुभूति आवश्यक है।

आत्मानुभूति के लिये वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करना आवश्यक है। जब तक पर में सुखबुद्धि हो तब तक मन का संसार ज़िन्दा है। जब तक मन का संसार ज़िन्दा है तब तक परसन्मुखता है। जब तक परसन्मुखता है तब तक आत्मसन्मुखता नहीं आती। फलस्वरूप आत्मप्राप्ति नहीं होती। उसको जाँचने के लिये रुचि अनुरूप वीर्य यह सिद्धान्त कहा गया है यानी जब हम जाँचते हैं कि हमारी तीव्र इच्छाएँ क्या–क्या हैं तब पता चलता है कि हमारी रुचि बाहर की ओर है या भीतर की ओर, क्योंकि इच्छा ही अनादि से हमारा इंजन है, वही हमें निरन्तर बाहरी जगत की ओर दौड़ाती आ रही है। जब तक जीव बहिरात्मा है तब तक उसे सम्यग्दर्शन नहीं मिलता। इसलिये प्रथम वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करनी आवश्यक है।

आत्मानुभूतिवाले को ही वास्तव में जितमोही कहते हैं, क्योंकि उन्होंने दर्शनमोह को जीता है यानी दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय किया है। दूसरे, सम्यग्दृष्टि का मैंपन शुद्धात्मा में होता है और शुद्धात्मा में मोह नहीं होता। इस अपेक्षा से भी परमार्थ के जाननेवाले उस साधु को जितमोही कहते हैं।

यहाँ ज्ञानस्वभाव से अधिक अनुभव करता है, मात्र जानता नहीं है, क्योंकि यदि मात्र जानना ही उद्देश्य होता तो हमने अनेकों बार नौ पूर्व तक अभ्यास करके शब्दों के रूप में जाना है परन्तु मात्र बौद्धिकरूप से जानने से काम नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें सभी जगह जानने और देखने को अनुभवपूर्वक ही बताया है। इसे अन्यथा न समझें। यही बात इस गाथा से सिद्ध होती है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मानुभूति की विधि बता दी है। ज्ञानी उस ज्ञानस्वभाव से अधिक यानी पर के जानने को गौण करके ज्ञान के जिस धरातल पर, पर का प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है उस ज्ञान धरातल का यानी ज्ञानसामान्य का अनुभव करता है। मोह जीतनेवाला साधु उसी में मैंपन करके आत्मानुभव करता है। अज्ञानी का पर को जानना विशेष है। जिस ज्ञान धरातल पर, पर प्रतिबिम्बित होता है उसे ज्ञानसामान्यभाव कहते हैं। वह सामान्यभाव स्व–पर को जाननेवाले विशेष ज्ञानस्वभाव से अधिक है। उसी सामान्यभाव का अनुभव होता है। इसलिये उसे यहाँ ज्ञानस्वभाव से अधिक यानी शुद्धात्मा का अनुभव कहा है। इसलिये जहाँ भी आत्मा को जानने को कहा है उसका मतलब आत्मा का अनुभव समझना चाहिये। आत्मानुभूति के लिये ज्ञानविशेषरूपी मोह से निर्मोही ज्ञानसामान्य का महत्त्व अधिक है, क्योंकि ज्ञानविशेष ज्ञानसामान्यरूप आत्मानुभूति में जाने की सीढ़ी है और ज्ञानसामान्य की

अनुभूति मोक्षमार्ग है। इसलिये निश्चय से ज्ञानसामान्य की अनुभूति करनेवाले साधु को ही जितमोही बताया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३८

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।33।।

भावानुवाद : *जब जितमोही साधु का मोह क्षीण होगा तब ही निश्चय के जाननेवाले उसे क्षीणमोही कहेंगे।*

टीका : आत्मानुभूतिवाले साधु को ही वास्तव में जितमोही साधु कहते हैं, क्योंकि उन्होंने दर्शनमोह को जीता है यानी दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय किया है। दूसरे, सम्यग्दृष्टि का मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है और शुद्धात्मा में मोह नहीं होता। इस अपेक्षा से भी परमार्थ के जाननेवाले उस साधु को जितमोही कहते हैं। वैसे आत्मानुभूतियुक्त साधु का आत्मानुभूति में स्थित होने पर दर्शनमोह का क्षय हो जाता है, तब निश्चय के जानकार यानी निश्चय का अनुभव करनेवाले उन्हें क्षीणमोही कहते हैं।

ऐसे क्षीणमोही साधु का सम्यग्दर्शन क्षायिक हो गया है। इससे अब वे नया आयुबन्ध नहीं करेंगे। यदि आयुबन्ध नहीं किया है तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। यदि आयुबन्ध हो चुका हो तो वे साधु तीन या चार भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।

अन्य रीति से वे आत्मानुभूतिवाले साधु जब आत्मानुभूति में रुक जाते हैं तब उन्हें सातवें गुणस्थान के आगे क्षपकश्रेणी लग जाती है और अन्ततः वे क्षीणमोही बन जाते हैं और आगे केवली होते हैं। इन दोनों में से किसी भी अपेक्षा से जब जितमोही साधु का मोह क्षीण होगा तब निश्चय के जाननेवाले उसे क्षीणमोही कह सकते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३९

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूण ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ।।34।।

भावानुवाद : *ज्ञान सभी भावों को पर जानकर उनका प्रत्याख्यान करता है। इसलिये नियम (निश्चय) से ज्ञान ही प्रत्याख्यान है—ऐसा जानना चाहिये।*

टीका : यहाँ निश्चयनय से ज्ञानसमान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति को ही प्रत्याख्यान कहा है, क्योंकि आत्मानुभूति के कारण उस जीव का मैंपन ज्ञानसामान्यभाव में ही होता है। वह

मैंपन कभी उपयोगरूप (शुद्धोपयोगरूप) होता है तो कभी लब्धिरूप (प्रतीतिरूप) होता है। इस प्रकार जब तक उस जीव का सम्यग्दर्शन उपस्थित रहता है तब तक उस जीव का मैंपन ज्ञानसामान्य में ही रहता है। उस ज्ञानसामान्यभाव में कोई भी विशेषभाव न होने से सभी विशेषभावों का प्रत्याख्यान हो जाता है—ऐसा नियम से जानना चाहिये। यही इस गाथा का मर्म है।

तत्त्वतः इसे ही प्रत्याख्यान कहते हैं। आत्मानुभूति नहीं होने से ही हमारे अनादि के कई बार लिये गये द्रव्य-प्रत्याख्यान कार्यकारी नहीं रहे, मोक्ष नहीं दिला पाये। परन्तु यहाँ यह विशेष समझना आवश्यक है कि अज्ञानी के लिये प्रत्याख्यान लेना निषिद्ध नहीं है; बल्कि उसे आत्मज्ञान प्राप्त कर सच्चा, कार्यकारी प्रत्याख्यान ग्रहण करने की प्रेरणा दी गयी है। अनादिकाल से बिना आत्मानुभूति के लिये गये प्रत्याख्यान जीव को मोक्ष तक नहीं पहुँचा सके। कारण यह है कि भीतर से अभिप्राय को बदलना जीव को कठिन प्रतीत होता है, जबकि द्रव्यप्रत्याख्यान लेना उसे सरल लगता है। इसलिये वह बार-बार धर्म के नाम पर उसी मार्ग को चुन लेता है।

यहाँ जो ज्ञान को ही प्रत्याख्यान बताया गया है उसे कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण आत्मानुभूतिरहित शास्त्रों के बौद्धिक जानकारीरूपी ज्ञान को प्रत्याख्यान समझ लेते हैं। इस बौद्धिक जानकारीरूपी ज्ञान के हो जाने पर भी जब परभाव नहीं छूटते हैं तो वे ग़लत अर्थघटन के कारण यह समझ लेते हैं कि इस बौद्धिक जानकारीरूपी ज्ञान को दृढ़ कर लेने से ही परभाव स्वतः छूट जाएँगे। फलतः वे उस बौद्धिक जानकारीरूपी ज्ञान को ही दृढ़ करने में लगे रहते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस गाथा में ज्ञान से आशय आत्मानुभूतियुक्त ज्ञान से है। और आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये वैराग्यादि योग्यता पूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करना आवश्यक है। जब तक पर में सुखबुद्धि है तब तक मन का संसार जिन्दा है। जब तक मन का संसार जिन्दा है तब तक परसन्मुखता है। वह जीव बहिरात्मा है। जब तक परसन्मुखता है तब तक आत्मसन्मुखता नहीं आती। फलस्वरूप आत्मानुभूति नहीं होती। और जब तक आत्मानुभूति नहीं होती तब तक परभावों का प्रत्याख्यान नहीं होता। यही इस गाथा का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४०

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी ।।35।।

भावानुवाद : *जैसे कोई पुरुष यह परवस्तु है इस प्रकार जानकर उसे छोड़ देता है वैसे ही ज्ञानी सारे परभावों को पर जानकर त्याग देता है।*

टीका : यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से आत्मानुभूति का विषय बताया है। जब साधक वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है तब दो प्रकार से भेदज्ञान होता है। पहला भेदज्ञान पुद्गल से होता है यानी साधक सभी अचेतन पदार्थों को पर जानता हुआ अपने चैतन्य से भिन्न अनुभव करता है। दूसरा भेदज्ञान चैतन्य के भीतर होता है। इस भेदज्ञान में साधक को अपने ज्ञानसामान्यभाव का अनुभव होता है तथा स्व और परद्रव्य के निमित्त से उपजे अपना विशेषभाव गौण हो जाता है। इस प्रकार आत्मानुभूति में सहज ही सारे परभावों का त्याग हो जाता है और ज्ञानसामान्य की अनुभूति हो जाती है। यही इस गाथा का मर्म है। इस प्रकार यहाँ आत्मानुभूति का विषय बताया गया है।

कई लोग भेदज्ञान की यह विधि जानकर अपने ऊपर इसका प्रयोग करते हैं परन्तु जिस जीव में वैराग्यादि योग्यता होगी, पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता होगी तभी भेदज्ञान की यह विधि फल देगी। अन्यथा योग्यता न होने पर भी बार-बार बौद्धिकरूप से इस विधि को करने से भ्रम होने का ख़तरा बना रहता है। अज्ञानी को नयाभास होने से निश्चयाभास का भी ख़तरा बना रहता है। इसलिये सभी साधकों को सबसे पहले अनित्यादि बारह भावना, मैत्री आदि चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इत्यादि का प्रयोगात्मक अभ्यासरूप से उपयोग करके आत्मा की योग्यता बनाना आवश्यक है। यही अक्षय कल्याण का मार्ग है। धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) को विस्तार से इस टीका की भूमिका में समझाया गया है। जिसका भवान्त नज़दीक है उसी को यह बात समझ में आती है, दूसरे संसाररसिक लोग तो ऐसी बातें करते हैं कि आत्मा की उपरोक्त योग्यता प्राप्त किये बिना भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं या कई लोग तो उपरोक्त योग्यता को नियति अनुसार अपने समय पर अपने-आप हो जायेगी ऐसा मानते हैं। यही वर्तमानकाल की सबसे भयानक विडम्बना है। यह समझकर ऐसी ग़लत मान्यताओं से दूर रहना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३६ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४१

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ।।36।।

भावानुवाद : *'मैं सिर्फ़ उपयोगरूप ही हूँ, मोह मेरा कुछ भी नहीं है' ऐसा जो अनुभव करता है, उस पुरुष को स्वसमय (आत्मा) को जाननेवाले (अनुभव करनेवाले) लोग मोह से निर्ममत्ववाला कहते हैं।*

टीका : सिर्फ़ आत्मा का अनुभव करनेवाले चतुर्थादि गुणस्थानवाले साधक को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। जब आत्मानुभूति होती है तब सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूप– उपयोगसामान्यस्वरूप शुद्धात्मा अनुभव में आती है। उस शुद्धात्मा में कोई भी विशेषभाव नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं सामान्यभाव है।

भावमोह, कर्मरूप द्रव्यमोह के निमित्त से होनेवाला विशेषभाव है। भावमोह, द्रव्यमोह के निमित्त से होता है। भावमोह यानी आत्मा का परिणाम, वह जीव का विशेषभाव है। द्रव्यमोह यानी पुद्गलरूप मोहनीय कर्म, वह पुद्गल का विशेषभाव है।

जब शुद्धात्मा का अनुभव होता है जो कि ज्ञानसामान्यभाव है उसमें मोह का उदय जो कि विशेषभाव है, नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ही ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से ऐसा कहता है कि 'मैं सिर्फ़ उपयोगरूप ही हूँ, मोह मेरा कुछ भी नहीं है'।

ऐसे चतुर्थादि गुणस्थानवाले जीवों की परिणति में मोह का उदय विद्यमान हो भी सकता है परन्तु उनका मैंपन शुद्धात्मा में होने की वजह से वे कहते हैं कि 'मोह मेरा कुछ भी नहीं है।' क्योंकि आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा में मोह विद्यमान नहीं होता, मोह की पर्याय गौण हो जाती है। इसलिये निश्चय से आत्मा का अनुभव करनेवाले ज्ञानी ऐसे जीवों को मोह से निर्ममत्ववाला कहते हैं।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने मोह में मैंपन न होने को मोह से निर्ममत्व कहा है। मोह की पर्याय में ज्ञानी का मैंपन न होना ही मोह से निर्ममत्व है। इसे अन्यथा ग्रहण नहीं करना चाहिए। कई अज्ञानी इसे एकान्त रूप से ग्रहण कर निश्चयाभासी बन जाते हैं, किंतु यह इस शास्त्र का अभिप्राय नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४२

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ।।37।।

भावानुवाद : *'धर्मादि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं सिर्फ़ उपयोगरूप ही हूँ' ऐसा जो अनुभव करता है, उस पुरुष को स्वसमय (आत्मा) को जाननेवाले (अनुभव करनेवाले) लोग धर्मादि द्रव्य से निर्ममत्ववाला कहते हैं।*

टीका : आत्मा का अनुभव करनेवाले चतुर्थादि गुणस्थानवाले साधक को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। जब आत्मानुभूति होती है तब सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूप–उपयोगसामान्यस्वरूप शुद्धात्मा अनुभव में आती है। उस शुद्धात्मा में कोई भी विशेषभाव नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं सामान्यभाव है। इसलिये ज्ञानी कहता है कि 'धर्मादि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं सिर्फ़ उपयोगरूप ही हूँ'।

जैन दर्शन में छह द्रव्य बताये हैं—जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। आत्मा का धर्मादि द्रव्यों को जानना उपयोगविशेष है और आत्मा की अनुभूति उपयोगसामान्य है। इसलिये ज्ञानी कहता है कि 'धर्मादि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं सिर्फ़ उपयोगस्वरूप ही हूँ।' ऐसे साधक को आत्मा की अनुभूति करनेवाले धर्मादि द्रव्य से निर्ममत्ववाला कहते हैं। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मादि द्रव्य में मैंपन न होने को धर्मादि द्रव्य से निर्ममत्व कहा है। अज्ञानी का मैंपन पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप देह में होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४३

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ।।38।।

भावानुवाद : *मैं एक हूँ, तत्त्वतः शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ। अन्य परमाणुमात्र भी किंचित् मात्र भी मेरा नहीं हैं।*

टीका : जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में लगता है, इससे उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। ऐसा आत्मानुभवी जीव का कथन है, क्योंकि शुद्धात्मा त्रिकाल शुद्ध, दर्शन–ज्ञानमय और अरूपी है। शुद्धात्मा में न पर है और न ही पर के निमित्त से होनेवाले भावकर्म हैं।

ज्ञानी यानी चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती आत्मानुभवी जीव ऐसा अनुभव करता है कि वह एक है यानी वह अभेदभाव का अनुभव करता है। अनुभव में कोई भी विकल्प नहीं होता। इसलिये उसे निर्विकल्प आत्मानुभूति कहते हैं। सामान्यभाव त्रिकाल शुद्ध होने की वजह से ज्ञानी का अनुभव ऐसे शुद्धभाव का होता है।

आत्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा में सभी गुण विद्यमान होते हैं परन्तु अनुभव में विकल्प न होने से विकल्पजन्य गुणभेद नहीं होता। अनुभव में दर्शनज्ञान सहायक होने के कारण यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी दर्शनज्ञानमय आत्मा का अनुभव करता है। दर्शनज्ञान तो प्रतीकात्मक रूप से बताया गया है, वास्तव में उसमें सभी गुण अभेदरूप से विद्यमान हैं।

आत्मा सदैव अरूपी होने के कारण ज्ञानी कहता है 'मैं सदा अरूपी हूँ।' और आत्मानुभूति में ज्ञानी जिस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा का अनुभव कर रहा है, वह भी अरूपी ही है। अतः उसी आधार पर ज्ञानी कहता है 'मैं सदा अरूपी हूँ।'

परमाणु परद्रव्य होने से वह ऐसा अनुभव करता है कि 'अन्य परमाणु रंचमात्र भी, किंचित् मात्र भी, मेरा नहीं है।' परमाणु रूपी है और ज्ञानसामान्यभावरूप आत्मानुभूति अरूपी है, निर्विकल्प है। इसलिये भी ज्ञानी अनुभव करता है कि उसमें किंचित् भी अन्य परमाणुमात्र भी नहीं है।

जीव अधिकार का उपसंहार

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस अधिकार की गाथाओं में सिद्धों को वन्दन करके स्वसमय–परसमय का भेद बताकर स्वसमय बनने की विधि भी बता दी और स्वसमय की आत्मानुभूति कैसी होती है, यह भी बता दिया। और यह उपदेश कितना दुर्लभ है, यह भी बता दिया। उसे आत्मानुभूति करके प्रमाणित करने को भी बता दिया, क्योंकि बिना आत्मानुभूति के इस शास्त्र का अर्थघटन कर पाना कठिन है।

आचार्य कुन्दकुन्द अज्ञानी को समझाने के लिये अभेद आत्मा में भेद उपजाकर बताते हैं। कई लोग भेद–प्रभेद में डूबे रहना पसन्द करते हैं और ग़लत अर्थघटन के कारण मानते हैं कि इसी से सम्यग्दर्शन हो जायेगा। वस्तुतः आत्मानुभूति अभेद की होती है, भेद की नहीं। इसलिये भेद को व्यवहार और अभेद को निश्चय कहा गया है। इसलिये भेद को अनार्य की भाषा बताया है।

इस अधिकार में जो स्वसमय बताया गया वह चतुर्थादि गुणस्थान स्थित सम्यग्दृष्टि है। इसे समझाने के लिये आचार्यश्री समयसार ग्रन्थ की गाथा २०१–२०२ में बता रहे हैं कि 'वास्तव में जिस जीव के परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो फिर भी आत्मा को (अनुभवपूर्वक) नहीं जानता। और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?' शुद्धात्मा में परमाणुमात्र भी राग नहीं होता। इससे समझ में आता है कि आचार्यश्री द्रव्यदृष्टि से सामान्यभाव की बात कर रहे हैं जो इस ग्रन्थ का प्राण है। आत्मा को अनुभवपूर्वक जाननेवाले का मैंपन शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है और शुद्धात्मा में परमाणुमात्र भी रागादि विशेषभाव विद्यमान नहीं हैं। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ही ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान नहीं हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में आचार्यश्री सिर्फ़ शुद्धात्मा की ही बात कर रहे हैं। इसलिये उसके अनुभव से ही आत्मा स्वसमय कहलाती है।

निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, इसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। वह ज्ञानी लोक में कहीं भी हो, किसी भी गति में हो उसका मैंपन शुद्धात्मा में होने से वह सदैव अभिप्राय की अपेक्षा से आंशिक सिद्धत्व को प्राप्त होता है। अभिप्राय की अपेक्षा से सदैव अतीन्द्रिय आनन्दयुक्त होने के कारण यहाँ उसे लोक में सर्वत्र सुन्दर कहा गया है।

श्रुत–परिचित–अनुभूत कामभोगों में सुखबुद्धि होने से और उन्हीं के पीछे लगे रहने से हमने अनादि काल से अनन्त दुःख भोगे हैं। अगर हम भ्रमवश यह मानते हैं कि सुख बाहर से आता है तो उस मान्यता से पापों का बन्ध होता है, जिससे हमारी दुर्गति होती है। ऐसे विषचक्र में फँसकर अन्ततोगत्वा हम निगोद में जाते हैं। जहाँ हम अनन्तकाल तक अनन्त दुःख भोगते हुए रह सकते हैं।

ऐसे ही हमने दुःख से भरा हुआ अनन्त पुद्गल परावर्तन काल बिताया है। अब आगे क्या करना है? यह सोचकर हमें अपने पर दया करके स्वयं की खोज में लगना चाहिये और अपनी शुद्धात्मा से एकत्व की प्राप्ति करनी चाहिये। उसके लिये सर्वप्रथम आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यादि योग्यताएँ लानी चाहिये, पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पानी चाहिये। वर्तमान में यह बात लुप्त–सी हो गयी है और लोग भ्रमवश 'मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अकर्ता–अभोक्ता हूँ, मैं ज्ञाताद्रष्टा हूँ' आदि मानकर निश्चयाभासी बने फिरते हैं, वे इस ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं। वे सोचते हैं कि बौद्धिकरूप से ऐसा मानने से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायेगा। यह उनकी सबसे बड़ी भूल है जिसकी सज़ा हो सकती है अनन्तकाल तक दुःखमय निगोद निवास।

प्रमत्त और अप्रमत्त विशेषभाव हैं। प्रमत्तभाव पहले से छठवें गुणस्थान तक होते हैं और अप्रमत्त सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। दोनों ही विशेषभाव हैं और चूँकि आत्मानुभूति सामान्यभाव की होती है। इसलिये आत्मानुभूति में ये दोनों नहीं होते। आत्मानुभूति शुद्धनयरूप शुद्धात्मा की होती है और उस वख़्त सभी विशेषभाव गौण हो जाते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि आत्मानुभूति शुद्धात्मस्वरूप है, आत्मानुभूति अभेद शुद्धात्मा की ही होती है। आत्मानुभूति न प्रमत्त भाव की होती है और न अप्रमत्त भाव की, क्योंकि दोनों विशेषभाव हैं। आत्मानुभूति तो ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की होती है जिसमें कोई भी विशेषभाव नहीं होते और संसार दशा में जो भी अशुद्धि है वह सब विशेषभाव में ही होती है। इस कारण से ज्ञायक को यानी ज्ञानसामान्यभाव को शुद्ध कहा गया है।

कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण बिना अनुभव के निश्चय को बौद्धिकरूप से मात्र शब्दों

से ग्रहण करके निश्चयाभासी बन जाते हैं और स्वयं को छलते हैं। और कई लोग चतुर्थ गुणस्थान में आत्मानुभूति को न मानकर व्यवहाराभासी बनकर स्वयं को छलते हैं। यही वर्तमान काल की भयंकर विडम्बना है।

यहाँ आचार्यश्री बताते हैं कि द्रव्य–गुण–पर्याय, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य, ४७ शक्तियाँ आदि भेद सिर्फ़ अज्ञानी को समझाने के लिये हैं, वे भेद वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि वस्तु तो अभेद है। आत्मानुभूति में कोई भेद नहीं होते, क्योंकि आत्मानुभूति तो अभेद आत्मा की ही होती है। इसलिये भेद में रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह अनार्य भाषा है और वे सिर्फ़ अज्ञानी को समझाने के लिये ही हैं।

'आत्मानुभूति अभेद शुद्धात्मा की ही होती है' यह बताकर आगे यह भी बताया गया कि आत्मानुभूति करनेवाला जीव निश्चय से श्रुतकेवली है।

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, क्योंकि व्यवहार भेदरूप होता है और दूसरे के साथ सम्बन्ध बताता है। व्यवहार अनुभूतिस्वरूप आत्मा में विद्यमान नहीं होता। शुद्धनय भूतार्थ यानी अनुभूतिस्वरूप आत्मा में विद्यमान होता है। शुद्धनय का विषय शुद्धात्मा यानी द्रव्यात्मा है। द्रव्यात्मा त्रिकाल शुद्ध होती है। वह निगोद से लेकर मोक्ष में स्थित सभी जीवों में विद्यमान है। भूतार्थ को कई जगह सत्यार्थ भी कहा गया है। सत् यानी अस्तित्व और सत्यार्थ यानी विद्यमान होना। इसलिये सत्यार्थ यानी विद्यमान तथा असत्यार्थ यानी अविद्यमान समझना। कोई लोग असत्यार्थ को झूठा बताते हैं परन्तु यहाँ वैसा अर्थ लेना ग़लत है।

'ज्ञानी को निश्चयनय का और अज्ञानी को व्यवहारनय का आश्रय लेना चाहिये' यह बताकर आगे नौ तत्त्वों को भूतार्थनय से जाननेवाले को ज्ञानी कहा। आगे आनेवाले अधिकारों का निर्देश भी दे दिया।

आगे शुद्धनय की व्याख्या करते हुए यह भी बता दिया कि शुद्धनय आत्मानुभूति का विषय है, न कि बौद्धिकरूप से मान लेने का या बौद्धिक कल्पना करके अभ्यास करने का। उन्होंने यह बताया कि शुद्धनय की उत्पत्ति आत्मानुभूति से ही होती है। अर्थात् आत्मानुभूति के पहले अज्ञानी को शुद्धनय नहीं होता।

आत्मानुभूति करनेवाले जीव का ज्ञान प्रमाण हो गया है। इसलिये ही जीव सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है। अत : ज्ञानी को शुद्धनय होता है परन्तु अज्ञानी को शुद्धनय नहीं होता, उसे नयाभास ही होता है। इसलिये उसे व्यवहारनय का आलम्बन लेने को कहा गया है।

जैसे संसार में धन चाहनेवाला पुरुष सर्वप्रथम राजा की पहचान करता है और श्रद्धान करता है कि राजा के पास से ही उसे धन प्राप्त होगा। यह तय हो जाने के बाद वह राजा की सेवा में लग जाता है। वैसे ही मोक्ष के इच्छुक पुरुष को सर्वप्रथम वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूतिपूर्वक आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान करना चाहिये। बिना आत्मानुभूति के शुद्धात्मा की बौद्धिकरूप श्रद्धा को गधे के सींग की श्रद्धा समान माना जाता है।

जो कर्म, नोकर्म और भावकर्म से रहित शुद्धात्मा की अनुभूति है वह शुद्धनय है। यदि जीव का उपयोग आत्मानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मा में (द्रव्य में) लगता है तो मोक्ष होता है और अशुद्ध आत्मा में (पर्याय में) लगता है तो बन्ध होता है। वैसे शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाले का मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। इस अपेक्षा से उसे जितेन्द्रिय जितमोही और मोह से निर्ममत्ववाला कहते हैं। उसे निश्चय से प्रत्याख्यान है। ऐसे सम्यग्दृष्टि साधु का ही मोक्ष होता है।

जीव का उपयोग जहाँ लगता है उसी से उसके कर्मबन्धन अथवा कर्ममुक्ति तय होते हैं। जब तक जीव अज्ञानी है, तब तक उसका उपयोग अजीव में तथा अजीव के निमित्त से उपजे अपने भावों में लगता है। अजीव में मैंपन होने से मिथ्यात्वादि कर्मों का बन्ध होता है। इस कारण अज्ञानी की मुक्ति नहीं होती।

जीव और पुद्गलकर्म भिन्न द्रव्य होने से उनका आपस में कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है। दोनों का अपने–अपने भावों से कर्ता–कर्म सम्बन्ध है। इसलिये निश्चय से दोनों अपने–अपने भावों के कर्ता हैं। परन्तु आत्मा और पुद्गलकर्म का आपस में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि व्यवहारनय से आत्मा पुद्गलकर्म की कर्त्री होती है।

व्यवहारनय से यानी उपचार से जीव और देह को एक बताया जाता है किन्तु निश्चयनय से जीव और देह कभी भी एक नहीं हो सकते, क्योंकि जीव का लक्षण और देह का लक्षण भिन्न है। अतः दोनों भिन्न द्रव्य हैं। जीव और देह का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से व्यवहारनय से उन्हें एक कहा जाता है। वास्तव में वे एक नहीं हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि उन्हें भिन्न जानता है और सम्यग्दृष्टि की आत्मानुभूति को ही शुद्धनिश्चयनय कहा जाता है। इसलिये कहा है कि निश्चयनय से जीव और देह एक पदार्थ नहीं हैं।

तीर्थंकर, केवली और आचार्यों की निश्चय स्तुति सिर्फ़ ज्ञानी ही कर सकता है, क्योंकि ज्ञानी ने अपनी आत्मानुभूति में उनके आनन्द का आंशिक रूप से स्वाद चख लिया है और उसने

देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव भी किया है। अज्ञानी को देह और आत्मा की भिन्नता का अनुभव न होने के कारण उसमें देहात्मबुद्धि ही वर्तती है। इसलिये वह व्यवहार से ही देह की स्तुति करता है। जब वह आत्मानुभूति प्राप्त करके आत्मज्ञान प्राप्त करता है तभी निश्चय का जन्म होता है, शुद्धनय का अनुभव होता है। इसलिये आत्मानुभूति ही सबके लिये कर्तव्य है।

इस अधिकार में गाथा ३१ में 'ज्ञानस्वभाव से अधिक जानता है' ऐसा बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जानने एवं देखने स्वरूप विशेषात्मक ज्ञानस्वभाव से अधिक ज्ञानसामान्यभावरूप अनुभव करता है, मात्र जानता नहीं है, क्योंकि यदि मात्र जानना ही उद्देश्य होता तो हमने अनेकों बार नौ पूर्व तक अभ्यास करके उसे शब्दरूप से जाना है परन्तु मात्र बौद्धिकरूप से जानने से काम नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें सभी जगह जानने और देखने को अनुभवपूर्वक ही बताया गया है। इसे अन्यथा न समझें। इसलिये आत्मा को अनुभव से जानना ही जानने–देखने रूप ज्ञानस्वभाव से अधिक जानना है। जानने–देखने रूप ज्ञानस्वभाव विकल्पयुक्त होता है और ज्ञानस्वभाव से अधिक यानी ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति निर्विकल्प होती है।

हम अनादि से कई बार साधु बने तथा बाह्य रूप से मोह को जीता, अच्छे से बाह्याचार रूप चारित्र पालन किया। हम अनेक बार नौवें ग्रैवेयक तक के देव बने फिर भी हमने मोह को परास्त नहीं किया। यहाँ मोह से तात्पर्य दर्शनमोह से है। इससे पता चलता है कि हमारा जितमोही तत्त्वतः वास्तविक नहीं था। हम अनादि से बाह्य आचार में मोह को जीतकर ही सन्तुष्ट हो गये। संसार में रुलानेवाला मोह मन का संसार है। उस मन के संसार का नाश ही मोह को जीतना कहा जायेगा। इसलिये आत्मानुभूति आवश्यक है।

आत्मानुभूतिवाले को ही वास्तव में जितमोही कहते हैं, क्योंकि उन्होंने दर्शनमोह को जीता है यानी दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय किया है। दूसरे, सम्यग्दृष्टि का मैंपन शुद्धात्मा में होता है और शुद्धात्मा में मोह नहीं होता। इस अपेक्षा से भी परमार्थ के जाननेवाले उस साधु को जितमोही कहते हैं।

इस अधिकार में गाथा ३४ में निश्चयनय से ज्ञानसमान्यभाव रूपी शुद्धात्मा की अनुभूति को ही प्रत्याख्यान कहा गया है, क्योंकि आत्मानुभूति के कारण उस जीव का मैंपन ज्ञानसामान्यभाव में ही होता है। वह मैंपन कभी उपयोगरूप (शुद्धोपयोगरूप) होता है तो कभी लब्धिरूप (प्रतीतिरूप) होता है। इस प्रकार जब तक उस जीव का सम्यग्दर्शन उपस्थित रहता है तब तक उस जीव का

मैंपन ज्ञानसामान्य में ही रहता है। उस ज्ञानसामान्यभाव में कोई भी विशेषभाव न होने से सभी विशेषभावों का प्रत्याख्यान हो जाता है–ऐसा नियम से जानना चाहिये।

अज्ञानी को नयाभास होने से निश्चयाभास का भी ख़तरा बना रहता है। इसलिये सभी साधकों को सबसे पहले अनित्यादि बारह भावना, मैत्री आदि चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इत्यादि का प्रयोगात्मक अभ्यासरूप से उपयोग करके आत्मा की योग्यता बनाना आवश्यक है। यही अक्षय कल्याण का मार्ग है। धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) को विस्तार से इस टीका की भूमिका में समझाया गया है। जिसका भवान्त नज़दीक है उसी को यह बात समझ में आती है, दूसरे संसाररसिक लोग तो ऐसी बातें करते हैं कि आत्मा की उपरोक्त योग्यता प्राप्त किये बिना भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं या कई लोग तो उपरोक्त योग्यता को नियति अनुसार अपने समय पर अपने आप हो जायेगी ऐसा मानते हैं। यही वर्तमानकाल की सबसे भयानक विडम्बना है। यह समझकर ऐसी ग़लत मान्यताओं से दूर रहना आवश्यक है।

जब शुद्धात्मा का अनुभव होता है जो कि ज्ञानसामान्यभाव है उसमें मोह का उदय जो कि विशेषभाव है, नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ही ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से ऐसा कहता है कि 'मैं सिर्फ़ उपयोगरूप ही हूँ, मोह मेरा कुछ भी नहीं है'।

जैन दर्शन में छह द्रव्य बताये गये हैं–जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। आत्मा का धर्मादि द्रव्यों को जानना उपयोगविशेष है और आत्मा की अनुभूति उपयोगसामान्य है। इसलिये ज्ञानी कहता है कि 'धर्मादि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं सिर्फ़ उपयोगस्वरूप ही हूँ।' ऐसे साधक को आत्मा की अनुभूति करनेवाले धर्मादि द्रव्य से निर्ममत्ववाला कहते हैं। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मादि द्रव्य में मैंपन न होने को धर्मादि द्रव्य से निर्ममत्व कहा है। अज्ञानी का मैंपन पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप देह में होता है।

आत्मा सदैव अरूपी होने के कारण ज्ञानी कहता है 'मैं सदा अरूपी हूँ।' और आत्मानुभूति में ज्ञानी जिस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा का अनुभव कर रहा है, वह भी अरूपी ही है। अतः उसी आधार पर ज्ञानी कहता है 'मैं सदा अरूपी हूँ।'

यहाँ विशेष यह समझना है कि यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति स्वसमय की अनुभूति के बारे में जानकर स्वयं को भी बिना आत्मानुभूति के ही भ्रमवश वैसा (शुद्ध) मानने लगेगा तो वह नयाभास के कारण निश्चयाभासी बन जायेगा और वह इस ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

अजीव अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३९ – ४३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४४ – ४८

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति ।।39।।

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ।।40।।

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।41।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।42।।

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ।।43।।

भावानुवाद : *आत्मा को न जानते हुए पर को आत्मा बतानेवाले कई मूढ़ (अज्ञानी) तो अध्यवसान और कर्मों को जीव कहते हैं। कई अज्ञानी अध्यवसानों में तीव्र और मन्द अनुभाग (शक्ति) को जीव मानते हैं तथा कई अन्य नोकर्मों को भी जीव मानते हैं। कई अन्य लोग कर्मोदय को जीव मानते हैं और कई लोग तीव्र और मन्द रूप से जो कर्मों का अनुभाग होता है, उसे भी जीव मानते हैं। कई लोग उभय रूप से जीव और कर्म के संयोग को ही जीव मानते हैं अन्य कोई लोग कर्मों के संयोग को ही जीव मानते हैं। ऐसे अनेक प्रकार के दुर्मेध (अज्ञानी) पर को आत्मा कहते हैं, किन्तु निश्चयवादी (ज्ञानी) द्वारा वे परमार्थ (सत्य) कहनेवाले नहीं कहे गये हैं।*

टीका : यहाँ अज्ञानियों के अनेक मत बताये गये हैं। अज्ञानी को आत्मा का अनुभव नहीं होने से वह आत्मा के संयोगों में आत्मा की कल्पना करके उन्हें अज्ञानवश आत्मा मानता है। जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में लगता है, इससे उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। शुद्धात्मा में ये सभी भाव नहीं होते, इस अपेक्षा से इन गाथाओं का सम्यक् अर्थ समझना चाहिये।

जैसे कोई अज्ञानवश अध्यवसाय को यानी कर्मों के निमित्त से होनेवाले भावों को ही आत्मा मानता है। कई अन्य लोग अज्ञानवश कर्म को ही जीव कहते हैं यानी शरीर के कार्य को ही जीव मान लेते हैं। अन्य कई लोग अज्ञानवश अध्यवसानों में तीव्र–मन्द अनुभाग को ही जीव मानते हैं। जीव के कर्मों के निमित्त से अध्यवसाय में विचित्रता होती है, जिससे अनुभाग तीव्र–मन्द होते हैं। अन्य कई लोग अज्ञानवश नोकर्म यानी शरीर को जीव मानते हैं। अज्ञानी का मैंपन शरीर में होने से वह शरीर को ही अज्ञानवश जीव मानता है। अन्य कोई लोग कर्म के उदय को जीव मानते हैं। जैसे कर्म के उदय से क्रोध–मान–माया–लोभ के भाव होते हैं या हास्य–भय–रति–अरति आदि नोकषाय रूपी भाव होते हैं उनको ही जीव मान लेते हैं। अन्य कई लोग कर्म के तीव्र–मन्द अनुभाग के निमित्त से जीव के जो तीव्र–मन्द भाव होते हैं, उसे जीव मानते हैं।

सम्यग्दर्शन के अभाव में यदि कोई अज्ञानी अपने को भ्रमवश शुद्धात्मा मानने लगता है तब वह सिर्फ़ कल्पना में ही अपने को भ्रमवश शुद्धात्मा मानने लगता है और उस ख़ुशफ़हमी में रहता है। जैसे कोई गधे के सींग का श्रद्धान सिर्फ़ कल्पना में ही करता है वैसे ही अज्ञानी को भी कल्पना में ही बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा का भ्रमरूप श्रद्धान होता है।

कर्म के अनुभाग से जीव में कई प्रकार की विचित्रताएँ मौजूद होती हैं। उससे उनके गुणों की पर्याय में तीव्रता–मन्दता आती है। जैसे कई लोगों की बुद्धि तीव्र होती और कई लोगों की मन्द होती है और उसी में उनका अहंकार रहता है। अन्य कई लोग जीव और कर्म की युति को ही अज्ञानवश जीव मानते हैं। अज्ञानी का मैंपन शरीर में होने के कारण वह शरीर को ही अज्ञानवश जीव मानता है और आत्मा के भावों को भी शरीर के भाव मानता है। इसलिये वह अज्ञानवश आत्मा के भाव और शरीर के कार्य, दोनों को मिश्र रूप से जीव मानता है। अन्य कई लोग अज्ञानवश कर्मों के संयोग को ही जीव मानते हैं।

कर्मों के कारण शरीर, इन्द्रिय इत्यादि मिलते हैं और अज्ञानी अज्ञानवश उन शरीरादि में ही मैंपन करता है। इसलिये वह कर्मों के संयोग से मिलनेवाले शरीर को अज्ञानवश जीव मानता है।

इस प्रकार के तथा अन्य नाना प्रकार के दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव पर को अज्ञानवश आत्मा मानते हैं। इस वजह से उनका दुःखमय संसार अनादि से हरा–भरा है, कभी सूखा ही नहीं। उनको संसार भवरोगरूपी नहीं लगता है, बल्कि वे उसी में सुख ढूँढते हैं। जबकि सुख बाहर से मिलता ही नहीं, सुख तो आत्मा का गुण है। इसलिये वह भीतर से ही आता है।

इसलिये निश्चयवादियों (ज्ञानियों) ने ऐसे अज्ञानियों को परमार्थवादी नहीं माना। संसार में सुख ढूँढना मृग का मरीचिका के पीछे भागने जैसा है। वहाँ हम मृग को मूर्ख समझते हैं परन्तु वस्तुतः हम स्वयं मूर्ख हैं, क्योंकि मृग का तो एक ही जन्म बिगड़ेगा। परन्तु सांसारिक सुख के पीछे भागने से हमारा अनन्तकाल बिगड़ सकता है। इसलिये यथाशीघ्र सभी को वैराग्यादि आत्मा की योग्यताओं को पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये और आत्मसन्मुखता पाकर आत्मप्राप्ति करनी चाहिये, जिससे दुःखमय संसार का अन्त हो और अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त हो।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४९

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।44।।

भावानुवाद : *केवली जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि ऐसे सभी भाव पुद्गलद्रव्य परिणाम से निष्पन्न हुए हैं। उन्हें जीव कैसे कहेंगे?*

टीका : पूर्व में गाथा क्रमांक ३९–४३ में विभिन्न दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टियों की मान्यताएँ बतायी गयी हैं। जैसे कोई अध्यवसान को, कोई कर्म को, कोई अध्यवसानों में तीव्र–मन्द अनुभाग को, कोई नोकर्म को, कोई कर्म के उदय को, कोई कर्म के तीव्र–मन्द अनुभाग के निमित्त से जीव के जो तीव्र–मन्द भाव होते हैं उन्हें, कोई जीव और कर्म की युति को और कोई कर्मों के संयोग को ही अज्ञानवश जीव मानते हैं।

ये सभी पुद्गलकर्मों के निमित्त से निष्पन्न पर्यायें हैं, उन्हें ही अज्ञानवश जीव मान लेनेवाली मान्यताएँ हैं। समयसार अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्म के अनुसार यानी आत्मानुभूति में

जीव के अन्य पुद्गलद्रव्यों के निमित्त से उपजे भावों में मैंपन नहीं होता, सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही मैंपन होता है। इसलिये समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थ के अनुसार जीव सिर्फ़ द्रव्यात्मा (शुद्धात्मा) को ही कहते हैं, जो तीनों काल एक समान शुद्ध होती है। वही शुद्धात्मा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर चतुर्थादि गुणस्थान में अनुभव में आती है। इसलिये उस शुद्धात्मा को ही अध्यात्म में जीव कहा गया है।

कर्मनिमित्त से निष्पन्न जीव के सभी भाव होते तो जीव में ही हैं परन्तु उनमें ज्ञानी का मैंपन नहीं होने से उन्हें केवली जिनेन्द्र भगवान आत्मानुभूति की अपेक्षा से जीव नहीं कहते। इसलिये इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य बताते हैं कि ऐसे सभी भावों को जीव कैसे कह सकते हैं? अध्यात्म के अनुसार उन्हें जीव नहीं कह सकते, क्योंकि वे परमार्थ स्वरूप जीव में नहीं हैं, वे आत्मानुभूति में नहीं हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ५०

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।।45।।

भावानुवाद : *जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि आठों प्रकार के सभी कर्म पुद्गलमय हैं। पककर उदय में आनेवाले उन कर्मों का फल दुःख है—ऐसा कहा है।*

टीका : जिनेन्द्रदेव के बताये हुए आठ प्रकार के कर्म जिनशासन में प्रसिद्ध हैं। इन आठों कर्मों के कई भेद हैं। वे सभी पुद्गल की कार्मण वर्गणा स्वरूप उपादानकारण से एवं जीव के भाव के निमित्त से बनते हैं। इसलिये जब वे पककर उदय में आते हैं तब फल देते हैं।

वैसे कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। पुद्गलस्वरूप कर्म को द्रव्यकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्मों के उदय के निमित्त से जीव के जो भाव बनते हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं। जब वही भावकर्म नये कर्मबन्ध में निमित्त बनते हैं तब उन्हें आस्रव के निमित्त की अपेक्षा से भावास्रव भी कहते हैं।

यहाँ जिनेन्द्रदेव ने कर्मों को पुद्गलमय बताया है। अध्यात्मशास्त्र में शुद्धात्मानुभूति की अपेक्षा से द्रव्यकर्म तथा भावकर्म, दोनों को पुद्गलमय कहा जाता है, क्योंकि आत्मानुभूति में वे दोनों नहीं होते। आगे जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि जब इन कर्मों का पककर उदय होता है, तब

वे जीव को फल देते हैं। उस फल को जिनेन्द्रदेव ने दुःख कहा है। जबकि सांसारिक जीवों को सुख और दुःख दोनों अनुभव में आते हैं, तो फिर उन्हें दुःख क्यों कहा है?

अज्ञानी जनों को सुख हो या दुःख हो, हर समय मिथ्यात्व का बन्ध होता ही है। साथ ही मिथ्यात्व के कारण अनन्तानुबँधी कषायों का भी बन्ध होता है। वे कषाय जीव को अनन्तकाल तक दुःख देने में सक्षम हैं। इसलिये संसार में जो सुख लगता है वह तत्त्वतः सुख नहीं है, सुखाभास है। अज्ञानी का सुख तो दुःखों को आमन्त्रण ही है। दूसरे, अज्ञानी का जो सुख है वह आकुलतासहित होने के कारण दुःख ही है, क्योंकि आकुलता तो दुःख ही है, न कि सुख। सुख तो अनाकुलता का नाम है। इसलिये जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि पककर उदय में आनेवाले उन कर्मों का फल दुःख है।

दूसरे, इन्द्रियजनित सुख दुःखपूर्वक ही होता है। जितना दुःख ज़्यादा उतना सुख ज़्यादा, जैसे जिसे भूख ज़्यादा है उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख ज़्यादा मिलेगा परन्तु जिसे भूख नहीं है या भोजन करके बैठा है उसे भूख का दुःख नहीं होने से उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख नहीं मिलेगा। इन्द्रियजनित सुख भोगने के बाद अब और सुख भोगने की क्षमता न होने का दुःख होता है, जैसे दो दिन से भूख का दुःख सहनेवाले को यदि स्वादिष्ट भोजन मिले तो सुख लगता है परन्तु जब उसका पेट भर जाता है और उसका मन और खाने की मज़ा लेना चाहता है तब वह वापस दुःखी हो जाता है। जिस सुख के पहले दुःख हो, उसके पीछे दुःख हो और उसका फल भी दुःख हो तो उसे सुख कैसे कह सकते हैं? इस अपेक्षा से भी कहा है कि 'पककर उदय में आनेवाले उन कर्मों का फल दुःख है।'

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ५१

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।।46।।

भावानुवाद : *जिनेन्द्र भगवान ने उपदेश दिया है कि अध्यवसान आदि सभी भाव जीव हैं—यह व्यवहारनय का कथन है।*

टीका : पूर्व की गाथा में जिनेन्द्रदेव ने कर्म के फल को पुद्गलमय बताया है। वह निश्चयनय का कथन है, क्योंकि उसमें कर्मों के कारण होनेवाले जीव के भाव को भी पुद्गलमय

बताया है, क्योंकि वे भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं। आत्मानुभूति में जीव का जो भाव है वह शुद्धनय या शुद्धनिश्चयनय से जीव कहा जाता है और जो जीव के भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। इस प्रकार व्यवहार झूठा नहीं है, परन्तु वह आत्मानुभूति में विद्यमान यानी उपस्थित नहीं है। मगर कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार को झूठा बताकर अपना और दूसरे अनेकों का अहित कर रहे हैं।

इस गाथा में पूर्व की गाथा का दूसरा पहलू बताया है। इस गाथा में कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव (अध्यवसान) को जीव बताया है। ये अध्यवसान होते तो जीव में ही हैं, उनका जीव के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध भी है। जीव उपादान रूप से ही उन भावों को करता है। इसलिये उन्हें जीव बताया है। यदि वे जीव नहीं होते तो न तो बन्ध एवं निर्जरा की अवधारणा होती और न ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था बन पाती। और नवतत्त्व की अवधारणा भी नहीं बन पाती। यानी मोक्षमार्ग ही नहीं होता। इसलिये अध्यवसानादि सभी भाव जीव हैं–ऐसा व्यवहारनय से बताया गया है।

इसे व्यवहार कहने का तात्पर्य यह है कि वे अनुभूति में आनेवाली आत्मा में नहीं होते। इसी तरह निश्चय और व्यवहार को यथार्थ समझना आवश्यक है। जब तक जीव अज्ञानी है, तब तक उसमें शुद्धनय (निश्चयनय) प्रकट नहीं होता।

शुद्धनय आत्मानुभूति से ही प्रकट होता है। व्यवहारनय दो प्रकार का होता है।

१. अशुद्धिरूप – राग, द्वेष, आदि। वे आत्मानुभूति में न होने से व्यवहार हैं।

२. भेदरूप – द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ४७ शक्तियाँ आदि। ये सभी अभेद द्रव्य में भेद करके बताये है। इसलिये व्यवहार हैं।

इस अपेक्षा से यहाँ व्यवहारनय से अध्यवसान आदि को जीव बताया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४७, ४८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ५२, ५३

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ।।47।।

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि–अण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ।।48।।

भावानुवाद : *सेना के समूह के लिये यह कहना कि 'राजा निकला' यह व्यवहार कथन है। वहाँ राजा तो एक ही है। इसी प्रकार अध्यवसानादि अन्य भावों को सूत्र में व्यवहार से जीव कहा है, किन्तु उनमें निश्चय से जीव तो एक ही है।*

टीका : जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में लगता है, इससे उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। इसी शुद्धात्मारूप से राजा एक ही है यानी निश्चय से जीव तो एक ही है।

सेना के समूह के साथ जब राजा निकलता है तो लोग व्यवहार से कहते हैं कि राजा निकला है। वास्तव में पूरे समूह में राजा तो एक ही है। बाक़ी तो सब उनके सैनिक आदि ही हैं।

इसी प्रकार सूत्र (आगम) में अध्यवसानादि भावसहित जीव को ही व्यवहार से जीव कहा गया है। वास्तव में तो उनमें जीव एक ही है यानी अध्यवसान अनेक होने पर भी उनका जो हार्द अर्थात् द्रव्यरूप जीव तो एक ही है। पर्याय अनेक होने पर भी उन सभी पर्यायों का हार्द अर्थात् द्रव्यात्मा एक ही है। आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा तो एक ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ५४

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।49।।

भावानुवाद : *जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त चेतनगुणवाला, शब्दरहित, अलिंगग्राह्य एवं निराकार जानो।*

टीका : जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में लगता है, इससे उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही हो जाता है। आत्मानुभूति से शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। इसी शुद्धात्मारूप जीव को यहाँ 'रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त चेतनगुणवाला, शब्दरहित, अलिंगग्राह्य एवं निराकार' कहा गया है।

यहाँ आत्मानुभूति की विषयरूप आत्मा का वर्णन है। जब साधक को वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने के बाद शुद्धात्मा अनुभव में आती है, तब वह शुद्धात्मा सामान्यभाव के रूप में होती है। उसमें कोई भी विशेषभाव नहीं होते। जानना–देखना आत्मा की पहचान/लक्षण होने के बावजूद भी वे विशेषभाव हैं। इसलिए वे भाव आत्मानुभूति अर्थात शुद्धात्मा में नहीं होते, और यही समयसार ग्रन्थ का हार्द (मर्म) है। अत: उस आत्मानुभूति के विषय रूपी शुद्धात्मा को अलिंगग्राह्य बताया गया है।

रस, रूप, गन्धादि पुद्गल के गुण हैं। आत्मा उन्हें इन्द्रियों के माध्यम से महसूस करती है। वे भाव विशेषभाव हैं। वे विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होते। आत्मा के जो भाव व्यक्त हैं, वे विशेषभाव हैं और आत्मानुभूतिवाला भाव सामान्यभाव होने की वजह से अव्यक्त कहा गया है। आत्मानुभूतिवाला भाव सिर्फ़ ज्ञायक भाव है। इसलिये उसे चेतनागुणयुक्त कहा गया है।

आत्मानुभूतिवाले सामान्यभाव में न सुनना होता है, न बोलना होता है और न ही शब्दश्रुतज्ञान होता है। इसलिये उसे शब्दरहित कहा गया है। आत्मानुभूति में आनेवाली आत्मा सामान्यभाव होने की वजह से अलिंगग्राह्य है, क्योंकि उसका कोई लिंग नहीं है, यानी उसकी इन्द्रियों से ग्राह्य कोई पहचान नहीं है। वह सिर्फ़ आत्मानुभूति का विषय है, उसे सिर्फ़ आत्मानुभूति से जाना जा सकता है।

वैसे तो शरीरस्थ या सिद्ध दोनों जीवों का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। शरीरस्थ जीवों का आकार प्रायः शरीरसमान ही होता है और सिद्धों का आकार उनके चरमशरीर से कुछ कम होता है परन्तु इस गाथा में आत्मानुभूति में आनेवाली आत्मा की बात है, जो कि निराकार है, क्योंकि वह ज्ञानसामान्यभाव होने से उसमें ज्ञानाकाररूपी कोई भी विकल्प नहीं होते। आत्मानुभूति में आनेवाली आत्मा सिर्फ़ ज्ञायकरूप (शुद्धात्मा) है।

इसलिये उसमें न रसास्वाद है, न रूपदर्शन; न गन्धग्रहण, न व्यक्तता; न बोलना, न सुनना है। न तो उसे इन्द्रियों से जाना जा सकता है और न ही उसका कोई आकार है। यही है अनुभव में आनेवाली आत्मा का यथार्थ स्वरूप, क्योंकि आत्मानुभव इन्द्रियजन्य अनुभव से भिन्न ही होता है। इस प्रकार यहाँ आत्मानुभूति में आनेवाली आत्मा का वर्णन किया गया है, समयसार ग्रन्थ अध्यात्मग्रन्थ होने से इसमें ज़्यादातर स्थानों पर इसी जीव का वर्णन किया गया है। इसको कोई अन्यथा लेकर यदि बिना आत्मानुभूति के भी भ्रमवश स्वयं को यहाँ कहे अनुसार

शुद्ध मानता है तो वो ख़ुद के लिये अनन्त संसार बढ़ानेवाला ही होता है, क्योंकि आचार्यश्री ने पहले ही इसे अनुभव करके प्रमाण करने को कह दिया है, न कि ख़ुशफ़हमी में रहने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ५० – ५५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ५५ – ६०

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।50।।

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं, णोकम्मं चावि से णत्थि ।।51।।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ।।52।।

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बन्धठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।53।।

णो ठिदिबन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसट्ठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिट्ठाणा वा ।।54।।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ।।55।।

भावानुवाद : *जीव का न तो वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न शब्द है, न शरीर है, न संस्थान (आकार) है और न ही संहनन (अस्थिरचना) है। जीव में राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं, आस्रवबन्ध का कारण नहीं, कर्म नहीं और नोकर्म भी नहीं। जीव में न वर्ग है, न वर्गणा है, न स्पर्धक है, न अध्यात्मस्थान है और न ही अनुभागस्थान है। जीव में न कोई योगस्थान है, न बन्धस्थान है, न उदयस्थान है और न ही कोई मार्गणास्थान है। जीव में न स्थितिबन्धस्थान है, न संक्लेशस्थान है, न विशुद्धिस्थान है और न ही संयमलब्धिस्थान है। जीव में न जीवस्थान है और न ही जीव के गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।*

टीका : जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है तब उसका उपयोग कर्मनिरपेक्ष ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में लगता है, इससे उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही हो जाता है। आत्मानुभूति से शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। इसी शुद्धात्मारूप जीव में उपरोक्त सभी नहीं है—ऐसा कहा गया है।

यह अध्यात्मशास्त्र होने के कारण इसका उद्देश्य अजीव से और जीव के विशेषभाव से भेदज्ञान कराना है। इसलिये यहाँ पुद्गल से और पुद्गल के निमित्त से बने जीव के विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होते–यह बताया गया है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, शरीर, संहनन, संस्थान सभी पुद्गल के ही गुण या पर्याय हैं। उनका आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने के कारण अज्ञानी इन्हीं में मैंपन कर बैठते हैं। अतः समझाया है कि ये जीव नहीं हैं, क्योंकि ये जीव से प्रकट रूप से भिन्न हैं।

अनादि से जीव का कर्मों के साथ सम्बन्ध होने से कर्मों के निमित्त से जीव का राग–द्वेष में परिणमन होता है। जीव को मोह के कारण आस्रव और बन्ध भी होते हैं। जीव को मोहादि के कारण आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है और उसके कारण मन–वचन–काया का परिस्पन्दन यानी कार्य होता है। इसी से नये कर्म भी बँधते हैं और उन कर्मों के अनुरूप ही शरीरादि नोकर्मों का संयोग होता है।

जीव के साथ बँधनेवाले कर्मों के वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक होते हैं। कर्मों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से जीव के अध्यात्मस्थान और अनुभागस्थान भी होते हैं। जीव को मिले मन, वचन, काया के कारण उनके भी योगस्थान होते हैं। योग के कारण बँधनेवाले कर्मों के बन्धस्थान भी होते हैं। उन कर्मों के उदयानुसार जीव के उदयस्थान होते हैं। उन कर्मों के उदय से जीव के भिन्न–भिन्न मार्गणास्थान होते हैं। जीव के साथ कर्मबन्धन के कारण जीव के स्थितिबन्धस्थान होते हैं। उन कर्मों के उदय से जीव के विविध संक्लेशस्थान भी होते हैं। कर्मों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के कारण जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान तथा गुणस्थान बनते हैं। जीव की निर्मलता के तारतम्य अनुरूप ही संयमस्थान और गुणस्थान होते हैं। यह प्रमाण रूप से जीव का वर्णन हुआ, यानी व्यवहारनय से जीव का वर्णन हुआ।

जीव को वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करके जब आत्मानुभूति होती है, तब सिर्फ़ शुद्धात्मा ही अनुभव में आती है। शुद्धात्मा में ऊपर कहे पुद्गल या पुद्गलाश्रित भाव न होने से यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि ये सभी भाव जीव नहीं हैं। यानी आत्मानुभूति में नहीं हैं।

समयसार अध्यात्मग्रन्थ होने के कारण इसमें मात्र त्रैकालिक शुद्ध जीव को ही जीवरूप से ग्रहण किया गया है, जिसे द्रव्यात्मा भी कहते हैं। इस शुद्धात्मा को परम पारिणामिक भाव, सामान्यभाव, नित्य भाव, ध्रुव भाव, कारण समयसार, कारण परमात्मा भी कहा गया है। इस ग्रन्थ में आत्मानुभूतिवाली आत्मा का ही वर्णन है। यही इस ग्रन्थ का हार्द है।

कई अज्ञानी इसे पढ़कर बिना आत्मानुभूति के ही भ्रमवश स्वयं को वर्णादि से और रागादि से मुक्त मानने लगते हैं। प्रमाणज्ञान का जन्म आत्मानुभूति से ही होता है। इसी लिये अज्ञानी में प्रमाणज्ञान का अभाव होता है और प्रमाणज्ञान का अभाव होने से उसमें सम्यक् नय का भी अभाव होता है, क्योंकि नय प्रमाण का अंश है और जब ज्ञान प्रमाण ही नहीं हुआ तब उसका अंश भी सम्यक् कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। अतः सम्यक् नय का अभाव होने से उसे नयाभास होता है। इस नयाभास के कारण अनेक जीव निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी या उभयाभासी हो जाते हैं।

इन गाथाओं में आत्मानुभूति में जो आत्मा अनुभव में आती है उसी को जीव कहा गया है। इसलिये यह समझना चाहिये कि यह ज्ञानी का वर्णन है। यदि कोई अज्ञानी इसे ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से शब्दशः स्वयं के लिये मान लेगा तो भ्रम में चला जायेगा यानी निश्चयाभासी बन जायेगा। इससे सभी को बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ५६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६१

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादिया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।56।।

भावानुवाद : *ये वर्णादि से गुणस्थान तक भाव व्यवहारनय से तो जीव के होते हैं किन्तु निश्चयनय से जीव के नहीं होते।*

टीका : आत्मानुभूति में जीव का जो भाव है वह शुद्धनय या शुद्धनिश्चयनय से जीव कहा जाता है और जीव के जो भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। इस प्रकार व्यवहार झूठा नहीं है, परन्तु वह आत्मानुभूति में विद्यमान यानी उपस्थित नहीं है। मगर कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार को झूठा बताकर अपना और दूसरों का अहित कर रहे हैं।

समयसार अध्यात्मग्रन्थ होने के कारण उसमें शुद्धनय रूप जीव का ही वर्णन है। इसलिये 'पूर्व की गाथाओं में जो वर्णादि और रागादिभाव जीव में नहीं हैं' ऐसा बताया गया है वह निश्चयनय का कथन है।

व्यवहारनय से तो वे जीव के ही कहे जाते हैं, क्योंकि वर्णादि का जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है और रागादिभावों का जीव के साथ क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध है। निश्चयनय से आत्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा ही जीव है।

इसलिये ज्ञानी का मैंपन शुद्धनय की विषयभूत शुद्धात्मा में ही होता है और अज्ञानी का मैंपन व्यवहारनयवाली आत्मा और एकक्षेत्रावगाही शरीर में होता है।

इससे समझ में आता है कि अज्ञानी का मैंपन पुद्गल और पुद्गलाश्रित भावों में होता है और ज्ञानी का मैंपन शुद्धात्मा में होता है। यही इस गाथा का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ५७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६२

एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।57।।

भावानुवाद : *इनसे (वर्णादि से) जीव का सम्बन्ध दूध और जल के समान समझा जाना चाहिये। वे वर्णादि जीव के बिलकुल नहीं होते, क्योंकि जीव तो उपयोगगुणमय होता है।*

टीका : पूर्व में कहे गये वर्णादि से जीव का सम्बन्ध दूध और जल के समान समझना चाहिये यानी वर्णादि से जीव का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। परन्तु इनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जीव तो उपयोगमय है और वे सभी अजीव हैं। इसलिये वास्तविक जीव की पहचान उपयोग से होती है, वर्णादि से नहीं।

परन्तु अज्ञानियों को उपयोगरूपी शुद्धात्मा का अनुभव न होने के कारण उनका मैंपन वर्णादि और रागादि में होता है। इसलिये व्यवहार में उन्हें जीव कहा जाता है। मात्र बौद्धिकरूप से यह मान लेना कि वर्णादि जीव के नहीं होते, जीव को सम्यग्दृष्टि नहीं बना देता। बल्कि भ्रम से ऐसा मान लेने से वह सम्यग्दर्शनप्राप्ति का प्रयास भी नहीं करेगा, क्योंकि उसे लगेगा कि यह बौद्धिक मान्यता ही पर्याप्त है। जबकि वास्तव में, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये वैराग्य आदि योग्यताओं को अर्जित करना और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख बनने का ईमानदारीपूर्वक प्रयास करना आवश्यक है। तब जाकर उसे शुद्धात्मानुभूति होती है और तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तभी यह सत्य आत्मानुभूति के माध्यम से स्पष्ट रूप से अनुभवपूर्वक समझ में आता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ५८ – ६० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६३ – ६५

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।58।।

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।59।।

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।।60।।

भावानुवाद : *मार्ग में व्यक्ति को लूटा जाता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि 'यह मार्ग लूटा जाता है' किन्तु वास्तव में कोई मार्ग लूटा नहीं जाता, लूटा तो व्यक्ति जाता है। इसी प्रकार जिनेन्द्रदेव ने कर्मों और नोकर्मों से उत्पन्न वर्णादि को देखकर उन्हें व्यवहार से जीव कहा है। निश्चय के जानकार जो गन्ध, रस, स्पर्श और रूप है, जो देह तथा संस्थानादि हैं उन सभी को व्यवहार से जीव के कहते हैं।*

टीका : आत्मानुभूति में जीव का जो भाव है वह शुद्धनय या शुद्धनिश्चयनय से जीव कहा जाता है और जीव के जो भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। इस प्रकार व्यवहार झूठा नहीं है, परन्तु वह आत्मानुभूति में विद्यमान यानी उपस्थित नहीं है। मगर कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार को झूठा बताकर अपना और दूसरों का अहित कर रहे हैं।

जैसे किसी मार्ग में पथिकों को लूटा जाता है तो व्यवहारी लोग आपस में कहते हैं कि 'वह मार्ग लूटा जाता है', उस मार्ग पर मत जाना। कहा तो ऐसे ही जाता है परन्तु वास्तविकता यही है कि पथिक लूटा जाता है, न कि मार्ग। इसी तरह जीव में कर्मों तथा नोकर्मों से उत्पन्न वर्णादि को देखकर यानी शरीर और शरीर के वर्णादि बाह्य रूप को देखकर जिनेन्द्रदेव व्यवहार से उसे जीव के कहते हैं।

यह व्यवहार प्रचलित है कि देह के गन्ध, रस, स्पर्श और रूप हैं और उस देह को और उस देह के आकारादि को व्यवहार से जीव के बताया जाता है। इसलिये निश्चय के द्रष्टा भी इन्हें व्यवहार से जीव के कहते हैं। परन्तु ये सभी जीव में तीनों काल नहीं होते। वास्तव में जीव तो त्रिकाल मात्र उपयोगमय है। इसलिये उस सिर्फ़ उपयोगमय जीव में ये सभी नहीं हैं। इसलिये निश्चय के जानकार यानी ज्ञानी इन सबको सिर्फ़ व्यवहार से ही जीव के बताते हैं निश्चय से नहीं, क्योंकि आत्मानुभूति का विषय सिर्फ़ त्रिकाल उपयोगमय जीव ही होता है।

यही समयसार ग्रन्थ का हार्द है। मगर यदि कोई अज्ञानी भी बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से ऐसा मानने लग जाय तो इससे उसका आत्मकल्याण नहीं होता। परन्तु उसे आत्मानुभूति प्राप्त करके शुद्ध निश्चय प्रकट करना है। तभी वह कह पायेगा है कि जो गन्ध, रस, स्पर्श और रूप है, जो देह तथा संस्थानादि हैं, वे सभी व्यवहार से जीव हैं, निश्चय से नहीं। क्योंकि अज्ञानी को शुद्धनिश्चयनयरूपी आत्मानुभूति प्राप्त ही नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६६

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादओ केई ।।61।।

भावानुवाद : *संसार अवस्था में स्थित जीवों के वर्णादि होते हैं परन्तु संसार से मुक्त जीवों के कोई वर्णादि नहीं होते।*

टीका : आत्मानुभूति में जीव का जो भाव है वह शुद्धनय या शुद्धनिश्चयनय से जीव कहा जाता है और जीव के जो भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। इस प्रकार व्यवहार झूठा नहीं है, परन्तु वह आत्मानुभूति में विद्यमान यानी उपस्थित नहीं है। मगर कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार को झूठा बताकर अपना और दूसरों का अहित कर रहे हैं।

दूसरे, जीव के जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, शरीर, संहनन और संस्थान होते हैं वे सिर्फ़ संसार में स्थित जीवों के ही होते हैं। संसार से मुक्त जीवों में नहीं होते। जीव को वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करके जब आत्मानुभूति होती है, तब मात्र शुद्धात्मा ही अनुभव में आती है। उस शुद्धात्मा का बार–बार अनुभव करते हुए जीव को गुणस्थान आरोहण करते हुए क्षपकश्रेणी लग जाती है और कैवल्य की प्राप्ति होती है। आगे आयु का अन्त होने पर वह जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।

जब किसी भी जीव का मोक्ष हो जाता है तब उसकी आत्मा शरीर से मुक्त हो जाती है। इसलिये संसार अवस्था में स्थित जीवों के वर्णादि होते हैं परन्तु संसार से मुक्त जीवों के कोई वर्णादि नहीं होते। अत: वर्णादि व्यवहार से जीव के कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं, क्योंकि वे सिद्धों के नहीं होते और सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धात्मानुभूति में भी नहीं होते। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, शरीर, संहनन और संस्थान शुद्धात्मानुभूति के विषय नहीं हैं, शुद्धात्मानुभूति की विषय मात्र ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा ही होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६७

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ।।62।।

भावानुवाद : *यदि कोई इस प्रकार मानता है कि ये सब अवस्थाएँ जीव की ही हैं तो निश्चित ही जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा।*

टीका : जीव के जो वर्णादिक हैं यानी गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, शरीर, संहनन और संस्थान, ये सभी यदि कोई निःसन्देहरूप से जीव के बताता है तो यह समझना चाहिये कि जीव तो उपयोगमय है और पुद्गल गन्ध, रस, स्पर्श, वर्ण इत्यादि वाला है। तब फिर ये जो पुद्गल के गुण और पर्याय हैं उन्हें नि:सन्देह जीव का कैसे कहा जा सकता है? यदि कोई उन्हें नि:सन्देह जीव का बताता है तब तो जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रहेगा।

वास्तव में उनका जीव के साथ संसार अवस्था में एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उन्हें वास्तव में जीव का नहीं कहा जा सकता। यदि कोई उन्हें व्यवहार से जीव का कहे तो कह सकता है परन्तु निश्चय से वे जीव के नहीं हैं। क्योंकि जब किसी भी

जीव का मोक्ष हो जाता है, तब उसकी आत्मा शरीर से मुक्त हो जाती है। इसलिये संसार अवस्था में स्थित जीवों के वर्णादि होते हैं परन्तु संसार से मुक्त जीवों के कोई वर्णादि नहीं होते।

यदि ये सभी अवस्थाएँ वास्तव में जीव की होतीं, तो वे सिद्धों में भी अवश्य पायी जातीं। किंतु चूँकि सिद्धों में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये यह निश्चित है कि ये अवस्थाएँ जीव की स्वभावतः नहीं हैं। वस्तुतः ये सभी अवस्थाएँ संसारी जीव के साथ सिर्फ़ एकक्षेत्रवगाह सम्बन्ध के रूप में स्थित हैं, न कि जीव के नित्य धर्म स्वरूप में।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६३, ६४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ६८, ६९

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ।।63।।

एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ।।64।।

भावानुवाद : *यदि तुम्हारे मत में संसार में स्थित जीवों के वर्णादि होते हैं तो उस कारण से संसार में स्थित जीव रूपित्व को प्राप्त हो जायेंगे। इस प्रकार हे मूढ़मति! पूर्वकथित रूपित्व के लक्षण से पुद्गलद्रव्य ही जीव हुआ और उसी ने निर्वाण को प्राप्त किया। इसका अर्थ तो यह होगा कि पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हो गया!*

टीका : संसार अवस्था में स्थित जीवों को वर्णादि के साथ सिर्फ़ एकक्षेत्रावगाही का सम्बन्ध होता है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता। यही बात इन गाथाओं में समझायी गयी है।

इसलिये कहा गया है की यदि तुम्हारे मत में संसारस्थित जीवों के वर्णादि होते हैं यानी यदि तुम्हारे मत में संसारस्थित जीवों का वर्णादि से तादात्म्य सम्बन्ध होता है तो संसारस्थित जीव रूपित्व को प्राप्त हो जायेंगे। यदि ऐसा होता है तब तो सिद्ध भी रूपी हो जायेंगे! परन्तु सिद्ध तो अरूपी होते हैं, क्योंकि आत्मा का मूल स्वभाव अरूपित्व है और पुद्गल का मूल स्वभाव रूपित्व है।

इसलिये यदि संसार में स्थित जीवों का वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध माना जाये तो जीव ही रूपित्व को प्राप्त हो जायेंगे। अतः संसार में स्थित जीवों के वर्णादि के साथ

एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध मानना तो ठीक है परन्तु तादात्म्य सम्बन्ध मानना अनुचित है। संसारी जीव का पुद्गल के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से व्यवहार से जीव को कथंचित् रूपी भी कहा जा सकता है परन्तु निश्चय से उसे रूपी मानने से तो जीव और पुद्गल एकरूप ही हो जायेंगे। अत: वास्तव में यानी निश्चयनय से तो जीव अरूपी ही है।

समयसार अध्यात्मशास्त्र होने के कारण इसका उद्देश्य सिर्फ़ शुद्धात्मानुभूति का वर्णन करना ही है। और उसमें सिर्फ़ शुद्धात्मा को ही जीव बताया गया है, क्योंकि भेदज्ञान के बाद जिस आत्मा की अनुभूति होती है उसमें कोई भी रूपी भाव नहीं होते। अतः इन गाथाओं में बताये वर्णादि आत्मानुभति में नहीं होते–यह बताया गया है और अनादि के मूढ़मति अज्ञानी जीव को आत्मप्राप्ति के लिये प्रेरित किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६५, ६६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७०, ७१

एक्कं च दोण्णि, तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।65।।

एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ।।66।।

भावानुवाद : *एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, बादर, पर्याप्त और इतर जीव (सूक्ष्म और अपर्याप्त जीव) – ये सारी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। इन प्रकृतियों के कारण जीवस्थान (जीवों के भेद) बने हैं। इसलिये उन पुद्गलमय प्रकृतियों से बने जीव के भेदों को हम जीव कैसे कह सकते हैं?*

टीका : अनादि से जीव और पुद्गलमय कर्मों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है यानी अनादि से आत्मा के साथ कार्मण शरीर और तेजस शरीर का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। कर्मों के उदय के निमित्त से जीव राग–द्वेष करता है जिसका निमित्त पाकर नया कर्मबन्ध होता है। इस प्रकार जीव संसार में भटक रहा है। जीव के निमित्त से बँधे कर्मों के उदय के निमित्त से जीवस्थान होता है और उस जीवस्थानरूप विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होता। अतः उसे इस अध्यात्मशास्त्र में जीव नहीं माना है।

जीव तथा पुद्गलमय कर्मों का सम्बन्ध विषचक्र जैसा है, क्योंकि जब किसी भी पुद्गलकर्म के उदय के कारण जीव उसके अनुकूल राग–द्वेष रूप परिणत होता है तब पुराने कर्मों

की निर्जरा होती है और जीव के उस राग–द्वेषयुक्त परिणमन के निमित्त से नये कर्मों का बन्ध होता हैं। उन कर्मों के आठ प्रकारों में से एक – नामकर्म है। इस नामकर्म की वजह से जीव एकेन्द्रियादि गति में जाता है। यह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

वास्तव में कर्म जीव के पुराने भावों के प्रतिबिम्ब हैं। इसलिये कह सकते हैं कि जीव का एकेन्द्रियादि गति में जाने का कारण उस जीव का ही पुराना भाव है, न कि वे पुद्गलमय कर्मप्रकृतियाँ। इसलिये निश्चय से जीव का एकेन्द्रियादि गति में जाना जीव के पुराने भाव ही तय करते हैं, पुद्गलमय कर्मप्रकृतियाँ नहीं।

समयसार अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें मात्र सामान्यभाव ही अभिप्रेत है। सम्यग्दृष्टि जीव की आत्मानुभूति में सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा ही होती है और उसमें कर्मोदयजनित कोई भी भाव नहीं होते। इसलिये यहाँ एकेन्द्रियादि गतिरूप विशेषभाव को पुद्गलमय प्रकृतियों का कार्य बताया गया है। अत: इन सभी भावों से सम्यग्दृष्टि जीव को भेदज्ञान वर्तता है। इसलिये उन पुद्गलमय प्रकृतियों से बने जीव के भेदों को सम्यग्दृष्टि 'स्व'रूप से अनुभव नहीं करता। अतः यहाँ बताया है कि 'उन पुद्गलमय प्रकृतियों से बने जीव के भेदों को हम जीव कैसे कह सकते हैं?' निश्चय से वे जीव नहीं हैं। निश्चय से तो सिर्फ़ शुद्धात्मा ही जीव है जो इस शास्त्र का प्राण है और धर्म का यानी मोक्षमार्ग का भी प्राण है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७२

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।67।।

भावानुवाद : *जो व्यवहारनय से सूत्र (आगम) में पर्याप्त–अपर्याप्त तथा सूक्ष्म–बादर ये जीवों के नाम कहे गये हैं, वास्तव में वे देह के ही नाम हैं।*

टीका : अनादि से संसारी जीवों का पुद्गलमय कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। उसी प्रकार अनादि से जीवों का कर्मों के उदय के निमित्त से मिले वर्तमान भव अनुसार उन–उन देहों से एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है। इसलिये व्यवहारनय से उन देहों को जीवसंज्ञा प्राप्त है यानी उनसे जीवों की पहचान बतायी जाती है।

वास्तव में उन देहों की प्राप्ति का कारण उन देहों में स्थित जीवों के पुराने भाव यानी

कर्म ही हैं। जीव के पुराने भावों से बँधे पर्याप्त नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म, बादर नामकर्म, सूक्ष्म नामकर्म आदि से ही जीव को वैसे संयोग प्राप्त होते हैं। क्योंकि पुद्गल यह तय नहीं करते कि उन्हें कौन से शरीर के रूप में परिणमन करना है, परन्तु जीव के पुराने भाव के निमित्त से बँधे कर्मों के कारण ही पुद्गल उसे देहरूप से प्राप्त होते हैं। उन शरीरों से संसारी जीव की पहचान होती है यानी इनसे संसारी जीव की गति–स्थिति आदि जानने में आती है। वे पर्याप्त–अपर्याप्त आदि विशेषभाव होने से वे आत्मानुभूति में नहीं होते। इसलिये उन्हें देह संज्ञा दी गयी है, क्योंकि वे पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाली पर्यायें हैं।

समयसार अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें मात्र सामान्यभाव ही अभिप्रेत है। इसलिये पुद्गलमय जीवसंज्ञा और जीव के उस भव के अनुरूप विशेषभाव इन दोनों से आत्मानुभूति में भेदज्ञान होता है—यह बताया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७३

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ।।68।।

भावानुवाद : *जो ये गुणस्थान हैं वे मोहनीय कर्म के उदय के कारण बने हैं। जो सदैव चेतनारहित कहे गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं?*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से ही शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। तब उसे चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति होती है। ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में गुणस्थानरूप विशेषभाव नहीं होते। इस अपेक्षा से उसे चेतनारहित बताया गया है।

जिनागम में जीवों के चौदह गुणस्थानों का वर्णन है। वे मुख्यतः मोहनीय कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय के निमित्तकारण से होते हैं। मोहनीय कर्मों के दो प्रकार हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह के कारण अनादि से जीव अज्ञानी है। इसलिये वह अनादि से संसार

में भटक रहा है। जब वह दर्शनमोह मन्द होता है और अनन्तानुबँधी क्रोध–मान–माया–लोभ भी मन्द होते हैं, तब जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखतापूर्वक स्वयं को शुद्धात्मा के रूप में अनुभव करता है। इससे चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

आगे चारित्रमोह के क्षयोपशम, उपशम और क्षय से विभिन्न गुणस्थान बनते हैं। पुद्गलरूपी मोहनीय कर्म पुद्गलमय हैं यानी वे सदैव चेतनारहित हैं। इसलिये वे अजीव हैं। मोह के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के निमित्त से आत्मा के गुणों का यानी आत्मा के भावों की शुद्धि का जो क्रमशः विकास होता है उसे गुणस्थान कहा जाता है। वे विशेषभावरूपी होते हैं और विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होते। इसलिये उन्हें चेतनारहित बताया गया है और वे आत्मानुभूति में नहीं होने के कारण वे जीव के कैसे हो सकते हैं? यह पूछकर परोक्षरूप से बताया गया है कि वे आत्मानुभूतिरूपी शुद्धात्मा में नहीं होते।

समयसार अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें मात्र सामान्यभाव ही अभिप्रेत है। इसलिये पुद्गलमय मोहनीय कर्म और उससे बननेवाले जीव के गुणस्थानरूपी विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होते—यह बताया गया है।

अजीव अधिकार का उपसंहार

अजीव अधिकार में मुख्यतः जीव और अजीव के बीच का भेद समझाया गया है। जीव के अध्यवसानादि भाव, पुद्गलकर्म और नोकर्म को अजीव बताया गया है। उनमें से द्रव्यकर्म और नोकर्म तो जीव के नहीं है, क्योंकि वे जीव से भिन्न द्रव्य ही हैं।

आत्मानुभूति में जीव का जो भाव है वह शुद्धनय या शुद्धनिश्चयनय से जीव कहा जाता है और जीव के जो भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। इस प्रकार व्यवहार झूठा नहीं है, परन्तु वह आत्मानुभूति में विद्यमान यानी उपस्थित नहीं है। मगर कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार को झूठा बताकर अपना और अनेकों का अहित कर रहे हैं।

परन्तु जीव के अध्यवसानादि भाव अशुद्धनिश्चयनय से तो जीव ही हैं और व्यवहारनय से जीव के कहे जाते हैं। फिर भी अध्यवसानादि भाव आत्मानुभूति में विद्यमान नहीं होते हैं। इसलिये शुद्धनिश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं—यह बताया गया है।

और वर्णादि पुद्गलद्रव्य होने से जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बनाते। वे एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध से जीव के साथ होते हैं। इसलिये वे वास्तव में जीव न होते हुए भी व्यवहार से जीव कहलाते हैं। जैसे सेना के समूह के साथ जब राजा निकलता है तो लोग व्यवहार से कहते हैं कि राजा निकला है। वास्तव में पूरे समूह में राजा तो एक ही है। बाक़ी तो सब उनके सैनिक आदि ही हैं। इसी प्रकार आगम में अनेक प्रकार के अध्यवसानादि भावसहित जीव को ही व्यवहार से जीव कहा गया है। परन्तु आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा एक ही है।

आत्मानुभूति में आनेवाला सामान्यभाव रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त चेतनगुणवाला, शब्दरहित, अलिंगग्राह्य एवं निराकार होता है। उस में वर्णादि और रागादि के रूप में कोई भी विशेषभाव नहीं होते। जीव के सभी विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होते। समयसार ग्रन्थ अध्यात्मग्रन्थ होने से उन सभी विशेषभावों को चेतनारहित बताया गया है।

सम्यग्दर्शन के अभाव में यदि कोई अज्ञानी अपने को भ्रमवश शुद्धात्मा मानने लगता है तब वह सिर्फ़ कल्पना में ही अपने को भ्रमवश शुद्धात्मा मानने लगता है और ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। जैसे कोई गधे के सींग का श्रद्धान मात्र कल्पना में ही करता है वैसे ही अज्ञानी को भी कल्पना में ही बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा का भ्रमरूप श्रद्धान होता है।

पूर्व में गाथा क्रमांक ३९–४३ में विभिन्न दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टियों की मान्यताएँ बतायी गयी हैं। जैसे कोई अध्यवसान को, कोई कर्म को, कोई अध्यवसानों में तीव्र–मन्द अनुभाग को, कोई नोकर्म को, कोई कर्म के उदय को, कोई कर्म के तीव्र–मन्द अनुभाग के निमित्त से जीव के जो तीव्र–मन्द भाव होते हैं उन्हें, कोई जीव और कर्म की युति को और कोई कर्मों के संयोग को ही अज्ञानवश जीव मानते हैं।

ये सभी पुद्गलकर्मों के निमित्त से निष्पन्न पर्यायें हैं, उन्हें ही अज्ञानवश जीव मान लेनेवाली मान्यताएँ हैं। समयसार अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्म के अनुसार यानी आत्मानुभूति में जीव के अन्य पुद्गलद्रव्यों के निमित्त से उपजे भावों में मैंपन नहीं होता, सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही मैंपन होता है। इसलिये समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थ के अनुसार जीव सिर्फ़ द्रव्यात्मा (शुद्धात्मा) को ही कहते हैं, जो तीनों काल एक समान शुद्ध होती है। वही शुद्धात्मा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर चतुर्थादि गुणस्थान में अनुभव में आती है। इसलिये उस शुद्धात्मा को ही अध्यात्म में जीव कहा गया है।

इन्द्रियजनित सुख दुःखपूर्वक ही होता है। जितना दुःख ज़्यादा उतना सुख ज़्यादा, जैसे जिसे भूख ज़्यादा है उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख ज़्यादा मिलेगा परन्तु जिसे भूख नहीं है या भोजन करके बैठा है उसे भूख का दुःख नहीं होने से उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख नहीं मिलेगा। इन्द्रियजनित सुख भोगने के बाद अब और सुख भोगने की क्षमता न होने का दुःख होता है, जैसे दो दिन से भूख का दुःख भोगनेवाले को यदि स्वादिष्ट भोजन मिले तो सुख लगता है परन्तु जब उसका पेट भर जाता है और उसका मन और खाने का मज़ा लेना चाहता है तब वह वापस दुःखी हो जाता है। जिस सुख के पहले दुःख हो, उसके पीछे दुःख हो और उसका फल भी दुःख हो तो उसे सुख कैसे कह सकते है? इस अपेक्षा से भी कहा गया है कि 'पककर उदय में आनेवाले उन कर्मों का फल दुःख है।'

शुद्धनय आत्मानुभूति से ही प्रकट होता है। व्यवहारनय दो प्रकार का होता है।

१. अशुद्धिरूप – राग, द्वेष, आदि। वे आत्मानुभूति में न होने से व्यवहार हैं।

२. भेदरूप – द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ४७ शक्तियाँ आदि। ये सभी अभेद द्रव्य में भेद करके बताये गये हैं। इसलिये व्यवहार हैं।

सेना के समूह के साथ जब राजा निकलता है तो लोग व्यवहार से कहते हैं कि राजा निकला है। वास्तव में पूरे समूह में राजा तो एक ही है। बाक़ी तो सब उनके सैनिक आदि ही हैं। इसी प्रकार सूत्र (आगम) में अध्यवसानादि भावसहित जीव को ही व्यवहार से जीव कहा गया है। वास्तव में तो उनमें जीव एक ही है यानी अध्यवसान अनेक होने पर भी उनका जो हार्द अर्थात् द्रव्यरूप जीव तो एक ही है। पर्याय अनेक होने पर भी उन सभी पर्यायों का हार्द अर्थात् द्रव्यात्मा एक ही है। आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा तो एक ही है।

रस, रूप, गन्धादि पुद्गल के गुण हैं। आत्मा उन्हें इन्द्रियों के माध्यम से महसूस करती है। वह भाव विशेषभाव है। वह विशेषभाव आत्मानुभूति में नहीं होता। आत्मा के जो भाव व्यक्त हैं, वे विशेषभाव हैं और आत्मानुभूतिवाला भाव सामान्यभाव होने की वजह से अव्यक्त कहा गया है। आत्मानुभूतिवाला भाव मात्र ज्ञायक भाव है। इसलिये उसे चेतनागुणयुक्त कहा गया है।

समयसार अध्यात्मग्रन्थ होने के कारण इसमें सिर्फ़ त्रैकालिक शुद्ध जीव को ही जीवरूप से ग्रहण किया गया है, जिसे द्रव्यात्मा भी कहते हैं। इस शुद्धात्मा को परम पारिणामिक भाव, सामान्यभाव, नित्य भाव, ध्रुव भाव, कारण समयसार, कारण परमात्मा भी कहा गया है। इस ग्रन्थ में आत्मानुभूतिवाली आत्मा का ही वर्णन है। यही इस ग्रन्थ का हार्द है।

ये वर्णादि से गुणस्थान तक भाव व्यवहारनय से तो जीव के होते हैं किन्तु निश्चयनय से जीव के नहीं होते। वर्णादि से जीव का सम्बन्ध दूध और जल के समान समझा जाना चाहिये। वे वर्णादि जीव के बिलकुल नहीं होते, क्योंकि जीव तो उपयोगगुणमय होता है। वर्णादि से जीव का सम्बन्ध दूध और जल के समान समझना चाहिये यानी वर्णादि से जीव का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। परन्तु इनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जीव तो उपयोगमय है और वे सभी अजीव हैं। इसलिये वास्तविक जीव की पहचान उपयोग से होती है, वर्णादि से नहीं।

परन्तु अज्ञानियों को उपयोगरूपी शुद्धात्मा का अनुभव न होने के कारण उनका मैंपन वर्णादि और रागादि में होता है। इसलिये व्यवहार से उन्हें जीव कहा जाता है। सिर्फ़ बौद्धिकरूप

से यह मान लेना कि वर्णादि जीव के नहीं होते, जीव को सम्यग्दृष्टि नहीं बना देता। बल्कि भ्रम से ऐसा मान लेने से वह सम्यग्दर्शनप्राप्ति का प्रयास भी नहीं करेगा, क्योंकि उसे लगेगा कि यह बौद्धिक मान्यता ही पर्याप्त है। जबकि वास्तव में, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये वैराग्य आदि योग्यताओं को अर्जित करना और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख बनने का ईमानदारीपूर्वक प्रयास करना आवश्यक है। तब उसे शुद्धात्मानुभूति होती है और तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तभी यह सत्य आत्मानुभूति के माध्यम से स्पष्ट रूप से अनुभवपूर्वक समझ में आता है।

जैसे किसी मार्ग में पथिकों को लूटा जाता है तो व्यवहारी लोग आपस में कहते हैं कि 'वह मार्ग लूटा जाता है', उस मार्ग पर मत जाना। कहा तो ऐसे ही जाता है परन्तु वास्तविकता यही है कि पथिक लूटा जाता है, न कि मार्ग। इसी तरह जीव में कर्मों तथा नोकर्मों से उत्पन्न वर्णादि को देखकर यानी शरीर और शरीर के वर्णादि बाह्य रूप को देखकर जिनेन्द्रदेव व्यवहार से उसे जीव के कहते हैं।

संसार अवस्था में स्थित जीवों के वर्णादि होते हैं परन्तु संसार से मुक्त जीवों के कोई वर्णादि नहीं होते। जब किसी भी जीव का मोक्ष हो जाता है तब उसकी आत्मा शरीर से मुक्त हो जाती है। इसलिये संसार अवस्था में स्थित जीवों के वर्णादि होते हैं परन्तु संसार से मुक्त जीवों के कोई वर्णादि नहीं होते। अत: वर्णादि व्यवहार से जीव के कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं, क्योंकि वे सिद्धों के नहीं होते और सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धात्मानुभूति में भी नहीं होते। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, शरीर, संहनन और संस्थान शुद्धात्मानुभूति का विषय नहीं है, शुद्धात्मानुभूति का विषय सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा ही होती है।

यदि कोई इस प्रकार मानता है कि ये सब अवस्थाएँ जीव की ही हैं तो निश्चित ही जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। यदि ये सभी अवस्थाएँ वास्तव में जीव की होतीं, तो वे सिद्धों में भी अवश्य पायी जातीं। किंतु चूँकि सिद्धों में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये यह निश्चित है कि ये अवस्थाएँ जीव की स्वभावतः नहीं हैं। वस्तुतः ये सभी अवस्थाएँ संसारी जीव के साथ सिर्फ़ एकक्षेत्रवगाह सम्बन्ध के रूप में स्थित हैं, न कि जीव के नित्य धर्म स्वरूप में।

समयसार अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें मात्र सामान्यभाव ही अभिप्रेत है। इसलिये पुद्गलमय जीवसंज्ञा और जीव के उस भव के अनुरूप विशेषभाव इन दोनों से आत्मानुभूति में भेदज्ञान होता है, यह बताया गया है।

जिनागम में जीवों के चौदह गुणस्थानों का वर्णन है। वे मुख्यतः मोहनीय कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय के निमित्तकारण से होते हैं। मोहनीय कर्मों के दो प्रकार हैं – दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह के कारण अनादि से जीव अज्ञानी है। इसलिये वह अनादि से संसार में भटक रहा है। जब वह दर्शनमोह मन्द होता है और अनन्तानुबँधी क्रोध–मान–माया–लोभ भी मन्द होते हैं, तब जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखतापूर्वक स्वयं को शुद्धात्मा के रूप में अनुभव करता है। इससे चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

समयसार ग्रन्थ अध्यात्मग्रन्थ होने से इन सभी बातों को अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिये, एकान्त से नहीं।

कर्ता–कर्म अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ६९, ७० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७४, ७५

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि ।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ।।69।।

कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बन्धो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ।।70।।

भावानुवाद : *जब तक आत्मा व आस्रव इन दोनों के विशेषान्तर को जीव नहीं जान लेता, तब तक वह अज्ञानी क्रोधादि कषायों में ही जीता रहता है। क्रोधादि कषायों में ही जीते हुए उस जीव को कर्मों का संचय होता है। सर्वज्ञों ने जीव के कर्मों का बन्ध इस प्रकार बताया है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से ही शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। तब वह आत्मा और आस्रव का विशेषान्तर अनुभवपूर्वक जान लेता है।

जब तक जीव अज्ञानी है यानी जब तक जीव आत्मा और आस्रव के विशेषान्तर को अनुभवपूर्वक नहीं जानता, तब तक वह नियम से पर्यायदृष्टि होता है। पर्यायदृष्टि होने से वह स्वयं को अज्ञानवश देहरूपी मानते हुए राग–द्वेष करता रहता है।

जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब वह जीव स्वयं को शुद्धात्मा के रूप में अनुभव करता है। वह शुद्धात्मा ज्ञानसामान्यभाव होने के कारण त्रैकालिक शुद्ध होती है। उसमें कोई भी विशेषभाव नहीं होते। चूँकि जीव का आस्रवभाव विशेषभाव होता है। इसलिये वह शुद्धात्मा में नहीं होता।

ज्ञानी जीव इस तरह आत्मा तथा आस्रव में विशेषान्तर जानता है यानी स्वयं को आस्रव से भिन्न अनुभव करता है। समयसार अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें जहाँ भी आत्मा की बात की गयी है वहाँ ज़्यादातर स्थानों पर शुद्धात्मा ही अभिप्रेत है। इसलिये यहाँ आस्रवभाव जीव और अजीव दोनों होने के बावजूद जीव के आस्रवभाव को आत्मा में ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि वह तो विशेषभाव है। अत : उससे भेदज्ञान होता है, तभी आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेषान्तर का जानना होता है।

इस तरह अज्ञानी जीव को आत्मानुभूति न होने के कारण देहाध्यास बना रहता है। इससे वह क्रोधादि कषायों में ही जीता रहता है, उन्हीं में उसका मैंपन होता है। इस प्रकार क्रोधादि कषायों में ही मैंपन करके जीते हुए उस जीव को कर्मों का संचय होता है। सर्वज्ञों ने अज्ञानी जीव के कर्मों का बन्ध इस प्रकार बताया है।

इस तरह अज्ञानी जीव देहाध्यास के कारण स्वयं को अज्ञानवश पर का कर्ता मानते हुए, क्रोधादि कषायों में जीते हुए कर्मों का बन्ध करता है। सर्वज्ञ ने इस कारण से अज्ञानी जीवों का कर्मबन्ध बताया है।

यदि कोई अज्ञानी भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को शुद्धात्मा मानता है और इस ख़ुशफ़हमी में ही रहता है कि 'मैंने आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेषान्तर को जान लिया' तो यहाँ शाब्दिक ज्ञान की बात नहीं है। यहाँ जो आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेषान्तर को जानना बताया गया है, वह आत्मानुभूतिपूर्वक जानना बताया गया है—यह बात कई लोगों को ग़लत अर्थघटन के कारण समझ ही नहीं आती। इससे बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७६

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बन्धो से ।।71।।

भावानुवाद : *जब यह जीव, आत्मा तथा आस्रव के विशेषान्तर (भेदज्ञान) को समझ लेता है तब उसे बन्ध नहीं होता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से ही शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। तब वह आत्मा और आस्रव का विशेषान्तर अनुभवपूर्वक समझ लेता है।

जब जीव को वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखतापूर्वक आत्मानुभूति होती है यानी आस्रव और आत्मा के विशेषान्तर का अनुभवयुक्त ज्ञान होता है तब उसे मिथ्यात्वमोहनीय कर्मों का तथा अनन्तानुबँधी कषायों का बन्ध रुक जाता है। उसका मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है और शुद्धात्मा में भावास्रव नहीं होते। इस अपेक्षा से उसे बन्ध नहीं होता—ऐसा बताया गया है।

दूसरे, यह समयसार अध्यात्मशास्त्र होने के कारण यहाँ प्रमुखतः मिथ्यात्वमोहनीय कर्मों तथा अनन्तानुबँधी कषायों के बन्ध को ही बन्ध माना गया है। वैसे भी मिथ्यात्वमोहनीय को ही कर्मों का राजा माना गया है। इसलिये उसका बन्ध रुकने से यहाँ कहा गया है कि जो जीव, आस्रवों से भेदज्ञान कर लेता है उसे कर्मबन्ध नहीं होता।

उस भेदज्ञानी जीव को सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही मैंपन होने के कारण विशेषभाव में मैंपन नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से वह उसका सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इससे कहा जा सकता है कि उसे विशेषभाव के कारण होनेवाला कर्मबन्ध नहीं होता। यही इस गाथा का मर्म है।

परन्तु यदि कोई अज्ञानी ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से आत्मा और आस्रव

का विशेषान्तर जानकर भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा समझे और अबन्धस्वरूप माने तो यह इस गाथा का उद्देश्य नहीं है। ऐसी मिथ्या मान्यता से ऐसे अज्ञानी जीव अपना अनन्त अहित करते हैं, स्वयं का दुःखमय संसार बढ़ा लेते हैं और इस ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं। इस प्रकार कई लोग इस अध्यात्मशास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण उसे स्वयं के लिये शस्त्र के रूप में ग्रहण करते है और अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७७

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ।।72।।

भावानुवाद : *आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता को दुःख का कारण जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से ही शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। शुद्धात्मा में भावास्रव नहीं होने के कारण वह जीव आस्रवनिवृत्ति करता है—ऐसा कहा गया है। अन्य रीति से आस्रवनिवृत्ति चौदहवें गुणस्थान में ही होती है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

समयसार अध्यात्मशास्त्र होने के कारण उसमें सिर्फ़ शुद्धात्मा को ही जीव माना गया है। इसलिये आस्रवादि विशेषभावों को अशुचि कहा गया है। वैसे भी शुचि धर्म का अर्थ है शुद्धात्मा की अनुभूति। इसलिये जीव के त्रैकालिक ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति ही परम शुचि है और आस्रवादि विशेषभाव अशुचि हैं।

अत : आस्रवनिवृत्ति आत्मानुभूति के साथ जुड़ी हुई है यानी आत्मानुभूति के कारण आत्मा की विशुद्धि जितनी बढ़ती जाती है उतनी आस्रवनिवृत्ति भी बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता को अनन्त दुःखमय संसाररूप फल देनेवाला मानता है। इसलिये वह उससे आकुल न होते हुए भी उसे मिटाने का पुरुषार्थ भी करता रहता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आस्रवों से निवृत्ति करता है।

दूसरे, आस्रवादि जीव के स्वभाव से विपरीत परिणमन हैं, क्योंकि जीव का स्वाभाविक परिणमन तो देखने–जानने का है। उस देखने–जानने रूपी परिणमन के अतिरिक्त जीव जब राग–द्वेष करता है तो उससे जीव को कर्मों का आस्रव होता है। इसलिये आस्रवादि को जीव के अशुचिभाव और विपरीतभाव कहा गया है।

अन्य दृष्टिकोण से सोचेंगे तो यह समयसार अध्यात्मशास्त्र होने के कारण यहाँ मुख्यतः मिथ्यात्वमोहनीय कर्म और अनन्तानुबँधी कषाय के आस्रव को ही आस्रव कहा गया है। जब जीव उन भावों को अपने अनन्त दुःखमय संसार का कारण जान लेता है, तब वह जीव अपना सारा पुरुषार्थ वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करने में और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करने में लगाता है। आगे जब वह जीव आत्मानुभूति प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि बनता है, तब उसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म और अनन्तानुबँधी कषायों का आस्रव रुक जाता है। इसे भी यहाँ आस्रवों से निवृत्ति कहा गया है।

दूसरे, उस सम्यग्दृष्टि जीव को सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही मैंपन होने के कारण विशेषभाव में मैंपन नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से वह उसका सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अपेक्षा से भी कहा जा सकता है कि उसे विशेषभावरूपी आस्रव नहीं होता, क्योंकि उसके अभिप्राय में आस्रवभाव है ही नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७८

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ।।73।।

भावानुवाद : *वस्तुतः मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ तथा उसी में स्थित हूँ और उसी में मेरा चित्त लगा होने से मैं इन सबका (आस्रवों का) क्षय करता हूँ।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। बाद में वह जीव अपनी शुद्धात्मा का बार–बार अनुभव करते हुए 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन

से परिपूर्ण हूँ' ऐसा अनुभव करता रहता है। आगे बार-बार आत्मस्थिरता करते हुए उसे गुणश्रेणीवाली कर्मनिर्जरा होती रहती है और जब वह उसी में स्थित हो जाता है तब अन्तर्मुहूर्त में उसे क्षपकश्रेणी लग जाती है और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाता है। इस प्रकार वह आयु के अन्त में सभी आस्रवों का क्षय करके मोक्ष को पाता है।

जब जीव इस संसार को असार जान लेता है, दुःखमय समझता है और उसे अनन्त दुःखों का कारण समझता है, तब वह जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करता है। तब उसे ज्ञानी अथवा सम्यग्दृष्टि अथवा स्वसमय कहा जाता है। वह स्वसमयी जीव स्वयं को एक अभेद अनुभव करता है, क्योंकि आत्मानुभूति में कोई भेद नहीं होता।

वही बात यहाँ बतायी है। ज्ञानी की आत्मानुभूति शुद्धात्मा की होती है। इसलिये वह स्वयं को शुद्धरूप अनुभव करता है। ज्ञानी का मैंपन शुद्धात्मा में होने से ज्ञानी को अभिप्राय में पर से ममत्व नहीं होता यानी अभिप्राय में पर से मैंपन और मेरापन नहीं होता। इसलिये वे स्वयं को पर से ममत्वरहित यानी निर्मम अनुभव करते हैं।

आत्मा का स्वभाव मात्र देखने-जानने का है यानी ज्ञानदर्शन आत्मा का स्वभाव है। इसलिये आत्मा अविरत रूप से देखने-जानने का कार्य कर रही है परन्तु ज्ञानी को सिर्फ़ सामान्यभाव में ही मैंपन होता है। इसलिये ज्ञानी स्वयं को सिर्फ़ ज्ञायक के रूप में अनुभव करता है। ज्ञायकभाव ज्ञान-दर्शनमय है। इसलिये ज्ञानी स्वयं को समग्रतः ज्ञान-दर्शनमय अनुभव करता है। ज्ञानी का मैंपन ज्ञान-दर्शनमय भाव में होने से वे स्वयं को ज्ञान-दर्शन में स्थित अनुभव करते हैं।

ज्ञायकभाव अपूर्व आनन्द का दाता है और जीव अनादि से सुख को ढूँढता हुआ जब यह अपूर्व आनन्द पाता है, तब उसे बार-बार उस आनन्द में मग्न रहने की लत सहज ही लग जाती है। इसलिये वह बार-बार अपना चित्त उस ज्ञायकभाव में लगाता है। इससे उसे गुणश्रेणीवाली कर्मनिर्जरा होती है। फलतः वह क्रमशः सभी आस्रवों का नाश करता है। यही मोक्षमार्ग है। यही सिद्ध बनने की विधि है।

परन्तु बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ तथा उसीमें स्थित हूँ' ऐसा करने से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जायेगा, इससे तो उल्टा निश्चयाभास ही होगा, भ्रम ही होगा। ऐसा जीव धर्म में पुरुषार्थहीन बनकर संसार के कामों में ही मग्न रहेगा और स्वयं को आत्मप्राप्ति हो गयी है या अपने आप हो जायेगी–ऐसी ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ७९

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं ।।74।।

भावानुवाद : *ये (आस्रव) जीव से निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और दुःखरूपी फल देनेवाले हैं। ऐसा जानकर (ज्ञानी) उनसे निवृत्ति करता है।*

टीका : अनादि से जीव आस्रवादि के कारण कर्मों से बन्ध रहा है। उन कर्मों के उदय में जीव आकुलतारूपी सुख–दुःख भोगता है। अज्ञानवश जीव शरीर में मैंपन करता है। इससे वह शरीर के लिये ही जीता है और शरीर को ही पोषित करता रहता है। इस कारण उसे राग–द्वेष होते हैं जिनकी वजह से कर्मबन्ध होता है। उन कर्मों के उदय पर वह पुनः राग–द्वेष करता है और नये कर्म बाँधता है। यह विषचक्र अनादि से चल रहा है। इसी अपेक्षा से आस्रव को जीव के साथ निबद्ध कहा गया है। दूसरे, भावास्रव और द्रव्यास्रव दोनों आत्मानुभूति में नहीं होने के बावजूद उन्हें यहाँ जीव के साथ निबद्ध कहा गया है—यह व्यवहारनय का कथन है।

वास्तव में जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य हैं। इसलिये उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ़ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है। कई कर्मप्रकृतियाँ गुणस्थान के अनुसार ध्रुवबँधी या अध्रुवबँधी होती हैं परन्तु कर्मप्रकृति वही होने के बावजूद पुद्गल तो भिन्न ही होते हैं। और जब वह जीव आत्मप्राप्ति करके आगे गुणश्रेणीवाली निर्जरा करते हुए केवलज्ञान प्राप्त करता है, तब कई आस्रव रुक जाते हैं।

इन दोनों अपेक्षाओं से आस्रव अध्रुव है और अनित्य भी है। अनादि से जीव सुख के पीछे भाग रहा है। वास्तव में वह सुख नहीं, सुखाभास है। परन्तु जीव उसे सुख मानकर अनादि से उसके पीछे दौड़ रहा है। इसलिये उसका दुःखमय संसार मिटता नहीं। सच्चा सुख आत्मा

में ही है। परन्तु अनादि से अनन्त बार सुनने के बावजूद उसे देहाध्यास के कारण कभी इस बात पर यक़ीन नहीं आया। उसे अनादि से बाह्यसुख ही शरणभूत लगा।

वास्तव में सिर्फ़ हमारी शुद्धात्मा ही शरण लेने लायक है। इसलिये यहाँ आस्रव को अशरण कहा गया है। अनादि से जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ सुख (सुखाभास) की खोज में है। इसलिये वह दुःखी है। उसके फलस्वरूप जो नये कर्म बँधते हैं, उनका फल भी दुःखमय होता है। यही अनादि से अज्ञानी की कहानी है।

अनादि से जीव सुखाभास रूपी सुख के पीछे भागने से ही दुःखरूप आस्रवादि में फँसा हुआ है। इन्द्रियजनित सुख दुःखपूर्वक ही होता है। जितना दुःख ज़्यादा उतना सुख ज़्यादा, जैसे जिसे भूख ज़्यादा है उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख ज़्यादा मिलेगा परन्तु जिसे भूख नहीं है या भोजन करके बैठा है उसे भूख का दुःख नहीं होने से उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख नहीं मिलेगा। इन्द्रियजनित सुख भोगने के बाद अब और सुख भोगने की क्षमता न होने का दुःख होता है, जैसे दो दिन से भूख का दुःख भोगनेवाले को यदि स्वादिष्ट भोजन मिले तो सुख लगता है परन्तु जब उसका पेट भर जाता है तब भी उसका मन और खाने का मज़ा लेना चाहता है तब वह वापस दुःखी हो जाता है। अगर किसी सुख के पहले दुःख हो, उसके पीछे दुःख हो और उसका फल भी दुःख हो, तो उसे सुख कैसे कह सकते हैं? इस अपेक्षा से भी कहा है कि आस्रवादि 'दुःखरूप हैं और दुःखरूप फल देनेवाले हैं।'

जब जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति कर लेता है, तब उसे ज्ञानी कहते हैं। ऐसा ज्ञानी जीव इस कर्मों के विषचक्र को पहचानकर आस्रव और आत्मा का अन्तर जानकर इन सबसे निवृत्त हो जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८०

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जाणदि सो हवदि णाणी ।।75।।

भावानुवाद : *जो आत्मा कर्म के परिणाम को अथवा नोकर्म के परिणाम को नहीं करती मात्र जानती है वह ज्ञानी होती है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा

जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का कर्ताभोक्ता नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है। इस अपेक्षा से ज्ञानी 'कर्म के परिणाम को अथवा नोकर्म के परिणाम को करता नहीं मात्र जानता है।'

अनादि से आत्मा कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाये हुए है। अनादि से जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ होने की वजह से वह अनादि से इस दुःखमय संसार में भटक रहा है। अनादि से जीव का मैंपन शरीर में ही है। जब कोई जीव संसार का सत्य स्वरूप समझता है, तब उसे संसार से वैराग्य होता है। तब वह जीव, आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक, पर की इच्छाओं से विरत होकर, आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करता है। तब वह सम्यग्दृष्टि यानी ज्ञानी कहलाता है। ज्ञानी की आत्मानुभूति का विषय सिर्फ़ शुद्धात्मा है यानी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जो त्रिकाल शुद्ध आत्मा है, वह आत्मानुभूति में आती है।

पुद्गलकर्म जीव से भिन्न द्रव्य होने के कारण जीव कभी कर्म का कर्ता नहीं होता। जीव से कर्मों का सिर्फ़ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ही होता है। कर्मों के उदय के कारण होनेवाले शरीरादि नोकर्मों के परिणाम भी जीव से भिन्न द्रव्य हैं। इसलिये जीव का नोकर्म के परिणामों के साथ भी कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है। सिर्फ़ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ही है।

कर्मों के कारण होनेवाले जीव के आस्रवादि भाव हैं तो जीव के ही परन्तु आत्मानुभूति में वे भाव नहीं होते, क्योंकि आत्मानुभूति सामान्यभाव की ही होती है और ये सब विशेषभाव हैं। इसलिये आत्मा का अपने आस्रवादि भावों के साथ अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता–कर्म सम्बन्ध होने के बावजूद वे आत्मानुभूति में नहीं होने के कारण और आत्मानुभूति परम अकर्ता भाव की होने के कारण ज्ञानी के जीव का आस्रवादि भावों से कर्तापन नहीं होता।

ज्ञानी के अभिप्राय में सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा भाव होता है। ज्ञानी को आत्मानुभूति के काल में शुद्धोपयोग होता है और बाद में ज्ञाताद्रष्टाभाव होता है। ज्ञानी को उपयोगरूपी आत्मानुभूति के बाद भी, जब तक सम्यग्दर्शन टिकता है तब तक लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन बना रहता है। इसलिये वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है। इस तरह ज्ञानी कर्मों के परिणाम को या नोकर्मों के परिणाम को करता नहीं, सिर्फ़ जानता है। जबकि अज्ञानी को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होने

के कारण वह पर्याय का कर्ता होता है, ज्ञाताद्रष्टा नहीं होता। यह बात समझकर लोगों को पहले सम्यग्दर्शन पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु कई लोग साधना के नाम पर कृत्रिमता से, आत्मानुभूति न होने के बावजूद, ज्ञाताद्रष्टा का ध्यान करने को कहते हैं। बिना आत्मानुभूति के वे भ्रम में रहने के कारण न तो ज्ञाताद्रष्टा बन सकते हैं और न ही अपनी परिणति को सुधारने का कोई प्रयास कर पाते हैं। इसलिये वे मूढ़मति कहलाते हैं। वे भ्रम से स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानकर ख़ुशफ़हमी में रहते हैं।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८१

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।

भावानुवाद : *किसी अपेक्षा से आत्मा को कर्ता कहा गया है परन्तु वह धर्मादि द्रव्यों के परिणामों की कर्ता नहीं है। जो यह जानता है वह ज्ञानी है।*

टीका : अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा अपने आस्रवादि भावों की कर्ता है, क्योंकि यदि आत्मा के आस्रवादि भावों की कर्ता आत्मा को न मानें और पुद्गलकर्मों को आस्रवादि भावों का कर्ता मानें तो पुद्गल को आत्मा के भावों का कर्ता मानना पड़ेगा।

कर्मपुद्गल और आत्मा ये दोनों भिन्न द्रव्य होने के कारण उनमें कभी भी कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं हो सकता, सिर्फ़ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ही हो सकता है। इस अपेक्षा से आत्मा को अपने आस्रवादि भावों का कर्ता बताया गया है।

इस प्रकार ज्ञानी अपने आस्रवादि भावों की ज़िम्मेदारी तो लेता है। परन्तु अपने से भिन्न धर्मादि द्रव्यों – अन्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—के परिणमन से वह कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं बनाता, अलबत्ता निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध सम्भव है। ज्ञानी यह जानता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि जो यह जानता है वह ज्ञानी है।

इससे यह नहीं समझना कि सिर्फ़ बौद्धिकरूप से बिना आत्मानुभूति के भी ऐसा समझने से कोई ज्ञानी बन जायेगा। ज्ञानी बनने के लिये आत्मानुभूति आवश्यक है, न कि सिर्फ़ भ्रम के रूप में बौद्धिक मान्यता।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८२

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ।।76।।

भावानुवाद : *ज्ञानी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को जानता हुआ भी परद्रव्यों की पर्यायों में न तो परिणमता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न ही उस रूप से उपजता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं।

इसलिये वह परद्रव्य की पर्याय के रूप में न अपना परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न ही उस रूप में उत्पन्न होता है। अभिप्राय की अपेक्षा से वह परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा मात्र होता है। जबकि अज्ञानी को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होने के कारण वह पर्याय का और पर द्रव्यों का कर्ता होता है, ज्ञाताद्रष्टा नहीं होता।

यह बात समझकर लोगों को पहले सम्यग्दर्शन पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु कई लोग साधना के नाम पर आत्मानुभूति न होने के बावजूद कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करने को कहते हैं। फलत: बिना आत्मानुभूति के वे भ्रम में रहने के कारण न तो ज्ञाताद्रष्टा बन सकते हैं और न ही अपनी परिणति को सुधारने का कोई प्रयास कर पाते हैं, इससे वे मूढ़मति कहलाते हैं। इससे सभी को बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८३

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पजदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ।।77।।

भावानुवाद : *ज्ञानी अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी परद्रव्यों की पर्यायों के रूप में न तो परिणत होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उस रूप में उपजता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं।

वह ज्ञानी अनेक प्रकार के अपने भावों को जानकर भी आकुल–व्याकुल नहीं होता। न ही अपने भावों को ऊँचा उठाने का प्रयास छोड़ता है। ऐसी ज्ञानी की परिणति होती है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपने परिणामों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। वह अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का भी सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये ज्ञानी परद्रव्यों की पर्यायों के रूप में न तो परिवर्तित होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न ही उस रूप में उत्पन्न होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८४

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं ।।78।।

भावानुवाद : *ज्ञानी पुद्गलकर्मों के अनन्त फलों को जानता हुआ भी परद्रव्यों की पर्यायों के रूप में न तो परिणत होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उस रूप में उपजता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं।

ऐसा ज्ञानी धर्मध्यान करता हुआ पुद्गलकर्मों के अनन्त फलों का अपायविचय और विपाकविचय के रूप में चिन्तन करता है, उनको जानता है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी परद्रव्यों की पर्यायों के रूप में न तो परिवर्तित होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न ही उस रूप में उत्पन्न होता है।

जबकि अज्ञानी को परद्रव्य में स्व–स्वामित्व होता है। इसलिये वह अज्ञानवश, पर के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध से, स्वयं को पररूप में परिवर्तित होता अनुभव करता है, उन्हें ग्रहण करता अनुभव करता है और उस रूप में उत्पन्न होता भी अनुभव करता है।

अज्ञानी को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होने के कारण वह पर्याय का कर्ता होता है, ज्ञाताद्रष्टा नहीं होता। यह बात समझकर लोगों को पहले सम्यग्दर्शन पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु कई लोग साधना के नाम पर आत्मानुभूति न होने के बावजूद कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा भाव का ध्यान करने को कहते हैं। फलत: बिना आत्मानुभूति के वे भ्रम में रहने के कारण न तो ज्ञाताद्रष्टा बन सकते हैं और न ही अपनी परिणति को सुधारने का कोई प्रयास कर पाते हैं, इससे वे मूढ़मति कहलाते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ७९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८५

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं ।।79।।

भावानुवाद : *इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यों की पर्यायों के रूप में न तो परिणत होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उस रूप में उपजता है। सिर्फ़ अपने स्व–कृत भावों से ही परिणमता है।*

टीका : पुद्गलद्रव्य जीवादि अन्य द्रव्यों का कर्ता नहीं होता, क्योंकि पुद्गलद्रव्य का जीवादि अन्य द्रव्यों के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यों की पर्याय के रूप में न तो परिवर्तित होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न ही उस रूप में उत्पन्न होता है। वह सिर्फ़ स्व के भावों के रूप में ही परिणत होता है, दूसरों के भाव के रूप में परिणत नहीं होता।

यदि कोई ग़लत अर्थघटन के कारण अपने भावों के लिये पुद्गलकर्मों को ज़िम्मेदार मानते हों तो यहाँ उसका खण्डन किया गया है। पुद्गलकर्मवर्गणाएँ जीव के भावों का निमित्त पाकर स्वयं उपादान रूप से कर्मरूप परिणत होती हैं। कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव स्वयं उपादानरूप से राग–द्वेषरूप में परिणत होता है। इसी को दोनों के बीच का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है।

कई अज्ञानी लोग भ्रमवश कहते हैं कि मैं तो अकर्ता हूँ, जो भी कर रहे हैं वह पुद्गलकर्म ही कर रहे हैं और पुराने कर्म ही नये कर्म बाँधते हैं। जीव जब व्यवहार से भी अकर्ता बन जाता है तो उसे काययोग भी नहीं होता और कर्मबन्ध भी नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। चूँकि समयसार अध्यात्मशास्त्र है, यहाँ अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को अकर्ता कहा है, क्योंकि ज्ञानी के अभिप्राय में कर्ताभोक्ताभाव नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टाभाव ही होता है। सिर्फ़ इस अपेक्षा से ज्ञानी अकर्ता–अभोक्ता है, एकान्त से नहीं। यह बात समझ नहीं पाने से कई अज्ञानी लोग भ्रमवश स्वयं को छलकर अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते हैं और ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८० – ८२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ८६ – ८८

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति ।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ।।80।।

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ।।81।।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।82।।

भावानुवाद : *जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्गलकर्मवर्गणाएँ कर्म बनती हैं। इसी प्रकार जीव भी पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिभाव रूप से परिणमता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता। इसी प्रकार कर्म जीव के गुणों को नहीं करता परन्तु वे दोनों एक–दूसरे के निमित्त से परिणमते हैं, ऐसा जानो। इस कारण से आत्मा अपने ही भावों की कर्ता है परन्तु पुद्गलकर्म से किये गये समस्त भावों की कर्ता नहीं है।*

टीका : अनादि से जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है, क्योंकि जब उस जीव के पुराने कर्मों का उदय होता है तब वह जीव उन कर्मों के उदय में फँसकर राग–द्वेष करता है और उस राग–द्वेष की वजह से नये कर्म बँधते हैं। इस तरह जीव कभी भी कर्मों के विषचक्र से निकल नहीं पाया है। जीव और पुद्गलकर्मों का अनादि से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है। जीव जब तक अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग आत्मा के पक्ष में नहीं करता, तब तक वह कर्मों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो पाता।

जब कर्मों का उदय होता है तब जीव को अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। यदि जीव उन अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों से समझपूर्वक अछूता रहता है यानी जीव अपनी सम्यक् समझ की वजह से अपनी प्रतिक्रिया जिनाज्ञा के अनुसार रखता है तो वह नये पुद्गलकर्मबन्ध से बच सकता है। इस प्रकार आत्मा की स्वतन्त्रता का उपयोग आत्मा के पक्ष में कर के जीव कुनिमित्तों से बचकर आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है और आगे सम्यग्दर्शन पाकर मुक्त भी हो सकता है। इससे हम कह सकते हैं कि निमित्त नित्य–कर्ता नहीं होता यानी जब तक जीव उस निमित्त के अनुकूल होता है तब तक वह जीव पर असर करता है, बाद में वह निमित्त असर नहीं करता।

जीव और पुद्गलकर्मों का कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं। भिन्न द्रव्य होने से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानकर्ता कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि दोनों द्रव्यों का अस्तित्व भिन्न है और प्रत्येक द्रव्य सिर्फ़ अपने अस्तित्व में ही कार्य कर सकता है, दूसरे के अस्तित्व में कार्य नहीं कर सकता है।

ज्ञातव्य है कि कोई भी द्रव्य एक समय में एक ही कार्य कर सकता है, दो कार्य नहीं। हर द्रव्य प्रत्येक समय अपना ही कार्य करता है, दूसरे द्रव्य का नहीं। इस अपेक्षा से जीव पुद्गल को कर्मों के रूप में परिवर्तित नहीं कर सकता। वैसे ही पुद्गलकर्म जीव को राग–द्वेष के रूप में परिवर्तित नहीं कर सकते। इस कारण से आत्मा स्वयं के भावों की ही कर्ता होती है परन्तु पुद्गल के कर्मरूप परिणमन की कर्ता नहीं होती, क्योंकि पुद्गल अपने भावों का कर्ता स्वयं है।

समझना यह है कि जीव और पुद्गलकर्म अमुक संयोगों में एक दूसरे के परिणमन में निमित्त अवश्य ही बनते हैं परन्तु एक दूसरे के कर्ता नहीं बनते। इस प्रकार जीव को अपनी समझ सम्यक् बनाकर पतन करवानेवाले निमित्तों से बचते हुए मोक्षमार्ग की साधना करनी चाहिये।

यहाँ एक बात समझना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में आचार्यश्री 'शुद्धात्मा' को ही 'आत्मा' कहते हैं, क्योंकि शुद्धात्मा ही आत्मानुभूति का विषय है और इस ग्रन्थ में प्रायः उसी का वर्णन है। शुद्धात्मा में सिर्फ़ उपादान की ही भूमिका होती है। अतः इस ग्रन्थ में अधिकांश बातें उपादान की अपेक्षा से कही गयी हैं। निमित्त की भूमिका पर्याय में आती है। इसलिये इस ग्रन्थ में निमित्त–सम्बन्धी बातों को गौण कर दिया गया है।

यदि कोई साधक इस बात को अन्यथा ग्रहण कर ग़लत अर्थघटन के कारण निमित्त को सर्वथा अकर्ता मानने लगे, तो वह जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा—अर्थात् वह पाखण्डी मत का समर्थक ही होगा।

इसी आशंका से आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्टतः कहा है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन करके उससे छल (भ्रम) नहीं ग्रहण करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८३ – आचार्य जयसेन कृत ताटत्पर्यवृत्ति गाथा ८९

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।83।।

भावानुवाद : *निश्चयनय का मत यह है कि आत्मा निजभाव को ही करती है और फिर निजभाव को ही भोगती है। आत्मा को तुम ऐसा जानो।*

टीका : हर एक द्रव्य हर समय परिणमता है यानी हर एक द्रव्य हर समय अपना कार्य करता है। बिना कार्य के कोई भी द्रव्य नहीं होता। इसलिये हर एक द्रव्य अर्थक्रियाकारित्वमय होता है। दूसरे शब्दों में, जो द्रवित होता है वह द्रव्य होता है।

हर द्रव्य अपने उपादान में एक समय में एक ही कार्य करता है। वह एक कार्य स्वयं का ही होता है, यानी अपने उपादान में ही होता है, दूसरे के उपादान में नहीं। इसलिये यहाँ बताया गया है कि निश्चयनय से आत्मा निजभाव को ही तन्मय होकर करती है। वह दूसरे के भावों को तन्मय होकर नहीं करती। इसी प्रकार आत्मा हर समय निजभाव को ही तन्मय होकर भोगती हैं, अन्य द्रव्य के भावों को तन्मय होकर नहीं भोगती।

यह बात उपादान की अपेक्षा से बतायी गयी है। निमित्त की अपेक्षा से आत्मा अन्य आत्माओं के परिणमन में निमित्त हो सकती है और पुद्गल के साथ एकक्षेत्रवगाह सम्बन्ध होने से व्यवहारनय से पुद्गलों को भोगती भी हैं। इसलिये साधक को ग़लत निमित्तों से बचकर अपनी साधना में लगे रहना चाहिये और अपनी ग़लती की ज़िम्मेदारी दूसरे के सर नहीं डालनी चाहिये, निमित्त को दोषी नहीं देखना चाहिये।

समयसार अध्यात्मग्रन्थ होने के कारण इसमें निश्चयनय से सिर्फ़ त्रैकालिक शुद्ध जीव को ही जीवरूप से ग्रहण किया गया है, जिसे द्रव्यात्मा भी कहते हैं। इस अपेक्षा से यहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध तथा एकक्षेत्रवगाह सम्बन्ध को गौण किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९०

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पोग्गलकम्मं अणेयविहं ।।84।।

भावानुवाद : *व्यवहारनय का मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को करती है और वही अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को भोगती है।*

टीका : आत्मानुभूति में जीव का जो भाव है वह शुद्धनय या शुद्धनिश्चयनय से जीव कहा जाता है और जो जीव के जो भाव आत्मानुभूति में नहीं हैं उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। इस प्रकार व्यवहार झूठा नहीं है, परन्तु वह आत्मानुभूति में विद्यमान यानी उपस्थित नहीं है। मगर कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार को झूठा बताकर अपना और दूसरे अनेकों का अहित कर रहे हैं। यहाँ एक द्रव्य में भेदरूप व्यवहार की बात नहीं है, परन्तु यहाँ दो भिन्न द्रव्यों के बीच रहे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धरूपी व्यवहार की बात है।

व्यवहारनय निमित्तकारण को भी उपचार से कर्ता मानता है। अनादि से आत्मा और कर्मों का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है। कर्मों के निमित्त से जीव को ऐसे संयोग मिलते हैं, जिनसे वह राग–द्वेष करता है और उस राग–द्वेष के कारण नये कर्मों का बन्ध होता है। वे नये कर्म भविष्य में उसे पुनः ऐसे संयोग देंगे कि जिससे वह पुनः राग–द्वेष करेगा। यह कर्मों का विषचक्र अनादि से चल रहा है। जीव अनादि से अज्ञानता के कारण इस विषचक्र में फँसा हुआ है।

अनादि से जीव के साथ कर्मों का नीरक्षीरवत् सम्बन्ध (एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध) रहा है। इस अपेक्षा से व्यवहारनय आत्मा को कथञ्चित् रूपी भी बताता है। इसलिये आत्मा को अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों का कर्ता भी बताता है। और जीव शरीर के माध्यम से पुद्गल को भोगता है। इसलिये व्यवहारनय उसे पुद्गलकर्मों का भोक्ता भी बताता है। यही व्यवहारनय की बात इस गाथा में बतायी गयी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९१

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं ।।85।।

भावानुवाद : *यदि आत्मा अपने को तथा (तन्मय होकर) इस पुद्गलकर्म को करती है और उसे भोगती भी है तो उसे दो क्रियाओं के अभिन्न (कर्ता) होने का प्रसंग आता है। ऐसा (मानना) जिनेन्द्रदेव को सम्मत नहीं है।*

टीका : पूर्व में बताये अनुसार हर एक द्रव्य हर समय परिणमता है यानी हर एक द्रव्य हर समय अपना कार्य करता है। बिना कार्य के कोई भी द्रव्य नहीं होता। इसलिये हर एक द्रव्य अर्थक्रियाकारित्वमय होता है। दूसरे शब्दों में, जो द्रवित होता है वह द्रव्य होता है।

हर द्रव्य अपने उपादान में एक समय में एक ही कार्य करता है। वह एक कार्य स्वयं का ही होता है, यानी अपने उपादान में ही होता है, दूसरे के उपादान में नहीं। इसलिये यदि आत्मा को तन्मय होकर (उपादान रूप से) पुद्गलकर्मों का कर्ताभोक्ता माना गया तो आत्मा को एक समय में दो क्रियाओं का कर्ता मानना पड़ेगा, जो जिनागम के विरुद्ध है।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा और पुद्गलकर्मों के बीच कर्ता–कर्म का सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु इससे यह भ्रम नहीं पालना चाहिये कि उनके बीच निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं होता।

साधक को चाहिये कि वह मिथ्या निमित्तों से बचकर, एकनिष्ठ होकर अपनी साधना में प्रवृत्त रहे। उसे अपनी भूलों का दोष औरों पर नहीं थोपना चाहिये, न ही किसी निमित्त को दोषी मानना चाहिये। अपनी त्रुटियों को जिनोपदेश के आलोक में पहचान कर, उन्हें सुधारना चाहिये और अनादिकाल से चली आ रही उल्टी प्रवृत्ति को सीधा कर, त्वरा के साथ आत्मप्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना चाहिये। यही मर्म इस गाथा में समझाया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९२

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ।।86।।

भावानुवाद : *आत्मा निजभाव को और पुद्गलभाव को—दोनों को करती है, ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होता है।*

टीका : पूर्व में बताये अनुसार हर एक द्रव्य हर समय परिणमता है यानी हर एक द्रव्य हर समय अपना कार्य करता है। बिना कार्य के कोई भी द्रव्य नहीं होता। इसलिये हर एक द्रव्य अर्थक्रियाकारित्वमय होता है। दूसरे शब्दों में, जो द्रवित होता है वह द्रव्य होता है।

हर द्रव्य अपने उपादान में एक समय में एक ही कार्य करता है। वह एक कार्य स्वयं का ही होता है, यानी अपने उपादान में ही होता है, दूसरे के उपादान में नहीं। इसलिये यदि आत्मा को तन्मय होकर यानी उपादान रूप से पुद्गलकर्मों का कर्ताभोक्ता माना गया तो आत्मा को एक समय में दो क्रियाओं का कर्ता मानना पड़ेगा, जो जिनागम के विरुद्ध है। इसलिये ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होता है।

यदि आत्मा परद्रव्य का कार्य भी करेगी, तो परद्रव्य क्या कार्य करेगा? यदि परद्रव्य को निष्क्रिय मान लिया जाये, तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायेगा। इसलिये द्विक्रियावाद माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहा है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९३

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ।।

भावानुवाद : *जिस प्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त से आत्मा अपने भाव को करती है, उसी प्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त से आत्मा अपने भाव का वेदन करती है।*

टीका : जैसे आत्मा अपने भाव को पुद्गलकर्म के निमित्त से करती है, वैसे ही आत्मा पुद्गलकर्म के निमित्त से अपने भाव का वेदन करती है। जैसे अज्ञानी आत्मा अज्ञानवश यानी पुद्गलरूप मिथ्यात्वादि कर्मों के निमित्त से और ज्ञानी आत्मा पुद्गलरूप चारित्रमोहनीय आदि कर्मों

के निमित्त से अपने भावों को विकारयुक्त करती है, वैसे ही पुद्गलकर्मों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले संयोगों में अपने सुख–दुःख का वेदन भी करती है। यही अनादि से चलता आया है। यही आत्मा और पुद्गलकर्मों के बीच का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है।

परन्तु दो भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध कभी भी नहीं होता। इस गाथा में आचार्यश्री निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बता रहे हैं, जो कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण मानते ही नहीं। वे लोग निमित्त को एकान्त से अकर्ता मानने तक की बातें करते हैं, और स्वयं को निश्चयाभास के कारण ज्ञानी मानने का भ्रम पालते हैं और वही ख़ुशफ़हमी में रहते हैं–यह है वर्तमान काल की विडम्बना।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८७, ८८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९४, ९५

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ।।87।।

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु ।।88।।

भावानुवाद : *पुनः मिथ्यात्व दो प्रकार का है – जीव मिथ्यात्व और अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि भी दो–दो प्रकार के हैं। जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान पुद्गलकर्मरूप हैं वे अजीव हैं तथा जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व उपयोगरूप हैं वे जीव हैं।*

टीका : अनादि से अभी तक जीव इस संसार में मिथ्यात्व के कारण भटक रहा है। अनादि से जीव के पाँच आस्रव के द्वार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये सभी पुद्गलकर्म के रूप में भी होते हैं और भावकर्म के रूप में भी होते हैं।

इस प्रकार से मिथ्यात्व दो प्रकार के कहे गये हैं— १. पुद्गलकर्म रूप मिथ्यात्व २. जीव का भावकर्म रूप मिथ्यात्व। अज्ञान भी दो प्रकार का होता है— १. पुद्गलकर्म रूप अज्ञान २. जीव का भावरूप अज्ञान। इन दोनों के बीच निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। जैसे, मिथ्या मति–श्रुत ज्ञानावरणीय का उदय होता है तो वह अजीव अज्ञान है। उसके उदय के काल में जीव को मिथ्या मति–श्रुत ज्ञान का जो परिणाम होता है वह जीव अज्ञान है।

इस प्रकार अविरति भी दो प्रकार की है— १. अजीव अविरति – अप्रत्याख्यानावरणीय कषायरूप पुद्गलकर्मों का उदय २. जीव अविरति – जीव का अविरति का भाव। योग भी दो प्रकार का है— १. अजीव योग – पुद्गलनामकर्म की प्रकृति का उदय, २. जीव योग – जीव के शरीर में रहते हुए मन, वचन, काया के भाव। मोह भी दो प्रकार का है— १. अजीव मोह – पुद्गल मोहनीय कर्मों की प्रकृति का उदय, २ . जीव मोह – जीव के मोहयुक्त भाव। क्रोध भी दो प्रकार का है— १. अजीव क्रोध – पुद्गल क्रोधमोहनीय कर्मों का उदय, २. जीव क्रोध – जीव के क्रोधयुक्त भाव।

उपरोक्त जीव के जिन परिणामों (भावकर्म) के निमित्त से नये द्रव्यकर्म बँधते है, उन परिणामों को नये द्रव्यास्रव में निमित्त होने की वजह से भावास्रव भी कहा जाता है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इन भावास्रवों को निश्चय से पुद्गल परिणाम या द्रव्यप्रत्यय भी बताया जाता है। यह समझना आवश्यक है। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं।

इस प्रकार से पुद्गलकर्मों को अजीव बताया गया है और जीव के भाव को जीव बताया है। दोनों भिन्न द्रव्य होने की वजह से दोनों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता है, लेकिन निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान पुद्गलकर्म के रूप में हैं वे पुद्गलमय हैं। इसलिये अजीव हैं। जो जीव के अज्ञान के भाव, अविरति के भाव और मिथ्यात्व के भाव हैं वे उपयोगमय होने से जीव हैं, चेतनमय हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ८९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९६

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ।।89।।

भावानुवाद : *ज्ञातव्य है कि मोह से युक्त उपयोग के तीन अनादिकालीन परिणाम हैं – मिथ्यात्व भाव, अज्ञान भाव एवं अविरति भाव।*

टीका : अनादि से जीव के साथ कर्मों का नीरक्षीरवत् सम्बन्ध (एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध) रहा है, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध रहा है। इस कारण से अनादि से जीव इस संसार में भटक रहा है। इस भटकन में मूल दोष तो जीव का अज्ञान ही है, क्योंकि जो कर्म हैं वे तो जीव के पुराने भावों के प्रतिबिम्ब ही हैं।

इसलिये जब तक जीव की सुखबुद्धि (सुख एषणा) बाह्य पदार्थों में है, तब तक वह जीव बहिरात्मा ही है। जीव जिस भी शरीर में जाता है उसीको मैं समझकर उसी का हित देखता है, अपनी आत्मा का हित नहीं देखता। इसी को मोहसहित उपयोग कहा जाता है, जिस कारण जीव के अनादिकाल से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के परिणाम होते हैं। जिसे मोह को जीतना है उसे वैराग्यादि योग्यता पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उससे आगे वह बहिरात्मापन छोड़कर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त कर सकता है। यही सभी को करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९७

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ।।९०।।

भावानुवाद : आत्मा के तीन प्रकार के विकारी भाव हैं (मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति)। उपयोग शुद्ध तथा निरंजन होने के बावजूद इनमें से जिस भाव को करता है, वह उस भाव का कर्ता होता है।

टीका : शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से आत्मा का उपयोग त्रिकाल शुद्ध और निरंजन होता है। वही उपयोग जब जीव के अनादिकालीन कर्मों के साथ नीरक्षीरवत् सम्बन्ध (एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध) के कारण यानी निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के रूप में प्रकट होता है, तब मिथ्यात्व के कारण उस जीव को सिर्फ़ पर्याय का ही वेदन होता है, द्रव्य का वेदन नहीं होता। इसलिये वह अज्ञानवश स्वयं को उतना ही मानता है और उस पर्याय का कर्ता बनता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि उपयोग शुद्ध तथा निरंजन होने के बावजूद इनमें से जिस भाव को करता है, वह उस भाव का कर्ता होता है।

अनादिकाल से अज्ञानवश जब जीव का उपयोग मिथ्यात्व, अज्ञान अथवा अविरतिभाव

में परिणत होता है, तब वही उपयोग उन भावों का कर्ता कहलाता है। जीव स्वभावतः अपने ही भावों का कर्ता होता है; अन्य कोई द्रव्य कभी भी जीव के भावों का उपादानकर्ता नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भी यहाँ जीव को अपने भावों का कर्ता कहा गया है। सम्यग्दृष्टि भी अपने भावों का कर्ता है, इसी लिये वह अपने भावों को मोक्षमार्ग के अनुकूल सँवारने का प्रयास करता रहता है; परन्तु वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपने भावों का भी अकर्ता होता है, मात्र ज्ञाताद्रष्टा होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९८

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ।।91।।

भावानुवाद : *आत्मा जिस भाव को करती है वह उस भाव की कर्ता होती है। तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणत होता है।*

टीका : आत्मा जब मिथ्यादर्शन, अज्ञान, और अविरति आदि भाव करती है तब वह स्वयं उपादान रूप से परिणत होती है। यानी जब आत्मा अज्ञानादि भाव करती है तब आत्मा उस भाव की तन्मय होकर कर्ता होती है। उस आत्मिक भाव का निमित्त पाकर पुद्गलकर्मवर्गणाएँ द्रव्यकर्म के रूप में परिणत होती हैं। तब उस पुद्गलकर्म के परिणमन का पुद्गल स्वयं उपादान रूप से कर्ता होता है। आत्मा तो सिर्फ़ निमित्त होती है।

इस तरह पुद्गल और जीव के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता। सिर्फ़ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। इसलिये दोनों अपने–अपने उपादान से अपना परिणमन करते हैं, वे दोनों एक–दूसरे के कर्ता नहीं बनते यानी उन दोनों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यदि कोई इस निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को उड़ाकर एकान्त से ऐसा मानते है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता' तो वैसा जीव भ्रमवश अपना अनन्त संसार ही बढ़ाता है।

उपरोक्त जीव के जिन परिणामों (भावकर्म) के निमित्त से नये द्रव्यकर्म बँधते है, उन परिणामों को नये द्रव्यास्रव में निमित्त होने की वजह से भावास्रव भी कहा जाता है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इन भावास्रवों को निश्चय से पुद्गल परिणाम या द्रव्यप्रत्यय भी बताया

जाता है। यह समझना आवश्यक है। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ९९

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।।९२।।

भावानुवाद : *पर को स्व–रूप करता हुआ तथा स्व को भी पर–रूप करता हुआ जीव अज्ञानी होता है। वह कर्मों का कर्ता होता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। जबकि अज्ञानी जीव का मैंपन पर्याय में होता है। इसलिये वह कर्मों का कर्ता होता है।

पर को स्व–रूप करता हुआ तथा स्व को पर–रूप करता हुआ जीव अज्ञानी होता है। आत्मा अज्ञानवश अनादि से ही स्वयं को शरीर मानती है और अन्य पुद्गलों की कर्ता मानती है। इस तरह अनादि से अज्ञानवश आत्मा पर को ही स्व–रूप मानती है और पर की कर्ता भी होती है। जीव अज्ञानवश जब अपनी आत्मा की बात करता है तब वह किसी और की बात करता हो इस प्रकार से आत्मा की बात करता है। इस प्रकार अज्ञानी पर को स्व–रूप करता है तथा स्व को भी पर–रूप करता है।

इसलिये अनादि से आत्मा इस संसार में दुःख झेलती हुई भटक रही है। वह औरों को सुख अथवा दुःख देने का भाव करके कर्मबन्धन कर रही है। और उन्हीं कर्मों का उदय आने पर उन्हें भोग रही है। उस भोग में पुनः राग–द्वेष का भाव करके संसार में अनादि काल से भटक रही है।

इस भव का परम उद्देश्य यही होना चाहिये कि अज्ञान का निराकरण कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की जाये। ज्ञानी परद्रव्य का अकर्ता होता है, क्योंकि उसका मैंपन शुद्धात्मा—द्रव्य में ही होता है। जबकि अज्ञानी का मैंपन पर्याय में होने से वह पर का कर्ता बनता है। इसलिये ज्ञानी कर्मों का कर्ता नहीं है और अज्ञानी कर्मों का कर्ता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १००

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ।।९३।।

भावानुवाद : *पर को स्व–रूप न करता हुआ तथा स्व को भी पर–रूप न करता हुआ जीव ज्ञानी होता है। अतः वह कर्मों का अकर्ता होता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इसलिये वह कर्मों का अकर्ता होता है।

ज्ञानी जीव को भेदज्ञान के कारण स्व–पर का अनुभवयुक्त ज्ञान होता है। इसलिये पर में उसकी कर्तृत्वबुद्धि का नाश हो गया है। इसलिये यहाँ ज्ञानी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि ज्ञानी पर को स्व–रूप नहीं करता यानी उसकी पर में अहंबुद्धि नहीं है और स्व में परबुद्धि नहीं है।

ज्ञानी का स्व और पर का ज्ञान स्व की अनुभूतिपूर्वक होता है। इसलिये उसको पर में स्वबुद्धि अथवा स्व में परबुद्धि का भ्रम नहीं होता है। इस कारण से वह अपने भावों का कर्ता बनता है। कर्मों का कर्ता नहीं बनता। ज्ञानी कर्मों को अपने पुराने भावों का आईना अवश्य मानता है। इसलिये उसके मन में स्पष्टता है कि कर्मों से नहीं लड़ना है, बल्कि अपने भावों को सँवारना है। अपने भावों को भगवान की आज्ञानुसार प्रतिक्रिया देनेवाले बनाना है। और ज़्यादा से ज़्यादा समय तक आत्मस्थिरता पानी है। इसी से मोक्ष सम्भव होगा।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०१

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ।।94।।

भावानुवाद : *तीन प्रकार का यह उपयोग—मैं क्रोध हूँ—ऐसा आत्मविकल्प करता है। अतः (आत्मा) उस उपयोगरूपी आत्मभाव की कर्ता होती है।*

टीका : अनादि से मोहयुक्त अज्ञानी जीव मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के भाव को करता है। तब उसका उपयोग क्रोधादि भावों के रूप में परिणमता है। क्योंकि अनादि से अज्ञानवश जीव का एकत्व देहादि में होने से देहाध्यास (देह होने का भाव) प्रबल होता है।

इस वजह से जब वह जीव राग–द्वेष करता है, तब वह जीव अज्ञानवश उसी से एकत्व करता है। इसलिये उसे यह आत्मविकल्प होता है कि—'मैं क्रोध हूँ'—यानी वह क्रोध के साथ एकत्व अनुभव करता है। अज्ञानी जीव का मैंपन क्रोधादि करनेवाली पर्याय में होता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानवश सभी विभाव भावों से एकत्व करता है। इसलिये वह उन विभावों का कर्ता बनता है।

स्वभावतः आत्मा अपने उपयोग की ही कर्ता है, परन्तु अज्ञानी को शुद्ध उपयोग का अनुभव न होने से उसका उपयोग जहाँ लगता है उससे एकत्व–ममत्व होता रहता है। अतः अज्ञानी अपने आत्मविकल्प कि—'मैं क्रोध हूँ' का कर्ता होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०२

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ।।95।।

भावानुवाद : *तीन प्रकार का यह उपयोग – 'मैं धर्मादि द्रव्य हूँ' ऐसा आत्मविकल्प करता है। अतः (आत्मा) उस उपयोगरूपी आत्मभाव की कर्ता होती है।*

टीका : अनादि से मोहयुक्त जीव मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के भाव को करता है। तब उसका उपयोग धर्मादि द्रव्यों के आत्मविकल्परूप भावों के रूप में परिणमता है। क्योंकि

अनादि से अज्ञानवश जीव का एकत्व देहादि में होने से देहाध्यास प्रबल होता है। उस देहाध्यास के कारण जीव अपनी पुद्गलद्रव्यकृत देह से मैंपन करता है। इस कारण से वह स्वयं को पुद्गलद्रव्यकृत देह के रूप में अनुभव करता है।

इस प्रकार वह स्वयं आत्मा होने के बावजूद स्वयं को पुद्गलास्तिकाय के रूप में अनुभव करता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति से परिणत उपयोग—मैं धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हूँ—भ्रमवश ऐसा आत्मविकल्प करता है।

जीव स्वयं उपयोगमात्र है तथा सिर्फ़ अपने उपयोगरूप भाव का कर्ता है, क्योंकि वह कभी भी धर्मास्तिकायादि के रूप में परिणत नहीं हो सकता है। इसलिये वह धर्मास्तिकाय आदि का कर्ता हो ही नहीं सकता है। वह सिर्फ़ अपने उपयोगरूप आत्मविकल्प (आत्मभाव) का कर्ता होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०३

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ।।96।।

भावानुवाद : *इस प्रकार मन्दबुद्धि (अज्ञानी) व्यक्ति अज्ञान भाव से परद्रव्यों को अपना करता है और स्वयं को पर रूप बना देता है।*

टीका : अनादि से मोहयुक्त जीव मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति के भाव को करता है। तब उसका उपयोग इन भावों के रूप में परिणमता है। क्योंकि अनादि से अज्ञानवश जीव का एकत्व देहादि में होने से देहाध्यास प्रबल होता है। उस देहाध्यास के कारण जीव अपनी पुद्गलद्रव्यकृत देह में मैंपन करता है। इस कारण से वह स्वयं को पुद्गलद्रव्य कृत देह के रूप में अनुभव करता है।

इस प्रकार वह स्वयं आत्मा होने के बावजूद स्वयं को पुद्गलास्तिकाय के रूप में अनुभव करता है। इस प्रकार वह स्वयं को पर–रूप बना देता है। जैसे कि कोई अज्ञानी किसी वस्तु का ध्यान करते हुए भ्रमवश स्वयं को उस वस्तु–रूप मानने लगता है। अज्ञानी परद्रव्यों में अपनत्व करता है, उन्हें अज्ञानवश अपना मानता है और उसके लिये लड़ने–झगड़ने के लिये तथा मरने–मारने के लिये भी तैयार रहता है।

इस प्रकार मन्दबुद्धि व्यक्ति यानी अज्ञानी अज्ञान भाव से पुद्गलद्रव्य को स्व–रूप मानता है और अपनी आत्मा की बात करते वक़्त अज्ञानवश उसे इस तरह मानता है जैसे वह दूसरे किसी व्यक्ति की बात कर रहा हो। इस प्रकार वह अज्ञानवश अपनी आत्मा को भी पर रूप कर देता है।

जैसे कोई अज्ञानी बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से स्वयं को नयाभासरूप शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुद्ध मानते हुए भ्रमवश यह कहने लगता है कि—मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं अबन्धस्वरूप हूँ, मैं परम अकर्ता हूँ इत्यादि। तब वह मन्दबुद्धि (अज्ञानी) सिर्फ़ पर्यायदृष्टि होने की वजह से निश्चयाभास के कारण भ्रमवश वह ख़ुदको पर्यायदृष्टि से ही शुद्धात्मा आदि मानते हुए ख़ुशफ़हमी में ही रहता है जो उसके लिये आत्मघातक बनता है और उसके अध्यात्म की प्रगति में भी अवरोधक बनता है, क्योंकि स्वयं को भ्रमवश शुद्ध मान लेने के कारण उसको शुद्ध बनाने के पुरुषार्थ का ही उच्छेद हो जाता है। सभी साधकों को इससे बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०४

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तितं ।।97।।

भावानुवाद : *इस कारण से उस आत्मा को निश्चय के ज्ञाताओं (ज्ञानी) ने कर्ता कहा है। जो इस प्रकार से निश्चय को (अनुभवपूर्वक) जान लेता है (वह सम्यग्दृष्टि यानी ज्ञानी बन जाता है) वह समस्त कर्तृत्व को त्याग देता है।*

टीका : जब कोई अज्ञानी अज्ञान भाव से परद्रव्य को आत्मरूप मानता है और आत्मा को परद्रव्य–रूप मानता है, तब वह अपनी आत्मा की बात भी ऐसे करता है कि जैसे किसी परद्रव्य की बात कर रहा हो। ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को, निश्चय के ज्ञाता यानी अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव, कर्ता कहते हैं। क्योंकि उस अज्ञानी को सिर्फ़ अपनी पर्याय का ही ज्ञान होता है, उसी की अनुभूति होती है। ऐसा जीव अज्ञानवश स्वयं को अपनी वर्तमान पर्यायरूप ही मानता है और स्वयं को क्रोधी, मानी, मायावी एवं लोभी मानता और अनुभव करता है। वह क्रोधादि रूप परिणमन करनेवाले स्वयं का उपयोगरूप से अनुभव नहीं करता। इसलिये निश्चय के ज्ञाता यानी ज्ञानी उसे कर्ता कहते हैं।

यहाँ आचार्यश्री सिर्फ़ ज्ञानी को ही निश्चय के ज्ञाता मानते हैं। यह बात सभी निश्चयाभासी लोगों को समझनी चाहिये। क्योंकि आचार्यश्री ने पूर्व में चौदहवीं गाथा में ही बता दिया है कि निश्चय का जन्म अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त आत्मा की अनुभूति से ही होता है। परन्तु कई लोग उसे बौद्धिकरूप से शब्दों से ही ग्रहण करते हैं और भ्रमवश अपने को ज्ञानी भी मानने लगते हैं, उसी ख़ुशफ़हमी ही रहते हैं। यह है वर्तमान काल की विडम्बना।

जो जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करता है और आगे आत्मानुभूति करता है उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इस प्रकार जो ज्ञानी स्वयं को शुद्धात्मा के रूप में यानी शुद्ध उपयोग के रूप में अनुभव करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ उपयोग में होने के कारण निश्चय से उसे सहज ही पर्यायों का यानी क्रोधादि भावों का त्याग होता है। क्योंकि उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभाव में ही होता है और उसमें क्रोधादि विशेषभावों का अभाव ही होता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि वह समस्त कर्तृत्व को त्याग देता है। यह बात ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से बतायी गयी है।

परन्तु ज्ञानी उस क्रोधादि को अपनी कमज़ोरी ज़रूर समझता है और इसी लिये वह शीघ्र ही उसके त्याग का उपाय भी करता है। इसलिये आगे चलकर वह सर्वविरति आदि चारित्र को ग्रहण करता है और सदा के लिये क्रोधादि से मुक्त हो जाता है। यही सब जीवों का ध्येय होना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०५

ववहारेण दु आदा करेदि घड–पड–रधाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ।।९८।।

भावानुवाद : *व्यवहार से आत्मा घट, पट, रथ आदि द्रव्यों (वस्तुओं) को, इन्द्रियों को तथा अनेक प्रकार के कर्मों को (द्रव्यकर्म और भावकर्म) तथा शरीरादि नोकर्मों को करता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करता है और आगे आत्मानुभूति करता है उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति ही शुद्धनय है यानी आत्मानुभूति से ही निश्चय प्रकट होता है और वह आत्मानुभूति परम पारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा की होती है। इसलिये निश्चय से आत्मा सिर्फ़ परम

पारिणामिकभावरूप, परम अकर्ताभावरूप कही जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव को वही आत्मा उपयोग और लब्धिरूप से अनुभव में आती है। सम्यग्दृष्टि जीव को उसी में मैंपन होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि सिर्फ़ अपने ज्ञान का ही कर्ताभोक्ता होता है।

परन्तु भेदरूप व्यवहार से आत्मा राग–द्वेषादि भावकर्मों की कर्ता होती है और उपचाररूप व्यवहार से आत्मा को परद्रव्य जैसे कि घट, पट, रथ आदि वस्तुओं की कर्ता भी कहा जाता है, क्योंकि व्यवहार से निमित्त को भी कर्ता माना जाता है। इसी प्रकार उसे ज्ञानावरणादि कर्मों का, इन्द्रियों का और शरीरादि नोकर्मों की भी कर्ता कहा जाता है।

यहाँ आचार्यश्री अज्ञानी जीव की अनादिकालीन मिथ्या मान्यता को प्रकट करते हैं, जो निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण निर्मित हुई है। यहाँ विशेष रूप से यह समझना आवश्यक है कि जीव उन सभी (परद्रव्यों) को अनन्य (तादात्म्य) रूप से उत्पन्न नहीं करता—अर्थात् जीव और अन्य द्रव्य एकरूप नहीं होते। सभी द्रव्य त्रिकाल अपने–अपने स्व–स्वरूप में ही स्थित रहते हैं; वे पर–रूप में परिणमन नहीं करते। वे एकमेव–अद्वितीय नहीं बन जाते।

इस तत्त्व को समझकर साधक को पर में सुखबुद्धि का त्याग करना चाहिये और आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति करनी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ९९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०६

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।।९९।।

भावानुवाद : *यदि आत्मा परद्रव्य को करे तो वह नियम से उससे तन्मय होगी। जबकि (वस्तुतः) वह (परद्रव्य से) तन्मय नहीं है। इसलिये वह उसकी कर्ता नहीं है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। अन्य द्रव्य उस परिणाम में निमित्त अवश्य हो सकते हैं परन्तु वे एक दूसरे से तन्मयता नहीं पाते यानी एक दूसरे को तन्मय होकर नहीं परिणमाते।

सभी द्रव्य त्रिकाल अपने स्वरूप में ही स्थित रहते हैं; वे पर–रूप में परिणमन नहीं करते।

इस तत्त्व को यथार्थ रूप से समझकर साधक को परद्रव्य में सुखबुद्धि का त्याग कर देना चाहिये और आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति करनी चाहिये।

जो द्रव्य तन्मय होकर परिणमता है उसी को कर्ता कहा जाता है। परन्तु हर द्रव्य की यह त्रैकालिक स्वतन्त्रता होने से वह अन्य द्रव्यों से कभी भी तन्मय नहीं होता। इसी लिये वह परद्रव्य का कर्ता कभी नहीं होता।

यहाँ आचार्यश्री कर्ता–कर्म सम्बन्ध की बात कर रहे हैं, न कि निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की। अतः किसी को भी इस तथ्य को एकान्त से समझकर भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को पर का परम अकर्ता मानते हुए पर की हिंसा की प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिये। कई लोग आत्मानुभूति के अभाव में इस सिद्धान्त को उल्टा समझ बैठते हैं। इसी आशंका के कारण आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्ट रूप से चेताया है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन कर उससे छल (भ्रम) ग्रहण न किया जाये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०७

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।100।।

भावानुवाद : *जीव न घट को करता है, न पट को करता है, और न ही शेष द्रव्यों (वस्तुओं) को करता है। वह उसे उत्पन्न करने (में निमित्त बनने) वाले योग और उपयोग का कर्ता होता है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इस अपेक्षा से जीव घट (घड़ा), पट (कपड़ा) इत्यादि परद्रव्यों को नहीं करता यानी उन परद्रव्यों को तन्मय होकर नहीं करता। वे उस परिणमन में निमित्त अवश्य हो सकते हैं। परन्तु वे एक दूसरे से तन्मयता नहीं पाते यानी एक दूसरे को तन्मय होकर नहीं परिणमाते। सभी द्रव्य त्रिकाल स्व–रूप में ही रहते हैं, पर–रूप नहीं परिणमते।

आत्मा अपने आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दनरूपी योग की तथा ज्ञानदर्शनरूपी (जानने–देखने

रूप) उपयोग की उपादान रूप से कर्ता होती है। इसलिये आत्मा घट, पटादि की कर्ता नहीं होती परन्तु उनके उत्पाद में निमित्त बननेवाले अपने योग और उपयोग की कर्ता होती है।

इस प्रकार आत्मा पर की हिंसा आदि आत्मविरुद्ध कार्यों की निमित्त कर्त्री बनती है। इसलिये आत्मा को हिंसा आदि आत्मविरुद्ध कार्यों से कर्म–बन्ध होता है। कुछ निश्चय–एकान्तवादी इस यथार्थ स्वीकारते ही नहीं।

यहाँ आचार्यश्री कर्ता–कर्म सम्बन्ध की बात कर रहे हैं, न कि निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की। अतः किसी को भी इस तथ्य को एकान्त से समझकर भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को पर का परम अकर्ता मानते हुए पर की हिंसा की प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिये। कई लोग आत्मानुभूति के अभाव में इस सिद्धान्त को उल्टा समझ बैठते हैं। इसी आशंका के कारण आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्ट रूप से चेताया है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन कर उससे छल (भ्रम) ग्रहण न किया जाये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०८

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।101।।

भावानुवाद : *जो पुद्गलद्रव्यों के ज्ञानावरणादि परिणाम होते हैं उनको आत्मा नहीं करती, ऐसा जो (आत्मा सिर्फ़) जानती है वह ज्ञानी होती है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इसलिये जब कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि रूप में परिवर्तित (परिणत) होते हैं, तब उनको कर्ता के रूप में आत्मा की कोई अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् आत्मा तन्मय होकर कार्मणवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य को ज्ञानावरणादि कर्मों में परिवर्तित नहीं करती। परन्तु आत्मा के योग और उपयोग उन कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यों के ज्ञानावरणादि कर्मों में परिवर्तित होने में निमित्त अवश्य बनते हैं।

जो जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करता है और आगे आत्मानुभूति करता है उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है।

उसी को ज्ञानी कहते हैं, सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अभिप्राय की अपेक्षा से वे पर्याय के सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होते हैं। जो योग और उपयोग कर्मबन्धन में निमित्त बनते हैं, वे आत्मा की पर्यायें हैं। चूँकि ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ द्रव्य में होने से वह अपनी पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा मात्र होता है, इसलिये वह ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्धन में निमित्त बननेवाले अपने योग और उपयोग का भी मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं होता।

अज्ञानी का मैंपन पर्याय में होता है। अतः अज्ञानी पर्याय का कर्ता होता है। यदि कोई बौद्धिकरूप से स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा माने और कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करे तो उससे उसका मन शान्त हो सकता है पर उससे आत्मप्राप्ति में कोई फ़ायदा नहीं होता, क्योंकि साधक को अपने परिणाम के प्रति ज्ञाताद्रष्टा का भाव नहीं रखना है, उसे मोक्षमार्ग के अनुकूल बनाने का यथार्थ पुरुषार्थ करना है, न कि कृत्रिम ज्ञाताद्रष्टा बनकर मूढ़ बने रहना है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १०९

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ।।102।।

भावानुवाद : *आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करती है, वस्तुतः वह उसकी कर्ता होती है। वह भाव उसका कर्म होता है। आत्मा उस भाव की भोक्ता भी होती है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इस अपेक्षा से आत्मारूपी उपादान जब शुभ या अशुभ भाव के रूप में परिणमता है, तब आत्मा उस शुभ या अशुभ भाव की अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता होती है। इस प्रकार अशुद्धनिश्चयनय से शुभ–अशुभ भाव आत्मा के कर्म कहलाते हैं। वे शुभ–अशुभ भाव आत्मा के निमित्त से बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के निमित्त से होते हैं।

अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा उन भावों की भोक्ता भी होती है। आत्मा के उन शुभ–अशुभ भावों के निमित्त से नये ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं। इसलिये उन शुभ–अशुभ भावों को भावास्रव

भी कहा जाता है। उन ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय में जब फिर से आत्मा शुभ–अशुभ भाव करती है, तब वह आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से उन भावों की भोक्ता भी होती है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन शुद्धात्मा में होने के कारण अभिप्राय की अपेक्षा से वह इन शुभ–अशुभ भावों का कर्ताभोक्ता नहीं बनता, अभिप्राय की अपेक्षा से वह इन भावों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११०

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।।103।।

भावानुवाद : *जो द्रव्य जिस गुणद्रव्य रूप है वह द्रव्य अन्य द्रव्य रूप में संक्रमित (परिवर्तित) नहीं होता। जो अन्य द्रव्यों के रूप में संक्रमित नहीं होता तो वह अन्य द्रव्यों को कैसे परिणमा सकता है?*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इसलिये एक द्रव्य के द्रव्यगुण उपादान रूप से अन्य द्रव्यों के द्रव्यगुण के रूप में परिवर्तित नहीं होते यानी सभी द्रव्यों के गुण और द्रव्य अपने–अपने गुणद्रव्य रूप से परिणत होते रहते हैं।

ऐसा होने से उन द्रव्यों का त्रैकालिक अस्तित्व रहता है। सभी द्रव्य अपने अस्तित्व एवं द्रव्यगुण में त्रिकाल स्थित रहते हैं। इस कारण से वे अन्य द्रव्य के रूप में संक्रमित नहीं होते। जैसे जीव का ज्ञानगुण पुद्गल रूप नहीं होता और न ही पुद्गल के स्पर्श आदि गुण आत्म द्रव्य रूप होते हैं। यदि ज्ञानगुण पुद्गलद्रव्य के रूप में संक्रमित नहीं होता तो वह पुद्गलद्रव्य को कैसे परिणमा सकता है? कभी नहीं परिणमा सकता।

ऐसी वस्तुस्थिति होने के कारण कोई भी द्रव्य उपादान रूप से अन्य द्रव्यों को कैसे परिणमा सकता है? वह उन्हें कभी परिणमा नहीं सकता है। हाँ, वह अन्य द्रव्यों के परिणमन में निमित्त बन सकता है। यही वस्तुव्यवस्था है। यहाँ उपादान की अपेक्षा से बात बतायी गयी है उसे किसी को ग़लत अर्थघटन के कारण निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध में नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि मोक्षमार्ग की साधना में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का ख्याल रखना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १११

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ।।104।।

भावानुवाद : *आत्मा अपने द्रव्यगुण को पुद्गलमय कर्मरूप नहीं करती। तो आत्मा स्वयं को आत्मा और पुद्गल उभय रूप से न करते हुए कर्मों की कर्ता कैसे हो सकती है?*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। आत्मा भी अपने द्रव्यगुण रूप से स्वयंसिद्ध और परिणामी है। इसलिये वह आत्मा अपने द्रव्यगुण को कभी भी पुद्गलमय यानी अचेतन नहीं बनाती। पुद्गल अपने द्रव्यगुण रूप से सदा अचेतन रूप में विद्यमान होता है। वह भी कभी चेतनमय नहीं होता।

इसलिये आत्मा कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य को कर्म में परिवर्तित करने में निमित्त तो बन सकती है लेकिन स्वयं को यानी अपने द्रव्यगुण को उपादान रूप से पुद्गलमय नहीं करती, पुद्गल से तादात्म्य होकर कर्म को नहीं करती, क्योंकि एक द्रव्य एक समय में दो कार्य नहीं करता। ऐसी वस्तुस्थिति होने से आत्मा और पुद्गल दोनों मिलकर उभय रूप से कर्म के कर्ता नहीं बनते। दोनों अपने–अपने द्रव्यगुण में स्थित रहते हुए एक दूसरे के परिणमन में निमित्त बन सकते हैं परन्तु एक–दूसरे के तदात्म्यरूप से कर्ता नहीं बनते, उपादान रूप से कर्ता नहीं बनते। अनादि से यही वस्तुव्यवस्था है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११२

जीवम्हि हेदुभूदे बन्धस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ।।105।।

भावानुवाद : *हेतुभूत (निमित्त भूत) जीव में बन्ध के परिणाम को देखकर 'जीवने कर्म किया' ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है।*

टीका : अनादि से जीव और कर्मों का नीरक्षीरवत् (पानी और दूध की तरह) एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से जीव अनादि से इस संसार में भटक रहा है, अनन्त दुःख झेल

रहा है। कर्मों के उदय के निमित्त से जीव अपने भाव करता है और उस भाव के निमित्त से नये कर्म बँधते हैं। इसलिये उन भावों को भावकर्म या भावास्रव भी कहा जाता है। इस प्रकार अनादि से जीव कर्मों के दुष्चक्र में फँसा हुआ संसार में भटक रहा है।

सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इसलिये जब पुराने कर्मों के निमित्त से जीव के राग–द्वेषमय भाव होते हैं, तब उन राग–द्वेषमय भावों को निमित्त बनाकर कर्मवर्गणारूपी पुद्गल, कर्मों में स्वयमेव परिवर्तित हो जाते हैं। इसी को कर्मबन्ध कहते हैं। उन कर्मों के उदय के वक़्त उन कर्मों के निमित्त से जीव के जो भाव होते हैं कि जिससे नये कर्म बँधते हैं, उन्हें देखकर ऐसा कहा जाता है कि 'जीव के द्वारा कर्म किया गया है'। यह सिर्फ़ उपचार कथन है, क्योंकि जीव कर्मवर्गणारूपी पुद्गल को अपने द्रव्यगुण रूप से परिवर्तित नहीं करता अपितु कर्मवर्गणारूपी पुद्गल स्वयं अपने द्रव्यगुण के रूप में स्वयमेव परिवर्तित होकर जीव के भाव के निमित्त से कर्म के रूप में परिणमते हैं। दोनों एक दूसरे को अनन्य (तादात्म्य) भाव से नहीं परिणमाते। इसलिये उसे उपचार कहा गया है। अनादि से यही वस्तुव्यवस्था है।

कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के जो भी परिणाम (भावकर्म) होते है, उनके निमित्त से नये द्रव्यकर्म बँधते है, उन परिणामों को नये द्रव्यास्रव में निमित्त होने की वजह से भावास्रव भी कहा जाता है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इन भावास्रवों को निश्चय से पुद्गल परिणाम या द्रव्यप्रत्यय भी बताया जाता है। यह समझना आवश्यक है। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं।

यदि कोई अज्ञानी इस तत्त्व को विपरीत रूप में समझकर भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को अकर्ता मानते हुए स्वच्छन्द रूप से परिणमन करता रहे, तो उसे अनन्त भवों के भ्रमण से और अनन्त दुःखों से कोई नहीं बचा सकता।

इसी आशंका के कारण आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्टतः कहा है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन करके उससे छल (भ्रम) नहीं ग्रहण करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११३

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ।।106।।

भावानुवाद : *योद्धाओं द्वारा किये गये युद्ध को राजा ने युद्ध किया ऐसा लोग कहते हैं। उसी प्रकार व्यवहार से कहा जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार राजा और योद्धाओं का उपादान भिन्न होने के बावजूद, योद्धाओं द्वारा किये गये युद्ध को लोग राजा ने युद्ध किया ऐसा कहते हैं। लोग दोनों को अभेद समझकर कथन करते हैं, जो वास्तविकता नहीं है।

उसी प्रकार जीव और वे कर्मवर्गणारूपी पुद्गल जो जीव के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म के रूप में परिवर्तित होते हैं, इन दोनों के उपादान भिन्न हैं, फ़िर भी व्यवहार से उन्हें अभेद मानकर कथन किया जाता है कि जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं। परन्तु निश्चय से जीव को ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता नहीं कहा जा सकता। फिर भी लोग व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि 'जीवने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं'। इसलिये उसको उपचार कथन कहा जाता है।

यदि कोई अज्ञानी इस तत्त्व को अन्यथा समझे, स्वयं को भ्रमवश बौद्धिकरूप से अकर्ता माने और स्वच्छन्द रूप से परिणमन करता रहे, तो उसे अनन्त भवों के भ्रमण से और अनन्त दुःखों से कोई बचा नहीं सकता। क्योंकि जीव ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध में निमित्त अवश्य होता है; वे कर्म उसके ही भावों के प्रतिबिम्ब होते हैं। इस अपेक्षा से ही जीव को कर्म का कर्ता कहा जाता है।

इसी भय के कारण आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्टतः सावधान किया है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन कर, उससे छल (भ्रम) ग्रहण नहीं करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११४

उप्पादेदि करेदि य बन्धदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥107॥

भावानुवाद : *आत्मा पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करती है, बनाती है, बाँधती है, परिणमाती है और ग्रहण करती है, ऐसा व्यवहारनय का वक्तव्य है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। इसलिये उनमें कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता।

अनादि से जीव और कर्मों का नीरक्षीरवत् (पानी और दूध की तरह) एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से जीव अनादि से इस संसार में भटक रहा है, अनन्त दुःख झेल रहा है। क्योंकि उन दोनों में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है।

अनादि से जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है, क्योंकि जब उस जीव के पुराने कर्मों का उदय होता है। तब वह जीव उन कर्मों के उदय के निमित्त से राग–द्वेष करता है और उस राग–द्वेष की वजह से नये कर्म बँधते हैं। तब एकक्षेत्रावगाही कर्मवर्गणा जीव का निमित्त पाकर स्वयं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप में परिवर्तित होती है और आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना लेती है। इसी को लोग व्यवहारनय से ऐसा कहते हैं कि आत्मा ने पुद्गलद्रव्य उत्पन्न किया, बनाया, ग्रहण किया, परिणमाया और बाँधा।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११५

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥108॥

भावानुवाद : *जैसे राजा को व्यवहार से प्रजा के दोष और गुण को उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है, वैसे ही जीव को भी व्यवहार से पुद्गलद्रव्य के द्रव्यगुण उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने–अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती।

इसी प्रकार राजा और प्रजा का भी उपादान भिन्न होने से राजा को निश्चय से प्रजा के गुणदोषों को उत्पन्न करनेवाला नहीं कहा जा सकता। और वैसे ही निश्चय से जीव को पुद्गलद्रव्य के द्रव्यगुणों को उत्पन्न करनेवाला नहीं कहा जा सकता।

अपितु व्यवहार से राजा को प्रजा के गुणदोषों को उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है। उसी प्रकार व्यवहार से जीव को पुद्गलद्रव्य के द्रव्यगुणों को उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है। वस्तुतः दोनों द्रव्य—राजा और प्रजा, जीव और पुद्गल—भिन्न होने के कारण, यदाकदा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होने के बावजूद भी इस कर्तृत्व को उपचार कहा जाता है, क्योंकि उसका त्रिकाल होना नियम नहीं है और दोनों के उपादान भी भिन्न है।

जीव के भावों के निमित्त से कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य की पर्याय तो बदल सकती है परन्तु पुद्गलद्रव्य के द्रव्य और गुण तो कभी नहीं बदलते यानी वे जीवरूप कभी नहीं होते। अनादि से यही वस्तुव्यवस्था है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १०९ – ११२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ११६ – ११९

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बन्धकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय–जोगा य बोद्धव्वा ।।109।।

तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ।।110।।

एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ।।111।।

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वन्ति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वन्ति कम्माणि ।।112।।

भावानुवाद : *वास्तव में बन्ध के चार सामान्य प्रत्यय कहे गये हैं। उन्हें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानें। पुनः उनके तेरह भेद कहे गये हैं। वे प्रथम मिथ्यादृष्टि से सयोगी*

(केवली गुणस्थान) के अन्त तक हैं। ये (मिथ्यात्वादि गुणस्थान या प्रत्यय) निश्चय से अचेतन हैं, क्योंकि वे पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। यदि वे कर्म करते हैं तो उन कर्मों की भोक्ता भी आत्मा नहीं है, क्योंकि वे गुणस्थान नामक प्रत्यय कर्म करते हैं। इसलिये जीव कर्मों का कर्ता नहीं है और गुणस्थान नामक प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं।

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करता है और आगे आत्मानुभूति करता है उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति ही शुद्धनय है यानी आत्मानुभूति से ही निश्चय प्रकट होता है और वह आत्मानुभूति परम पारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा की होती है। इसलिये निश्चय से आत्मा सिर्फ़ परम पारिणामिकभाव रूप परम अकर्ताभावरूप कही जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव को वही आत्मा उपयोग और लब्धिरूप से अनुभव में आती है। सम्यग्दृष्टि जीव को उसी में मैंपन होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ अपने ज्ञान का ही कर्ताभोक्ता होता है, भावकर्म या भावास्रव का कर्ताभोक्ता नहीं होता। इस अपेक्षा से ही उस भावकर्म या भावास्रव को यानी गुणस्थान को यहाँ निश्चय से अचेतन बताया गया है और आगे गुणस्थान को ही कर्मों का कर्ताभोक्ता भी बताया है। इसे अन्यथा या एकान्त से ग्रहण नहीं करना, नहीं तो अनन्त दुःखों से कोई बचा नहीं पायेगा।

अनादि से जीव को मिथ्यात्व का उदय होने के कारण जीव अज्ञानमय परिणाम करता हुआ संसार में भटक रहा है। अनादि से कर्म के आस्रव और बन्ध के चार सामान्य प्रत्यय हैं। उनमें से पहला प्रत्यय मिथ्यात्व पहले गुणस्थान तक ही होता है। दूसरा प्रत्यय अविरति चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा प्रत्यय कषाय दसवें गुणस्थान तक होता है। और चौथा प्रत्यय योग तेरहवें गुणस्थान तक होता है। इस प्रकार चार सामान्य प्रत्ययों के उपरोक्त भेद होते हैं।

जब जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थ में सिर्फ़ शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। इसी लिये समयसार ग्रन्थ की कई गाथाओं में पर्याय को भी पुद्गल के खाते में डाला गया है, क्योंकि पर्याय पुद्गलकर्मों के निमित्त से होती है। इसी कारण से द्रव्यकर्म और भावकर्म इन दोनों को इस गाथा में पुद्गल बताया गया है। इसी कारण से चार प्रत्यय और तेरह गुणस्थानों को भी पुद्गलकर्मों से उत्पन्न बताया है और उन्हें निस्सन्देह अचेतन भी बताया गया है।

आगे 'आत्मा उनकी भोक्ता नहीं है' यह भी बताया गया है, क्योंकि जो शुद्धात्मा है यानी जो आत्मानुभूति का विषय है वह द्रव्यात्मा होने की वजह से न तो कर्ता है और न ही भोक्ता है। ज्ञानी के अभिप्राय में उसका स्व–स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं बनता।

गुणस्थान नामक प्रत्यय द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप हैं। उनमें से द्रव्यकर्म तो अचेतन पुद्गल ही हैं और भावकर्म जीव की सचेतन पर्याय हैं। वे पुद्गलकर्मों के निमित्त से बने हैं। इसलिये सचेतन पर्याय को भी पुद्गल के खाते में डाल दिया गया है। इसी कारण से द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप गुणस्थान नामक पौद्गलिक प्रत्यय को कर्म का कर्ता कहा गया है और आत्मानुभूतिस्वरूप जीव को अकर्ता कहा गया है। इसका उद्देश्य आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा का ज्ञान कराना है और यह स्पष्ट करना है कि आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा कैसी होती है।

कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के जो भी गुणस्थान (भावकर्म) होते हैं, उनके निमित्त से नये द्रव्यकर्म बँधते हैं, उन परिणामों को नये द्रव्यास्रव में निमित्त होने की वजह से भावास्रव भी कहा जाता है, उसे ही यहाँ गुणस्थान नामक प्रत्यय बताया गया है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसी कारण से इन गुणस्थान नामक प्रत्यय रूप भावास्रव को निश्चय से पुद्गल परिणाम बताया गया है। उनको ही कर्म का कर्ता भी बताया गया है। यह समझना आवश्यक है। इन गाथाओं में स्पष्ट रूप से बताया है कि ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय से अचेतन हैं, क्योंकि वे पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं।

यदि कोई अज्ञानी इस तत्त्व को विपरीत रूप से समझे, भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को अकर्ता माने और स्वच्छन्द रूप से परिणमन करता रहे, तो उसे अनन्त भवों के भ्रमण से तथा अनन्त दुःखों से कोई नहीं बचा सकता। क्योंकि जीव ज्ञानावरण आदि कर्मों के बन्ध में निमित्त अवश्य होता है। वे कर्म उसी के अशुद्धभावों के प्रतिबिम्ब होते हैं।

इसी आशंका के कारण आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्टतः कहा है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन करके उससे छल (भ्रम) ग्रहण नहीं करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ११३ – ११५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १२० – १२२

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ।।113।।

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ।।114।।

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।115।।

भावानुवाद : *जिस प्रकार जीव से उपयोग अनन्य है, उसी प्रकार यदि क्रोध भी जीव से अनन्य हो जाये, तो जीव और अजीव के बीच अनन्यत्व (तादात्म्य) स्थापित हो जायेगा। इस रीति से इस लोक में जो जीव है, वही नियम से अजीव हो जायेगा। उसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म, और कर्मों का जीव से एकत्व (मानने) में भी यही दोष होगा (कि जीव अजीव हो जायेगा)। इसलिये तुमको (यह मानना चाहिये कि) क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है। जैसे क्रोध (अन्य है), उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी अन्य हैं।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करता है और आगे आत्मानुभूति करता है उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति ही शुद्धनय है यानी आत्मानुभूति से ही निश्चय प्रकट होता है और वह आत्मानुभूति परम पारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा की होती है। इसलिये निश्चय से आत्मा सिर्फ़ परम पारिणामिकभाव रूप परम अकर्ताभावरूप कही जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव को वही आत्मा उपयोग और लब्धिरूप से अनुभव में आती है। आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा बताने के लिये यानी दृष्टि का विषय समझाने के लिये ही यहाँ भावकर्म या भावास्रव को यानी क्रोध को उपयोगस्वरूप आत्मा से अन्य बताया गया है। और आगे प्रत्यय, कर्म और नोकर्म को भी अन्य बताया गया है, क्योंकि आत्मानुभूति में इन सभी से भेदज्ञान होता है। इसे अन्यथा या एकान्त से ग्रहण नहीं करना, नहीं तो अनन्त दुःखों से कोई बचा नहीं पायेगा।

जैसे आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग से अनन्य है, वैसे क्रोध आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा से अनन्य नहीं है। क्योंकि क्रोध आत्मा की कर्मों के निमित्त से होनेवाली विभाव पर्याय

है और आत्मानुभूति में विभाव पर्याय गौण हो जाती है। इसलिये जैसे जीव और उपयोग आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा में अनन्य हैं, वैसे क्रोध आत्मानुभूति में नहीं होने के कारण आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा से अनन्य नहीं है बल्कि अन्य है।

यदि क्रोध को आत्मा से अनन्य माना जाये तो आत्मा का क्रोध के साथ वैसा त्रिकाल सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा जैसा आत्मा का उपयोग के साथ है। परन्तु क्रोध क्षणिक भाव है, त्रिकाल भाव नहीं है। फिर भी कोई क्रोध को आत्मा से अनन्य मानता हो तो अजीव के निमित्त से होनेवाले क्रोध को समयसार ग्रन्थ में अजीव कहा गया है, क्योंकि शुद्धात्मानुभूति रूप जीव में क्रोध नहीं होता – इस आधार पर शुद्धात्मानुभूति रूप जीव और क्रोधरूप अजीव का तादात्म्य सम्बन्ध बन जायेगा। ऐसा मानने पर जो जीव है वही नियम से अजीव हो जायेगा यानी भेदज्ञानरूप आत्मानुभूति नहीं हो पायेगी। यहाँ त्रिकाल तादात्म्य सम्बन्ध की बात की गयी है, क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध की बात को गौण कर दिया गया है। क्रोध को आत्मा के साथ क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु यहाँ त्रिकाल शुद्धात्मा अभिप्रेत होने से उसे अनन्य नहीं माना गया है।

मिथ्यात्वादि प्रत्यय, ज्ञानावरणीय आदि कर्म, जीव और अजीवरूप होते हैं – जैसे जीव मिथ्यात्व और अजीव मिथ्यात्व। मिथ्यात्व की पर्याय जीव मिथ्यात्व है। पौद्गलिक मिथ्यात्व कर्म अजीव मिथ्यात्व है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्म भी द्रव्य और भाव के रूप में होते हैं। उनमें से जो द्रव्यकर्म है वह अजीव है और जो भावकर्म है वह जीव है। शरीरादि नोकर्म जीव या अजीवरूप होते हैं।

आगे उसी आधार पर मिथ्यात्वादि प्रत्यय, ज्ञानावरणीय आदि कर्म और शरीरादि नोकर्म को भी जीव मानने का प्रसंग आयेगा। जीव का इन सबसे तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर यही दोष आयेगा कि जीव अजीव हो जायेगा।

इस दोष से बचने के लिये सभी आत्मार्थियों को आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से और सम्यग्दर्शन का विषय समझने के लिये क्रोध से, यानी सभी विभाव पर्यायों से भेदज्ञान करने के लिये स्वयं को मात्र उपयोगस्वरूप आत्मा के रूप में अनुभव करने हेतु वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने का प्रयास करना चाहिये। इसलिये यहाँ क्रोध को उपयोगस्वरूप आत्मा से भिन्न बताया गया है। आगे उसी प्रकार से मिथ्यात्वादि प्रत्यय, ज्ञानावरणीय आदि कर्म और शरीरादि नोकर्म से भी आत्मा को भिन्न बताया गया है। वास्तव में यहाँ परोक्ष रूप से सम्यग्दर्शन का विषय बताया गया है, आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा बतायी गयी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ११६ – ११८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १२३ – १२५

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जदि पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ।।116।।

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।।117।।

जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ।।118।।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ११९ – १२०

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ।।119।।

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ।।120।।

भावानुवाद : *यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं बँधा हुआ नहीं है और न ही कर्मभाव से स्वयं परिणत होता है (ऐसा माना जाये) तो (वह पुद्गलद्रव्य) अपरिणामी हो जायेगा। कर्मवर्गणाओं का कर्मभाव से परिणमन न होने पर संसार का अभाव हो जायेगा अथवा सांख्य मत का प्रसंग बनेगा। (यदि ऐसा माना जाये कि) जीव ही पुद्गलद्रव्यों को कर्मभावरूप से परिणत करता है, तो उन स्वयं परिणमन न करनेवाले (पुद्गलद्रव्यों) को यह चेतन जीव कैसे परिणमा सकता है? यदि (यह माना जाये कि) पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणमते हैं तो जीव कर्म को परिणमाता है, ऐसी (पहले बतायी गयी) कर्मरूपान्तरता मिथ्या होगी। नियम से (जिस प्रकार) कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्य कर्म ही हैं इसी प्रकार ज्ञानावरणादि के रूप में परिणत (आत्मा, ज्ञानावरणादि कर्म) ही हैं—ऐसा जानें।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती।

फिर भी यदि यह माना जाये कि कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं बँधा हुआ नहीं है और न ही स्वयं कर्म रूप से परिणत होता है तो उसे अपरिणामी मानने का दोष आयेगा। यदि कोई भी द्रव्य अपरिणामी है तो उस द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। क्योंकि सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी होते हैं।

और यदि कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य स्वयं जीव के भावकर्म यानी भावास्रव के निमित्त से कर्मभाव से परिणमन न करे तो जीव को कर्मबन्ध न होने के कारण संसार का ही अभाव हो जायेगा अथवा सांख्य मत का प्रसंग बनेगा।

उपरोक्त दोष से बचने के लिये यदि यह माना जाये कि जीव ही कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्यों को कर्मरूप से परिणत करता है तो वे कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य जो स्वयं परिणत नहीं होते हैं उन्हें जीव कैसे परिणमा सकता है? इसमें दो प्रकार से दोष आ जायेंगे।

१. कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्यों को अपरिणामी मानने से उनका अस्तित्व ही मिट जायेगा।

२. जीव को अपनी और पुद्गल की, ऐसी दो क्रियाओं का कर्ता मानने से द्विक्रियावाद का दोष लगेगा।

इस दोष से बचने के लिये यदि ऐसा माना जाये कि कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य स्वयं ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणत हो जाता है तो जो शास्त्रों में कहा है कि जीव कर्म का कर्ता है यानी जीव ही कर्मवर्गणारूपी पुद्गल को ग्रहण करके ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में बाँधता है, तो यह बात मिथ्या हो जायेगी।

इसलिये यह मानना उचित होगा कि नियम से आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन के निमित्त से कर्मवर्गणारूपी पुद्गल ही ज्ञानावरणादि कर्म के रूप में परिणत होते हैं। इसलिये वस्तुव्यवस्था यह है कि कर्मवर्गणारूपी पुद्गल स्वयं परिणामी होने के कारण जीव के पुराने कर्मों के निमित्त से उपजे भावों का निमित्त पाकर स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में परिणत होते हैं और जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना लेते हैं। इसी प्रकार जीव भी पुराने कर्मों का निमित्त पाकर स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में परिणत होता है। अर्थात् आत्मा और पुद्गल–कार्मण वर्गणा रूप कर्म–दोनों अपने–अपने उपादान से तथा एक–दूसरे के निमित्त से ज्ञानावरण आदि कर्मरूप में परिणत होते हैं। इसी लिये अनादि से जीव संसार में भटक रहा है। उस भटकन के

अन्त के लिये और अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने के लिये सभी जीवों को इस भव में शीघ्र ही आत्मप्राप्ति का उपाय करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १२१ – १२५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १२६ – १३०

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ।।121।।

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसाररस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।।122।।

पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ।।123।।

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ।।124।।

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ।।125।।

भावानुवाद : *यदि तुम्हारा मत है कि यह जीव न तो स्वयं कर्मों से बँधा हुआ है और न ही स्वयं क्रोधादि के रूप में परिणमता है तो (वह जीव) अपरिणामी होगा। क्रोधादि भावों से जीव के स्वयं परिणत न होने पर संसार का अभाव (हो जायेगा) या सांख्य मत (का प्रसंग) बनेगा। (यदि) पुद्गलकर्मरूपी क्रोध जीव को क्रोध के रूप में परिणमन करवाता है तो स्वयं अपरिणत रहनेवाले (जीव को पुद्गलकर्मरूपी) क्रोध कैसे परिणमा सकता है? यदि तुम्हारी ऐसी बुद्धि है कि आत्मा स्वयं क्रोध भाव में परिणमती है तो (पुद्गलकर्मरूपी) क्रोध जीव को क्रोध के रूप में परिणमाता है यह (कहना) मिथ्या होगा। (अतः यह मानना चाहिये कि आत्मा जब अपने पारिणामिक स्वभाव के कारण) क्रोध में उपयुक्त है तो क्रोध है, मान में उपयुक्त है तो मान है, माया में उपयुक्त है तो माया है और लोभ में उपयुक्त है तो लोभ है।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणमनशील होते हैं। सभी द्रव्य अपने उपादान के रूप में स्वयं परिणमते हैं। इसलिये उपादान के रूप से उनमें अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं

होती। अर्थात् यदि कोई द्रव्य स्वयं जिस रूप में नहीं परिणमता है, उसे अन्य कोई भी द्रव्य उस रूप में नहीं परिणमा सकता। उदाहरणार्थ—सिद्ध के जीव को अन्य कोई भी द्रव्य रागादि के रूप में नहीं परिणमा सकता, क्योंकि अभी उस जीव की वह योग्यता ही नहीं बची। इसलिये यह सिद्धान्त हुआ कि जो द्रव्य स्वयं जिस रूप में परिणमता है, उसे अन्य द्रव्य निमित्त अवश्य बन सकते हैं परन्तु उस द्रव्य के परिणमन के उपादान कर्ता नहीं बन सकते। उपादान कर्ता स्वयं द्रव्य ही होता है और जो परिणाम है वह भी स्वयं द्रव्य ही है। अर्थात् परिणाम और परिणामी भिन्न नहीं हैं। समझने के लिये या समझाने के लिये उसे भिन्न बताया जाता है जिसे आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा ८ में अनार्य की भाषा बताया है, क्योंकि वास्तव में वे भिन्न नहीं हैं।

यदि किसी का यह मत है कि जीव कर्मों से स्वयं नहीं बँधता बल्कि कर्म उसे बाँधते हैं। फलस्वरूप जीव स्वयं क्रोधादि के रूप में नहीं परिणमता बल्कि उसे पुद्गलकर्म परिणमाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कई लोग भ्रमवश स्वयं को त्रिकाल शुद्ध (अपरिणामी) ही मानते हैं और वैसे लोग ग़लत अर्थघटन के कारण जीव के क्रोधादि परिणाम पुद्गल के मानते हैं। जबकि लोक में जीव को क्रोधादि करते हुए देखा जाता है। ऐसा होने पर भी भ्रमवश वैसे अज्ञानी लोग उस क्रोधादि की ज़िम्मेदारी स्वयं न लेकर पुद्गल पर डाल देते हैं और स्वयं को भ्रमवश त्रिकाली शुद्ध मानते हुए मन, वचन और काया से स्वछन्दाचार करते हैं, क्योंकि वे अपने को भ्रमवश अबन्धस्वरूप–अपरिणामी ही मानते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हुए कर्मबन्ध की ज़िम्मेदारी भी नहीं लेते। यह बहुत बड़ा ख़तरा है क्योंकि यह ग़लत मान्यता जीव को अनन्तकाल तक संसार में भटका सकती है। इसी आशंका से आचार्यश्री ने गाथा पाँच में बताया है कि इस शास्त्र को आत्मानुभूति से प्रमाण करना, छल (भ्रम) ग्रहण मत करना।

यदि ऐसा माना जाये कि जीव अपरिणामी है, वह स्वयं क्रोधादि रूप नहीं परिणमता तो फिर संसार का ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि अनादि से जीव कर्मों से एकक्षेत्रावगाही रूप से बँधा होने से ही उसके संसार का अस्तित्व है। अनादि से जीव का कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। इसको अन्य शब्दों में 'जीव कर्म से बँधा हुआ है' ऐसा कहा जाता है। जब कर्मों का उदय होता है, तब वे कर्म जीव के रागादिभावों के निमित्त बनते हैं और तब उन रागादिभावों के निमित्त से नये कर्म बँधते हैं। जीव अनादि से इस विषचक्र में फँसा हुआ है। इस विषचक्र में फँसे जीव के संसार का अभाव नहीं होता। यदि जीव को स्वयं के रागादिभावों के परिणमन का कर्ता न मानते हुए, पुद्गलकर्मों

को रागादिभावों का कर्ता मानते हुए जीव को अपरिणामी मानेंगे तो उस जीव के संसार का ही अभाव हो जायेगा और सांख्य मत का प्रसंग बनेगा।

यदि कोई भ्रमवश ऐसा माने कि जीव तो अपरिणामी है और पुद्गलकर्मरूप क्रोध जीव को क्रोध के रूप में परिणमाता है तो पुद्गलकर्म पर द्विक्रियावाद का दोष आयेगा यानी एक समय में एक द्रव्य की दो क्रियाएँ मानने का दोष आयेगा। जबकि एक समय में एक द्रव्य की एक ही क्रिया होती है। कोई भी द्रव्य एक समय में दो क्रियाएँ नहीं कर सकता। इसी लिये यह कहा जाता है कि सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध हैं और अपने परिणामों के कर्ता स्वयं हैं। इसलिये इस गाथा में कहा गया है कि अगर कोई द्रव्य स्वयं नहीं परिणमता है तो कोई अन्य द्रव्य उसे कैसे परिणमा सकता है? इसलिये स्वयं परिणमन न करनेवाले जीव को पुद्गलकर्म क्रोधरूप कैसे परिणमा सकता है? नहीं परिणमा सकता। इसलिये यह मानना ग़लत होगा कि 'पुद्गलकर्मरूप क्रोध जीव को क्रोध के रूप में परिणमन करवाता है'।

इससे यह धारणा मिथ्या होगी कि 'पुद्गलकर्मरूप क्रोध परिणमन नहीं करनेवाले जीव को क्रोध भाव में रूपान्तरित करता है' क्योंकि अपरिणामी का कोई परिणाम होता ही नहीं। इस प्रकार जीव को एकान्त से अपरिणामी मानने का फल मिथ्यात्व होता है। इससे सभी को बचना चाहिये, अन्यथा वह मिथ्या मत हो जायेगा। वह जीव जिनमतबाह्य हो जायेगा।

अतः यह मानना अति आवश्यक है कि आत्मा सदा विद्यमान है और परिणमनशील है। यही त्रैकालिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त से जब आत्मा पुद्गलकर्मों के निमित्त से क्रोधरूप परिणमती है, तब वह स्वयं क्रोध ही है। यह बात अशुद्धनिश्चयनय से कही गयी है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि उपादान स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है। इसलिये पुद्गलकर्मों के उदय के निमित्त से जब जीव मान, माया, लोभादि करता है, तब वह जीव स्वयं मान, माया, लोभादि रूप ही होता है। ग़लत अर्थघटन के कारण कई लोग द्रव्य को अपरिणामी और पर्याय का द्रव्य से प्रदेशभेद मानते है। आचार्यश्री ने यहाँ 'आत्मा जब क्रोध में उपयुक्त है तो क्रोध है, मान में उपयुक्त है तो मान है, माया में उपयुक्त है तो माया है और लोभ में उपयुक्त है तो लोभ है' यह बताकर उनके मत को निरस्त कर दिया। इसलिये सभी मोक्षार्थिओं को ऐसी ग़लत मान्यताओं से बचना चाहिये, अन्यथा वे अपने को अनन्त दुःखमय संसार से बचा नहीं पायेंगे।

जीव की यह स्वतन्त्रता है कि वह पुद्गलकर्मों के उदय के कारण मिले संयोगों में अपनी

प्रतिक्रिया संयमित रख सकता है। इसी को मोक्षमार्ग की साधना कहते हैं। इसी से जीव का मोक्ष सम्भव होता है। यही सभी के लिये कर्त्तव्य है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३१

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।

भावानुवाद : *जो परिग्रह को त्यागकर अपनी शुद्धोपयोगात्मक आत्मा को जानता है उसको परमार्थ के ज्ञाता निस्संग साधु कहते हैं।*

टीका : यहाँ निस्संग साधु की व्याख्या की गयी है। शुद्धात्मा की बार–बार अनुभूति करते रहना ही निस्संग साधुता का सबसे बड़ा पैमाना है। चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मा की अनुभूति की आवृत्ति (frequency) न्यूनतम होती है। पाँचवें गुणस्थान में शुद्धात्मा की अनुभूति की आवृत्ति बढ़ती है। छठवें–सातवें गुणस्थान में शुद्धात्मा की अनुभूति न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त में एक बार होती है।

चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मा की अनुभूति होने से उस जीव का मैंपन शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये उस जीव के अभिप्राय में बाह्याभ्यन्तर सभी परिग्रहों का त्याग हो जाता है। फिर जो भी परिग्रह बचता है वह क्रमशः गुणस्थानानुसार परित्यक्त होता रहता है।

लेकिन समयसार अध्यात्मशास्त्र होने के कारण यहाँ सिर्फ़ शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। और उस शुद्धात्मा में कोई भी परिग्रह न होने के कारण यहाँ साधु को निस्संग कहा है। जबकि साधु को भी संज्वलन कषायरूपी अभ्यन्तर परिग्रह होता है। तथापि मात्र शुद्धात्मा में मैंपन होने के कारण उन्हें निस्संग कहा गया है, क्योंकि निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। अतः शुद्धनय से ज्ञानी यानी सम्यग्दृष्टि जीव को अभिप्राय में सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही स्व–स्वामित्व सम्बन्ध होने की वजह से, निश्चयनय से सम्यग्दृष्टि जीव भी निस्संग ही होता है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३२

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।

भावानुवाद : *जो मोह को त्यागकर आत्मा को ज्ञानस्वभाव से अधिक अनुभव करता है, उसे परमार्थ को जाननेवाले जितमोही साधु कहते हैं।*

टीका : यहाँ जितमोही साधु की व्याख्या की गयी है। शुद्धात्मा की अनुभूति बार-बार करते रहना ही जितमोही साधुता का सबसे बड़ा पैमाना है। चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मा की अनुभूति होने से उस जीव का मैंपन शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये उस जीव के अभिप्राय में मोह का अभाव हो जाता है। सत्ता में रहे कर्मों में से भी दर्शनमोह सप्तक का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है। उसके बाद जो मोह बचता है वह क्रमशः गुणस्थानानुसार जाता है। लेकिन समयसार अध्यात्मशास्त्र होने के कारण यहाँ सिर्फ़ शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। और उस शुद्धात्मा में मोह न होने के कारण यहाँ साधु को जितमोही कहा गया है।

यहाँ 'ज्ञानस्वभाव से अधिक जानता है' कहने का तात्पर्य यह है कि जानने एवं देखने स्वरूप विशेषात्मक ज्ञानस्वभाव से अधिक ज्ञानसामान्यभावरूप अनुभव करता है, मात्र जानता नहीं है, क्योंकि यदि मात्र जानना ही उद्देश्य होता तो हमने अनेकों बार नौ पूर्व तक अभ्यास करके उसे शब्दरूप से जाना है परन्तु मात्र बौद्धिकरूप से जानने से काम नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें सभी जगह जानने और देखने को अनुभवपूर्वक ही बताया है। इसे अन्यथा न समझें। इसलिये आत्मा को अनुभव से जानना ही ज्ञानस्वभाव से अधिक जानना कहा है।

ग्रन्थकार ने आत्मा के अनुभव का विषय भी बताया है। ज्ञानी स्वपर को जानता है और अज्ञानी सिर्फ़ पर को जानता है। अज्ञानी का यह पर को जानना ज्ञान का ही स्वभाव है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मानुभूति की विधि बता दी है। ज्ञानी उस ज्ञानस्वभाव से अधिक यानी पर के जानने को गौण करके ज्ञान के जिस धरातल पर, पर का ज्ञान प्रतिबिम्बित होता है उस ज्ञानधरातल का यानी ज्ञानसामान्य का अनुभव करता है। वह उसी में मैंपन करके अनुभव करता है। अज्ञानी का पर का जानना विशेष है। जिस ज्ञानधरातल पर, पर प्रतिबिम्बित होता है उसे

सामान्यभाव कहते हैं। वह सामान्यभाव स्वपर को जाननेवाले विशेष ज्ञानस्वभाव से अधिक है। आत्मानुभूति के लिये ज्ञानविशेषरूप इन्द्रियज्ञान और ज्ञानविशेषरूप इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान से ज्ञानसामान्य का महत्त्व अधिक है, क्योंकि ज्ञानविशेष ज्ञानसामान्यरूप आत्मानुभूति में जाने की सीढ़ी है और ज्ञानसामान्य की अनुभूति मोक्षमार्ग है।

यहाँ सम्यग्दर्शन का विषय भी बताया गया है और उसके अनुभव से जीव जितमोही बनता है, यह भी बताया गया है। जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यताओं को पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसे सिर्फ़ शुद्धात्मा ही अनुभव में आती है। उस जीव का स्व–स्वामित्व निश्चय से शुद्धात्मा में ही होता है और उस शुद्धात्मा में मोह नहीं होता, क्योंकि वह शुद्धात्मा त्रिकाल शुद्धभाव है। इसलिये यहाँ शुद्धात्मा की अनुभूति करनेवाले को जितमोही कहा गया है। शुद्धनय से ज्ञानी यानी सम्यग्दृष्टि जीव को अभिप्राय में सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही स्व–स्वामित्व सम्बन्ध होने की वजह से, निश्चयनय से सम्यग्दृष्टि जीव भी जितमोही ही होता है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३३

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ।।

भावानुवाद : *जो (व्यवहार) धर्म को छोड़कर उपयोगात्मक शुद्धात्मा का अनुभव करता है, परमार्थ को जाननेवाले उसे (व्यवहार) धर्म के परिग्रह से रहित कहते हैं।*

टीका : हमने अनादि से अज्ञानवश बाह्यक्रियात्मक व्यवहारधर्म को ही सत्यधर्म माना है। इसलिये हम अभी तक इस संसार में भटक रहे हैं। बाह्यक्रियात्मक व्यवहारधर्म स्कूल की यूनिफ़ॉर्म जैसा है। सिर्फ़ यूनिफ़ॉर्म पहनने से छात्र कक्षा में उत्तीर्ण नहीं होता, उसे पढ़ाई भी करनी होती है। इसी लिये आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के बिना मात्र स्कूल यूनिफ़ॉर्म जैसा बाह्यक्रियात्मक व्यवहारधर्म व्यवहाराभास कहलाता है।

यहाँ व्यवहारधर्म को छोड़कर उपयोगात्मक शुद्धात्मा का अनुभव करने को कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं करना कि व्यवहारधर्म छोड़ दें। बल्कि उसका यह अर्थ करना कि उस व्यवहारधर्म को पालने से कृतकृत्य न होते हुए, उसका पक्षपात न रखते हुए एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से ही व्यवहारधर्म को पालना है, क्योंकि व्यवहारधर्म मोक्ष दिलाने में समर्थ नहीं है।

आगे वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर जब कोई भी जीव उपयोगात्मक शुद्धात्मा का अनुभव करता है, तब वह आत्मानुभूति निर्विकल्प ही होती है। उसमें कोई भी संकल्प-विकल्प न होने से यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को व्यवहारधर्म के परिग्रह से रहित बताया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मानुभूति में व्यवहारधर्म के कोई भी विकल्प नहीं होते। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि व्यवहारधर्म के परिग्रह से रहित होता है।

यहाँ यह भी बताया गया है कि धर्म को परिग्रहरूप से न तो धारण करना है और न परिग्रहरूप में उसे पाने की इच्छा भी करनी है। क्योंकि सांसारिक दृष्टि से बुद्धिमान अनेक लोग यह समझते हैं कि जैसे हमने अपनी होशियारी से जगत में यश, कीर्ति, धन-दौलत, शोहरत आदि प्राप्त किये हैं, उसी प्रकार हम अपनी सांसारिक होशियारी से धर्म (सम्यग्दर्शन) भी पा लेंगे। उन्हें यहाँ बताया गया है कि धर्म कोई बाहर से पाने की वस्तु नहीं है, धर्म तो भीतर में प्रकट करना है; अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति का नाम धर्म है। और वह धर्मप्राप्ति वैराग्य के बिना तथा पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाये बिना नहीं होगी। सांसारिक होशियारी को अच्छी मानना तो बहिर्मुखता का द्योतक है, क्योंकि वह नियम से बाहर की ओर ले जाती है, बहिरात्मा बनाये रखती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १२६ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३४

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥126॥

भावानुवाद : *आत्मा जिस भाव को करती है वह उस (भाव) कर्म की कर्ता होती है। ज्ञानी का वह (भाव) कर्म ज्ञानमय होता है और अज्ञानी का (वह भाव) अज्ञानमय होता है।*

टीका : लोक के छहों द्रव्य परिणामी हैं। सभी द्रव्य शाश्वत और परिणमनशील हैं। वैसे ही आत्मा भी शाश्वत और परिणमनशील है। इसलिये सभी जीव उपादान से सिर्फ़ अपने भाव के कर्ता हैं। मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव का मैंपन आत्मा की पर्याय और पुद्गल की पर्याय में मिश्रित रूप में होता है। इसलिये अज्ञानी जीव का भाव अज्ञानमय होता है।

जब वही जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसमान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी के अभिप्राय में उसका स्व–स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। चूँकि आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा मात्र ज्ञानमय होती है। इसलिये ज्ञानी के अभिप्राय में अपने सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन अवस्थित रहता है, तब तक ज्ञानी का शुद्धोपयोगरूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन बना रहता है। इस प्रकार शुद्धात्मा मात्र ज्ञानघन होने से ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी का मैंपन रागादि के रूप में पर्याय में होने से अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १२७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३५

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ।।127।।

भावानुवाद : *अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं। इसलिये वह कर्मों का कर्ता है। ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं। इसलिये वह कर्मों का कर्ता नहीं है।*

टीका : मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव का मैंपन आत्मा की पर्याय और पुद्गल की पर्याय के मिश्रित रूप में होता है। इसलिये अज्ञानी जीव का भाव अज्ञानमय होता है। इसलिये अज्ञानी अपने अज्ञान भाव के निमित्त से कर्मों को ग्रहण करता है। अज्ञानमय भाव करता हुआ वह अपने भावकर्म का कर्ता बनता है। इसलिये उसे अपने कर्मों का कर्ता कहा जाता है।

जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसमान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। उस ज्ञानी के अभिप्राय में उसका स्व–स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। चूँकि आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा मात्र ज्ञानमय होती है, अतः ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं।

आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा परम अकर्ता होती है। इसलिये ज्ञानी निश्चय से अपने भावकर्मों का अकर्ता होता है। इस अपेक्षा से कहते हैं कि ज्ञानी कर्मों को नहीं करता यानी ज्ञानी

कर्मों का कर्ता नहीं बनता। वह सिर्फ़ उनका ज्ञाताद्रष्टा ही रहता है। जबकि अज्ञानी का मैंपन पर्याय में होता है और पर्याय ही कर्मों के बन्ध में निमित्त होती है। इसलिये अज्ञानी कर्मों का कर्ता होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १२८–१२९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३६–१३७

णाणमया भावादो णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ।।128।।

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ।।129।।

भावानुवाद : *चूँकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। चूँकि अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसलिये अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।*

टीका : लोक के छहों द्रव्य परिणामी हैं। सभी द्रव्य शाश्वत और परिणमनशील हैं। वैसे ही आत्मा भी शाश्वत और परिणमनशील है। इसलिये सभी जीव उपादान से सिर्फ़ अपने भाव के कर्ता बनते हैं।

जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसमान्यभावरूप शुद्धात्मा में ही होता है। उस ज्ञानी के अभिप्राय में उसका स्व–स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। चूँकि आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा मात्र ज्ञानमय होती है। इसलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन अवस्थित रहता है, तब तक ज्ञानी का शुद्धोपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन बना रहता है। इस प्रकार शुद्धात्मा मात्र ज्ञानघन होने के कारण निश्चय से ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। ज्ञानी के मैंपन की अपेक्षा से यह बात बतायी है।

मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव का मैंपन आत्मा की पर्याय और पुद्गल की पर्याय के मिश्रित रूप में होता है। इसलिये वह पर्यायदृष्टि होता है और पर्याय में अज्ञान का उदय होने के कारण ही उसके भाव अज्ञानमय होते हैं। अज्ञानी को मिथ्यात्व का उदय और बन्ध होने के कारण उसके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १३०-१३१ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३८-१३९

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायन्ते तु कडयादी ।।130।।

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायन्ते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ।।131।।

भावानुवाद : *जैसे स्वर्णमय भाववाली वस्तु से (स्वर्णमय) कुण्डलादि वस्तुएँ बनती हैं और लौहमय भाववाली वस्तु से (लोहे के) कड़े इत्यादि बनते हैं। वैसे ही अज्ञानी के अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं।*

टीका : लोक के छहों द्रव्य परिणामी हैं। सभी द्रव्य शाश्वत और परिणमनशील हैं। कोई भी द्रव्य जिस मूलभूत भाव से बना है उसका परिणमन भी उसी भाव के रूप में होता है। इसलिये सोने से सोने के कुण्डलादि आभूषण बनेंगे और लोहे से लोहे के कड़े इत्यादि वस्तुएँ बनेंगी- यह नियम कहा गया है।

वैसे ही मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव का मैंपन आत्मा की पर्याय और पुद्गल की पर्याय के मिश्रित रूप में होता है। इसलिये वह पर्यायदृष्टि होता है और पर्याय में अज्ञान का उदय होने के कारण ही उसके अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं। यह बात अज्ञानी के मैंपन की अपेक्षा से बतायी गयी है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ तथा उसी में स्थित हूँ' ऐसा करने से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जायेगा, इससे तो उल्टा निश्चयाभास ही होगा, भ्रम ही होगा, क्योंकि अज्ञानी के इन भावों को यहाँ अज्ञानमय बताया गया है। ऐसा जीव धर्म में पुरुषार्थहीन बनकर संसार के कामों में ही मग्न रहेगा और स्वयं को आत्मप्राप्ति हो गयी है या अपने आप हो जायेगी—ऐसी ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब अभिप्राय की अपेक्षा से उसका स्व-स्वामित्व शुद्धात्मा में ही होता है। चूँकि आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा मात्र ज्ञानमय होती है। अतः ज्ञानी के

सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन अवस्थित रहता है, तब तक ज्ञानी को शुद्धोपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन बना रहता है। इस प्रकार शुद्धात्मा मात्र ज्ञानघन होने के कारण निश्चय से ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। यह बात ज्ञानी के मैंपन की अपेक्षा से बतायी गयी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १३२-१३६ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १४०-१४४

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ।।132।।

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ।।133।।

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कादव्वो विरदिभावो वा ।।134।।

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ।।135।।

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ।।136।।

भावानुवाद : *अज्ञान के उदय (के निमित्त) से जीवों को अतत्त्व की उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व के उदय (के निमित्त) से जीवों को अश्रद्धान होता है। असंयम के उदय (के निमित्त) से जीवों में अविरति होती है। (जीवों का) जो कषायरंजित उपयोग है, वह जीवों के कषाय का उदय है। योग के उदय (के निमित्त) से जीवों के चित्त में शुभ और अशुभ में प्रवृत्ति या विरति के प्रति उत्साह जानो। इन हेतुओं (निमित्तों) से कर्मवर्गणा के रूप में आया हुआ (पुद्गलद्रव्य) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप में परिणमता है। जब वह कर्मवर्गणा के रूप में आया हुआ (पुद्गलद्रव्य) वास्तव में जीव से (कर्म के रूप में) बँधता है, तब जीव के परिणामभाव उस कर्मबन्धन में निमित्त बनते हैं।*

टीका : हम इस दुःखमय संसार में अनादि से अज्ञानवश भटक रहे हैं। उसका प्रमुख कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण जीव का मैंपन आत्मा की पर्याय और पुद्गल की पर्याय

के मिश्रित रूप में होता है। हर समय जीव के पुराने कर्मों का उदय आता है और जीव उनके निमित्त से विभाव दशा पाता है और उन राग–द्वेषमय विभावों के निमित्त से नये कर्म बँधते हैं। आगम में नये कर्मबन्ध के पाँच कारण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं : मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इसी बात को इन गाथाओं में थोड़ी–सी तब्दीली करके समझाया है।

यहाँ बताया गया है कि जीव को जब मिथ्यात्व का उदय होता है यानी जीव जब देहादि से मैंपन करता है, तब उसे अतत्त्व का श्रद्धान होता है। अतत्त्व श्रद्धान अर्थात् स्वतत्त्व में मैंपन न करके परतत्त्व में मैंपन करना। इसे ही अज्ञान बताया गया है और कहा गया है कि अज्ञान के उदय के निमित्त से जीवों को अतत्त्व की उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व के उदय के निमित्त से जीवों को अश्रद्धान होता है।

जब जीव को अविरति का उदय होता है, तब उसे अविरति के परिणाम होते हैं। जब वह जीव अज्ञान के उदय से जुड़ता है, तब उसे अतत्त्व की उपलब्धि होती है अर्थात् वस्तुव्यवस्था की विपरीत समझ होती है। जब उपयोग कलुषित होता है, तब जीवों को कषायमोहनीय कर्म का उदय निमित्त बनता है।

जब जीव मन–वचन–काय की शुभ और अशुभ चेष्टाओं में उत्साहित होता है या उनसे विरति भाव लाता है, तब उसमें योग का उदय निमित्त बनता है।

लोगों को लगेगा कि यहाँ उदय की बात की गयी है परन्तु वास्तव में यहाँ उदय के साथ आस्रव और बन्ध की भी बात की गयी है, क्योंकि वे सभी एक ही समय में घटित होते हैं। इसी कारण से अगली गाथा में आचार्य कहते हैं कि इन (मिथ्यात्व–अज्ञान–अविरति–कषाय–योग) के निमित्त से पुद्गलकर्मवर्गणा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप में परिवर्तित होकर जीव से बँधती है यानी जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित करती है। तब उसमें जीव के उपरोक्त पाँच भाव निमित्त बनते हैं।

जीव स्वतन्त्र है कि वह कर्मों के उदय से जुड़े या न जुड़े। जब जीव आध्यात्मिक साधना करके सत्ता में रहे अपने कर्मों के अनुबन्ध बदल देता है, तो फिर उन कर्मों के उदय के समय वह या तो उनसे अलिप्त रह सकता है या संयमित प्रतिक्रिया दे सकता है। इसी कारण जीव का मोक्ष सम्भव होता है। अन्यथा, यदि जीव पुराने कर्मों के उदय में नये कर्मों को बाँधता रहे, तो उसके संसार का कभी अन्त नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ जीव और कर्म के बीच अनादिकाल से चले आ रहे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का निरूपण किया गया है।

इन गाथाओं में आचार्यश्री निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बता रहे हैं, जो कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण मानते ही नहीं। वे लोग निमित्त को एकान्त से अकर्ता मानने तक की बातें करते हैं, और स्वयं को निश्चयाभास के कारण ज्ञानी मानने का भ्रम पालते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं—यह है वर्तमान काल की विडम्बना।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १३७

जदि जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पोग्गल–जीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ।।137।।

भावानुवाद : *यदि पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ ही कर्मरूप परिणमन होता है (यानी दोनों मिलकर कर्म के रूप में परिणमते हैं ऐसा मानें) तो पुद्गल और जीव दोनों कर्मत्व को प्राप्त हो जायेंगे।*

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १३८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १४७

एक्कस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।।138।।

भावानुवाद : *यदि अकेले पुद्गलद्रव्य का ही कर्म के रूप में परिणमन होता है तो क्या जीव के (रागादि) भाव के हेतु के बिना ही उसका कर्म के रूप में परिणमन होता है?*

टीका : यदि कोई यह माने कि जीव और कर्म एक साथ मिलकर कर्म के रूप में परिणमते हैं तो जीव और कर्म दोनों का कर्मत्व भाव मानने का प्रसंग आ जायेगा यानी जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य होने के बावजूद दोनों का कर्मरूप से परिणमन मानना पड़ेगा। जबकि द्रव्यकर्म सिर्फ़ पुद्गल के ही होते हैं, जीव के नहीं होते। जो पुद्गल के कर्मरूप परिणाम हैं, वे जीव के पुराने रागादिभावों के निमित्त से ही बने हैं। इस प्रकार हम पुद्गलकर्म को जीव के पुराने रागादिभावों का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं, जिनके उदय के निमित्त से जीव वर्तमान में रागादिभाव करता है। इसलिये पुद्गल का कर्मरूप परिणमन जीव के साथ मिलकर नहीं होता बल्कि सिर्फ़ पुद्गल ही जीव के रागादिभावों के निमित्त से कर्मरूप परिणमता है।

छह द्रव्यों से लोक बना है, उनमें एक द्रव्य जीव तथा पाँच अजीव द्रव्य हैं। द्रव्यकर्म सिर्फ़ पुद्गल के परिणाम हैं। कारण–कार्य व्यवस्था के अनुसार, बिना कारण के कोई भी कार्य

नहीं होता। पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों का उपादानकारण पुद्गलद्रव्य स्वयं होता है और निमित्तकारण जीव के रागादिभाव होते हैं। वे रागादिभाव भी जीव के पुराने कर्मों के निमित्त से बँधे कर्मों के उदय के निमित्तकारण से ही होते हैं।

इस कारण–कार्य व्यवस्था को समझाने के लिये ही इस गाथा में प्रश्न उठाया है कि यदि अकेले पुद्गलद्रव्य का ही कर्म के रूप में परिणमन होता है तो क्या जीव के रागादिभावों के हेतु के बिना ही कर्म के रूप में परिणमन होता है? पुद्गलद्रव्य अपना परिणमन करने में स्वतन्त्र है परन्तु जब पुद्गलद्रव्य कर्मवर्गणा के रूप में परिवर्तित होते हैं, तब जीव के रागादिभाव के निमित्त से जीव के साथ एकक्षेत्रवगाही कर्मवर्गणा द्रव्यकर्म के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ऐसी है कारण–कार्य व्यवस्था और निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध।

इससे तय होता है कि पुद्गल अकेले ही कर्म के रूप में परिणमता है और जीव के भाव उसमें निमित्त बनते हैं। इसलिये जीव के उन भावों को भावकर्म या भावास्रव कहा जाता है।

इन गाथाओं में आचार्यश्री निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बता रहे हैं, जो कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण मानते ही नहीं। वे लोग स्वयं को अपरिणामी और पुद्गलकर्म को राग–द्वेष का तथा नये कर्मों का कर्ता मानते हैं। निमित्त को एकान्त से अकर्ता मानने तक की बातें करते हैं, और स्वयं को निश्चयाभास के कारण ज्ञानी मानने का भ्रम पालते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं–यह है वर्तमान काल की विडम्बना।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १३९–१४० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १४५–१४६

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ।।139।।

एक्कस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ।।140।।

भावानुवाद : *यदि जीव और कर्म एक साथ होकर रागादि के रूप में परिणमते तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिभावरूप होते। यदि अकेले जीव का ही रागादि के रूप में में परिणमन होता है तो कर्मोदय के हेतु के बिना ही जीव का (रागादि के रूप में में) परिणमन होता है क्या?*

टीका : यदि कोई यह माने कि 'जीव और कर्म एक साथ मिलकर रागादि के रूप में परिणमते हैं' तो जीव और कर्म दोनों के रागादिभाव मानने का प्रसंग आयेगा यानी जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य होने के बावजूद दोनों का रागरूप से परिणमन मानना पड़ेगा। जबकि रागादिभाव सिर्फ़ जीव के ही होते हैं पुद्गलकर्म के नहीं होते। जो पुद्गल के कर्मरूपी परिणाम हैं वे जीव के पुराने रागादिभावों के निमित्त से ही बने हैं। इस प्रकार हम पुद्गलकर्म को जीव के पुराने रागादिभावों का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं जिनके उदय के निमित्त से जीव वर्तमान में रागादिभाव करता है।

छह द्रव्यों से लोक बना है, उनमें एक द्रव्य जीव तथा पाँच अजीव द्रव्य हैं। संसारी जीव अपनी गति के अनुसार प्राणों से युक्त होता है। इसलिये मनुष्यादि कहलाता है। रागादिभाव सिर्फ़ जीव के ही होते हैं। कारण–कार्य व्यवस्था के अनुसार, बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता। जीव के रागादिभावों का उपादानकारण जीव के स्वयं के पुराने भाव या संस्कार होते हैं और निमित्तकारण कर्मोदय होता है। वह कर्म जीव के उन पुराने रागादिभावों के निमित्त से ही बँधे होते हैं। इस कारण–कार्य व्यवस्था को समझाने के लिये ही इस गाथा में प्रश्न उठाया है कि 'यदि अकेले जीव का ही रागादि के रूप में में परिणमन होता है तो कर्मोदय के हेतु के बिना ही जीव का (रागादि के रूप में में) परिणमन होता है क्या?' इसलिये समझना यह है कि जीव अपने परिणाम करने में स्वतन्त्र है, फिर भी अनादि से अज्ञानवश कर्मोदय के निमित्त से मिलनेवाले संयोगों में मैंपन और मेरापन करते हुए अपना संसार बढ़ाता है। इसी तरह अनादि से जीव का संसार हरा–भरा है।

इससे तय होता है कि जीव अकेला ही रागादि के रूप में से परिणमता है और पुद्गलकर्म उसमें निमित्त बनते हैं।

इन गाथाओं में आचार्यश्री निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बता रहे हैं, जो कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण मानते ही नहीं। वे लोग स्वयं को अपरिणामी और पुद्गलकर्म को राग–द्वेष का तथा नये कर्मों का कर्ता मानते हैं। निमित्त को एकान्त से अकर्ता मानने तक की बातें करते हैं, और स्वयं को निश्चयाभास के कारण ज्ञानी मानने का भ्रम पालते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं—यह है वर्तमान काल की विडम्बना।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १४८

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ।।141।।

भावानुवाद : *'जीव और कर्म (आपस में) बद्धस्पृष्ट हैं' ऐसा व्यवहारनय का कथन है किन्तु शुद्धनय से जीव और कर्म अबद्धस्पृष्ट हैं।*

टीका : अनादि से जीव और कर्मों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। द्रव्यकर्म के निमित्त से जीव के रागादिभाव उपजते हैं और उन रागादिभावों के निमित्त से जीव के साथ नये द्रव्यकर्मों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनता है। अनादि से अज्ञानवश जीव और कर्मों का ऐसा सम्बन्ध बना हुआ है और जीव कर्म के विषचक्र में फँसा हुआ है। इस अपेक्षा से जीव को कथंचित् रूपी भी कहा जाता है।

जीव अपने उपादान से रागादि के रूप में परिणमता है और उसका निमित्त पाकर पुद्गलकर्मवर्गणा अपने उपादान से कर्म के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अनादि से अज्ञानवश जीव और कर्मों का ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है। अत: जीव को कथंचित् रूपी मानकर व्यवहारनय द्वारा ऐसा कहा जाता है कि जीवने कर्म ग्रहण किये और कर्म बाँधे यानी जीव और कर्म आपस में बद्धस्पृष्ट हैं।

वास्तव में जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य होने के कारण दोनों अपना–अपना परिणमन स्वयं करते हैं और अपना–अपना परिणमन करते हुए एक–दूसरे के परिणमन में निमित्त भी बनते हैं। परन्तु शुद्धनिश्चयनय से आत्मा मात्र आत्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा ही होती है। शुद्धनिश्चयनय में न आत्मा का कोई परिणाम है और न ही निमित्त–नैमित्तिक भाव है। इसलिये शुद्धनय से जीव और कर्मों का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। इससे कहा जा सकता है कि शुद्धनय से जीवने कर्म को न ग्रहण किया है और न ही बाँधा है। इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव को अबद्ध–अस्पृष्ट कहा जाता है।

कई अज्ञानी जीव इस बात को समझ न पाने से, ग़लत अर्थघटन करके एकान्त से इस बात की प्ररूपणा करते हैं और भ्रमवश एकान्त से स्वयं को शुद्ध मानते हैं और ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं। एकान्त से भ्रमवश स्वयं को अबन्धस्वरूप, ज्ञायक, ज्ञाताद्रष्टा मानने लगते हैं। इससे सभी को बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १४९

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कं तो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।142।।

भावानुवाद : *जीव के साथ कर्म बँधा है अथवा नहीं बँधा है, इन (कथनों) को नय पक्ष जानो किन्तु जो पक्षातिक्रान्त है वह समयसार (शुद्धात्मा) कहलाता है।*

टीका : अनादि से जीव और कर्मों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। द्रव्यकर्म के निमित्त से जीव के रागादिभाव उपजते हैं और जीव के उन रागादिभावों के निमित्त से उस जीव के साथ नये द्रव्यकर्मों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनता है। अनादि से अज्ञानवश जीव और कर्मों का ऐसा सम्बन्ध बना हुआ है और जीव कर्म के विषचक्र में फँसा हुआ है।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वह ज्ञानसामान्यभाव ही समय का सार है, यह शुद्धात्मा ही समयसार है।

जो अज्ञानी है उसे सिर्फ़ अपनी पर्याय का ही अनुभव है, पर्याय में ही उसका मैंपन है। इसलिये वह स्वयं को रागी–द्वेषी अनुभव करता है और उस निमित्त से बँधनेवाले कर्मों को भी अपना समझता है। इस प्रकार वह स्वयं को कर्म से बँधा हुआ मानता है। यह एकान्त से व्यवहारनय का कथन है।

निश्चयनय के पक्षवाला निश्चयाभासी जीव एकान्त से जीव को भ्रमवश अबन्ध स्वरूप मानता है। जीव को कर्मों से मुक्त मानता है, यह एकान्त से निश्चयनय का कथन है।

जब कोई भी जीव शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक सम्यग्दृष्टि होता है, तब वह जीव आत्मानुभूति के विषय को शुद्धात्मा बताता है जो कर्मों से अबद्ध (मुक्त) है, यह कहना शुद्धनिश्चयनय का कथन है। सभी नय विकल्पों में ही लगते हैं निर्विकल्प में नहीं लगते। इसलिये सभी नय पर्याय में ही लगते हैं, द्रव्य में नहीं लगते। शुद्धात्मा यानी सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्यात्मा होने से निर्विकल्प है। इसलिये समयसाररूप शुद्धात्मानुभूति नयातीत है और उस समयसार की अनुभूति करनेवाले जीव को पक्षातीत अथवा पक्षातिक्रान्त कहते हैं, क्योंकि उसका ज्ञान प्रमाण हो गया है। इसलिये उसे किसी भी नय से पक्षपात नहीं होता।

अज्ञानी जीवों का नय का ज्ञान नयाभास रूप होता है, क्योंकि उनका ज्ञान प्रमाण नहीं हुआ है। प्रमाणज्ञान के अंशरूप नय अज्ञानी के पास नहीं होता। अतः अज्ञानी के पास सुनय नहीं किन्तु दुर्नय यानी नयाभास ही होता है। इसलिये अज्ञानी जीव जिस नय को चाहता है, उस नय का उसे पक्षपात हो जाता है। इसी कारण से व्यवहारनय के पक्षवाले लोग जीव को एकान्त से बद्ध, मूढ़, रागी–द्वेषी, कर्ताभोक्ता, स्थूल इत्यादि मानते हैं।

जबकि शुद्धनिश्चयनय के पक्षवाले लोग जीव को एकान्त से अबद्ध, अमूढ़, अरागी, अद्वेषी, अकर्ता, अभोक्ता, सूक्ष्म, शुद्ध इत्यादि रूप मानते हैं। जब कोई भी अज्ञानी जीव शुद्धनिश्चयनय से भी स्वयं को शुद्ध मानता है, तब वह नयाभास के कारण भ्रमवश अपनी वर्तमान प्रकट अशुद्ध पर्याय में ही स्वयं को शुद्ध मान लेता है और ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। अज्ञानवश स्वयं कर्ताभोक्ता होते हुए भी वह स्वयं को भ्रमवश अकर्ता–अभोक्ता बताते और मानते हुए भी संसार में डूबा रहता है। इसी कारण से वह अपना अनन्त संसार बढ़ा लेता है, क्योंकि शुद्धनिश्चयनय शब्दातीत है और सिर्फ़ अनुभवगम्य है। अतः जो भी अज्ञानी शुद्धनय का पक्षपात रखते हुए बौद्धिकरूप से स्वयं को शुद्ध मानते हैं, वे निश्चयाभासी होते हैं और पुरुषार्थहीन बनते हैं।

और जो भी अज्ञानी अशुद्धनय का पक्षपात रखते हुए एकान्त से स्वयं को अशुद्ध मानते हैं वे व्यवहाराभासी होते हैं और बिना शुद्धात्मा की प्राप्ति के लक्ष्य के, क्रियाधर्म करते रहते हैं।

इस गाथा का सार यही है कि हम बद्ध (व्यवहारनय) या अबद्ध (निश्चयनय) का पक्षपात न रखते हुए शुद्धनिश्चयनय को लक्ष्य बनाकर यानी पक्षातीत आत्मानुभूति को लक्ष्य बनाकर वैराग्यादि योग्यताओं से पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करानेवाले उचित व्यवहार का आचरण करें। यही निश्चय व्यवहार की यथार्थ सन्धि है। यही पक्षातीत आत्मानुभूति का मार्ग है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५०

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥143॥

भावानुवाद : *नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ (समयसार की अनुभूति करता हुआ) दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता ही है परन्तु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वह ज्ञानसामान्यभाव ही समय का सार है, यह शुद्धात्मा ही समयसार है। समय से प्रतिबद्ध यानी समयसाररूप शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाला जीव। उस जीव को ही समय से प्रतिबद्ध जीव बताया गया है।

जब कोई भी जीव शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक सम्यग्दृष्टि होता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। शुद्धात्मा में कोई भी विकल्प न होने से कोई भी नय नहीं होता। शुद्धात्मा नयातीत होती है। इसलिये जब ज्ञानी का मैंपन नयातीत भाव में हो तो वह कोई भी नय में मैंपन क्यों करेगा? किसी भी नय में मैंपन न होने पर ज्ञानी को नयपक्ष से रहित बताया गया है।

दूसरे, ज्ञानी का ज्ञान प्रमाण होता है। इसलिये ज्ञानी के नय का ज्ञान भी सम्यक् होता है। अतः ज्ञानी को किसी भी नय का पक्ष नहीं होता। वह सिर्फ़ दोनों नयों के कथन को सम्यक् रूप से जानता है, उन्हें नयपक्ष के रूप में किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता। अर्थात् उसे नय का यथार्थ ज्ञान होने से उसे किसी भी नय का पक्ष नहीं होता। पुनः नय कथन में लगते हैं और ज्ञानी की आत्मानुभूति मूक होती है। इस अपेक्षा से भी ज्ञानी नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता—यह बताया गया है। और ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अपेक्षा से बताया गया है कि ज्ञानी सिर्फ़ दोनों नयों के कथन को जानता ही है परन्तु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

इस गाथा का सार यही है कि ज्ञानी को किसी भी नय से पक्षपात नहीं होता। वह दोनों नयों को यथातथ्य जानते हुए उनका सही स्थान पर उपयोग करता है। स्वयं को शुद्धनय के विषयरूप शुद्धात्मा मानते हुए अपनी पर्याय में जो भी कमियाँ हैं उनसे विचलित न होते हुए उनसे मुक्ति पाने का पुरुषार्थ भी करता रहता है। इससे अज्ञानी को यही सीख लेनी है कि किसी भी नय का पक्षपात न करते हुए शुद्धात्मा की अनुभूति के लक्ष्य से वैराग्यादि योग्यताओं को प्राप्त करने के लिये और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करने के लिये उचित आत्मसाधना करे। अपना पुरुषार्थ नयाभास के कारण स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानकर ख़ुशफ़हमी में रहते हुए पुरुषार्थहीन बने रहने में व्यय न करके एकमात्र आत्मप्राप्ति के लिये ही पूरा पुरुषार्थ करे।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५१

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।144।।

भावानुवाद : *जो सभी नयपक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है। इस (समयसार की अनुभूति) को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की संज्ञा प्राप्त है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। वह आत्मानुभूति सामान्यभाव की होने से उसमें विकल्परूपी पर्याय का अनुभव नहीं होता। सभी नयपक्ष विकल्परूपी हैं, विशेषभाव हैं और समयसाररूप सामान्यभाव की अनुभूति में विशेषभाव गौण होने के कारण समयसाररूप शुद्धात्मा की अनुभूति में कोई भी नयरूप विकल्प नहीं होते। इसलिये उस समयसाररूप आत्मानुभूति को सभी नयपक्षों से रहित कहा गया है। दूसरे, ज्ञानी का ज्ञान प्रमाण हो गया है। इसलिये उसे किसी भी नय का पक्ष नहीं होता। वह तो सिर्फ़ उसका ज्ञाताद्रष्टा ही होता है।

उसी शुद्धात्मा की अनुभूति को समयसार बताया गया है, क्योंकि यही समयप्राभृत ग्रन्थ का सार है, यानी इसी शुद्धात्मा का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ में बार–बार किया है। इसी शुद्धात्मा की अनुभूति को आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बताया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी ग्रन्थ की दूसरी गाथा में यही बात बताते हुए कहा है कि ज्ञान–दर्शन–चारित्र में स्थित जीव स्वसमय है। यहाँ स्वसमय को चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि समझना। दूसरी गाथा में जो दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्थित आत्मा की बात की है वह इस गाथा में बताये हुए समयसार की बात है, जो सिर्फ़ सामान्यभाव रूप ही है। इसलिये हमें यह समझना है कि दूसरी गाथा में जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र की बात है, वह सामान्यभाव में पाये जानेवाले अनन्त गुणों में से दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्रमुख रूप से बात है।

इससे समझ में आता है कि इस गाथा में जो समयसार की अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बताया गया है, वह चतुर्थ गुणस्थान की बात है। दर्शन निराकार होता है और ज्ञान साकार होता है। इसलिये जो चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति के समय शुद्धात्मा अनुभूयमान होती है, उस निराकार आत्मानुभूति को सम्यग्दर्शन कहा है और मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानरूपी साकार अनुभूति को सम्यग्ज्ञान कहा है। इसी भाव को दर्शाते हुए यहाँ समयसाररूप शुद्धात्मा की अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की संज्ञा प्राप्त है, यह बताया है।

कर्ता–कर्म अधिकार का उपसंहार

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आत्मानुभूति से ही शुद्धनिश्चयनय का जन्म होता है यानी शुद्धनिश्चयनय अनुभव में आता है। तब वह आत्मा और आस्रव का विशेषान्तर अनुभवपूर्वक जान लेता है। बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से आत्मा और आस्रव का विशेषान्तर जानना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि आत्मानुभूति से ही कर्मों का क्षय होता है।

जब तक जीव अज्ञानी है यानी जब तक जीव आत्मा और आस्रव के विशेषान्तर को अनुभवपूर्वक नहीं जानता, तब तक वह नियम से पर्यायदृष्टि होता है। पर्यायदृष्टि होने से वह स्वयं को अज्ञानवश देहरूप मानते हुए राग–द्वेष करता रहता है।

यदि कोई अज्ञानी भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को शुद्धात्मा मानता है और यह ख़ुशफ़हमी में ही रहता है कि 'मैंने आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेषान्तर को जान लिया' तो यहाँ शाब्दिक ज्ञान की बात नहीं है। यहाँ जो आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेषान्तर को जानना बताया गया है वह आत्मानुभूतिपूर्वक जानना बताया गया है—यह बात कई लोगों को ग़लत अर्थघटन के कारण समझ में ही नहीं आती। इससे बचना चाहिये।

अत : आस्रवनिवृत्ति आत्मानुभूति के साथ जुड़ी हुई है यानी आत्मानुभूति के कारण आत्मा की विशुद्धि जितनी बढ़ती जाती है उतनी आस्रवनिवृत्ति भी बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता को अनन्त दुःखमय संसाररूप फल देनेवाला मानता है। इसलिये वह उससे आकुलित न होते हुए भी उसे मिटाने का पुरुषार्थ भी करता रहता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आस्रवों से निवृत्ति करता है।

बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ तथा उसीमें स्थित हूँ' ऐसा करने से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जायेगा, इससे तो उल्टा निश्चयाभास ही होगा, भ्रम ही होगा। ऐसा जीव धर्म में पुरुषार्थहीन बनकर संसार के कामों में ही मग्न रहेगा और स्वयं को आत्मप्राप्ति हो गयी है या अपने आप हो जायेगी—ऐसी ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

अनादि से जीव सुखाभास रूप सुख के पीछे भागने से ही दुःखरूप आस्रवादि में फँसा हुआ है। इन्द्रियजनित सुख दुःखपूर्वक ही होता है। जितना दुःख ज़्यादा उतना सुख ज़्यादा, जैसे जिसे भूख ज़्यादा है उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख ज़्यादा मिलेगा परन्तु जिसे भूख नहीं है या भोजन करके बैठा है उसे भूख का दुःख नहीं होने से उसे स्वादिष्ट भोजन का सुख नहीं मिलेगा। इन्द्रियजनित सुख भोगने के बाद अब और सुख भोगने की क्षमता न होने का दुःख होता है, जैसे दो दिन से भूख का दुःख भोगनेवाले को यदि स्वादिष्ट भोजन मिले तो सुख लगता है परन्तु जब उसका पेट भर जाता है और उसका मन और खाने का मज़ा लेना चाहता है तब वह वापस दुःखी हो जाता है। जिस सुख के पहले दुःख हो, उसके पीछे दुःख हो और उसका फल भी दुःख हो तो उसे सुख कैसे कह सकते हैं? इस अपेक्षा से भी कहा है कि आस्रवादि 'दुःखरूप हैं और दुःखरूप फल देनेवाले हैं।'

न तो चेतन पुद्गल का कर्ता है, और न ही पुद्गल चेतन का कर्ता है। दोनों स्वयं अपने–अपने भावों के कर्ता हैं। कुछ संयोगों में वे एक–दूसरे के निमित्त अवश्य बन सकते हैं। ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से उसका ज्ञाताद्रष्टा होता है और अज्ञानी उसका कर्ताभोक्ता होता है।

ज्ञानी के अभिप्राय में सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा भाव होता है। ज्ञानी को आत्मानुभूति के काल में शुद्धोपयोग होता है और बाद में ज्ञाताद्रष्टाभाव होता है। ज्ञानी को उपयोगरूपी आत्मानुभूति के बाद भी जब तक सम्यग्दर्शन टिकता है तब तक लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन बना रहता है। इसलिये वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है। इस तरह ज्ञानी कर्मों के परिणाम को या नोकर्मों के परिणाम को करता नहीं, सिर्फ़ जानता है।

ऐसा ज्ञानी धर्मध्यान करता हुआ पुद्गलकर्मों के अनन्त फलों का अपायविचय और विपाकविचय के रूप में चिन्तन करता है, उनको जानता है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी परद्रव्यों की पर्यायों के

रूप में न तो परिवर्तित होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न ही उस रूप में उत्पन्न होता है।

जबकि अज्ञानी को परद्रव्य में स्व–स्वामित्व होता है। इसलिये वह अज्ञानवश, पर के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध से, स्वयं को पररूप में परिवर्तित होता अनुभव करता है, उन्हें ग्रहण करता अनुभव करता है और उस रूप में उत्पन्न होता भी अनुभव करता है।

जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्गलकर्मवर्गणाएँ कर्म बनती हैं। इसी प्रकार जीव भी पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिभाव के रूप में परिणमता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता। इसी प्रकार कर्म जीव के गुणों को नहीं करता परन्तु वे दोनों एक–दूसरे के निमित्त से परिणमते हैं, ऐसा जानें। इस कारण से आत्मा अपने ही भावों की कर्ता है परन्तु पुद्गलकर्म से किये गये समस्त भावों की कर्ता नहीं है।

ज्ञानी का 'मैंपन' सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभाव में होने के कारण ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्ता है; और अज्ञानी का 'मैंपन' ज्ञेयभाव में यानी पुद्गलमिश्रितपर्याय में होने के कारण अज्ञानी अज्ञानभाव का कर्ता है, क्योंकि ग़लत 'मैंपन' ही अज्ञान का द्योतक है। इस अपेक्षा से ज्ञानी कर्मों का अकर्ता है और अज्ञानी कर्मों का कर्ता है।

दूसरे, ज्ञानी का ज्ञान प्रमाण हो गया है। इसलिये उसे किसी भी नय का पक्ष नहीं होता। वह तो सिर्फ़ उसका ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। ज्ञानी नयपक्ष से रहित होता है, पक्षातिक्रान्त होता है।

आत्मा निजभाव को और पुद्गलभाव को—दोनों को करती है, ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होता है। जिस प्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त से आत्मा अपने भाव को करती है, उसी प्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त से आत्मा अपने भाव का वेदन करती है। आत्मा के तीन प्रकार के विकारी भाव हैं–मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। उपयोग शुद्ध तथा निरंजन होने के बावजूद इनमें से जिस भाव को करता है, वह उस भाव का कर्ता होता है। आत्मा जिस भाव को करती है वह उस भाव की कर्ता होती है। तब पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणत होता है। यही अनादि से चली आ रही वस्तुव्यवस्था है, परन्तु कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण आत्मा को एकान्त से अकर्ता मानते हैं।

इस प्रकार अज्ञानी व्यक्ति अज्ञान भाव से परद्रव्यों को अपना करता है और स्वयं को पर रूप बना देता है। इस प्रकार अज्ञानी व्यक्ति स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानने लगता है, ख़ुशफ़हमी में ही रहता है और अपना अनन्त दुःखमय संसार बढ़ा लेता है।

यदि आत्मा परद्रव्य को करे तो वह नियम से उससे तन्मय होगी। जबकि वस्तुतः वह परद्रव्य से तन्मय नहीं है। इसलिये वह उसकी कर्ता नहीं है। अतः किसी को भी इस तथ्य को एकान्त से समझकर भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को पर का परम अकर्ता मानते हुए पर की हिंसा की प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिये। कई लोग आत्मानुभूति के अभाव में इस सिद्धान्त को उल्टा समझ बैठते हैं। इसी आशंका के कारण आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्ट रूप से चेताया है कि इस ग्रन्थ की किसी भी गाथा का ग़लत अर्थघटन कर उससे छल (भ्रम) ग्रहण न किया जाये।

अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करती है, वस्तुतः वह उसकी कर्ता होती है। वह भाव उसका कर्म होता है। आत्मा उस भाव की भोक्ता भी होती है।

जैसे आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग से अनन्य है, वैसे क्रोध आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा से अनन्य नहीं है। यह कथन आत्मानुभूति की अपेक्षा से है, क्योंकि क्रोध आत्मा की कर्मों के निमित्त से होनेवाली विभाव पर्याय है और आत्मानुभूति में विभाव पर्याय गौण हो जाती है। इसलिये जैसे जीव और उपयोग आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा में अनन्य हैं, वैसे क्रोध आत्मानुभूति में नहीं होने के कारण आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा से अनन्य नहीं है।

यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं बँधा हुआ नहीं है और न ही कर्मभाव से स्वयं परिणत होता है—ऐसा माना जाये तो वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी हो जायेगा। कर्मवर्गणाओं का कर्मभाव से परिणमन न होने पर संसार का अभाव हो जायेगा अथवा सांख्य मत का प्रसंग बनेगा। यदि ऐसा माना जाये कि जीव ही पुद्गलद्रव्यों को कर्मभावरूप से परिणत करता है, तो उन स्वयं परिणमन न करनेवाले पुद्गलद्रव्यों को यह चेतन जीव कैसे परिणमा सकता है? यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणमते हैं तो जीव कर्म को परिणमाता है, ऐसी पहले बतायी गयी कर्मरूपान्तरता मिथ्या होगी। नियम से जिस प्रकार कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्य कर्म ही हैं इसी प्रकार ज्ञानावरणादि के रूप में परिणत आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म ही हैं ऐसा जानें। अर्थात् पुद्गलद्रव्यरूप कार्मण वर्गणाओं को जीव के भावों के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता,

परन्तु निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। अतः यह मानना चाहिये कि आत्मा जब अपने पारिणामिक स्वभाव के कारण क्रोध में उपयुक्त है तो क्रोध है, मान में उपयुक्त है तो मान है, माया में उपयुक्त है तो माया है और लोभ में उपयुक्त है तो लोभ है।

यदि कोई भ्रमवश ऐसा माने कि जीव तो अपरिणामी है और पुद्गलकर्मरूप क्रोध जीव को क्रोध के रूप में परिणमाता है तो पुद्गलकर्म पर द्विक्रियावाद का दोष आयेगा यानी एक समय में एक द्रव्य की दो क्रियाएँ मानने का दोष आयेगा। जबकि एक समय में एक द्रव्य की एक ही क्रिया होती है। कोई भी द्रव्य एक समय में दो क्रियाएँ नहीं कर सकता। इसी लिये यह कहा जाता है कि सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध हैं और अपने परिणामों के कर्ता स्वयं हैं।

इस प्रकार आत्मा पर की हिंसा आदि आत्मविरुद्ध कार्यों की निमित्त कर्त्री बनती है। इसलिये आत्मा को हिंसा आदि आत्मविरुद्ध कार्यों से कर्म–बन्ध होता है। कुछ निश्चय–एकान्तवादी इस यथार्थ स्वीकारते ही नहीं।

कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के जो भी परिणाम (भावकर्म) होते हैं, उनके निमित्त से नये द्रव्यकर्म बँधते हैं, उन परिणामों को नये द्रव्यास्रव में निमित्त होने की वजह से भावास्रव भी कहा जाता है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इन भावास्रवों को निश्चय से पुद्गल परिणाम या द्रव्यप्रत्यय भी बताया जाता है। यह समझना आवश्यक है। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं।

इसलिये यह मानना उचित होगा कि नियम से आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन के निमित्त से कर्मवर्गणारूपी पुद्गल ही ज्ञानावरणादि कर्म के रूप में परिणत होते हैं। इसलिये वस्तुव्यवस्था यह है कि कर्मवर्गणारूपी पुद्गल स्वयं परिणामी होने के कारण जीव के पुराने कर्मों के निमित्त से उपजे भावों का निमित्त पाकर स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में परिणत होते हैं और जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना लेते हैं। इसी प्रकार जीव भी पुराने कर्मों का निमित्त पाकर स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में परिणत होता है। अर्थात् आत्मा और पुद्गल–कार्मण वर्गणा रूप कर्म–दोनों अपने–अपने उपादान से तथा एक–दूसरे के निमित्त से ज्ञानावरण आदि कर्मरूप में परिणत होते हैं। इसी लिये अनादि से जीव संसार में भटक रहा है। उस भटकन के अन्त के लिये और अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने के लिये सभी जीवों को इस भव में शीघ्र ही आत्मप्राप्ति का उपाय करना चाहिये।

अतः यह मानना अति आवश्यक है कि आत्मा सदा विद्यमान है और परिणमनशील है। यही त्रैकालिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त से जब आत्मा पुद्गलकर्मों के निमित्त से क्रोधरूप परिणमती है, तब वह स्वयं क्रोध ही है। यह बात अशुद्धनिश्चयनय से कही गयी है, क्योंकि यह सर्वविदित है कि उपादान स्वयं ही कार्यरूप परिणमता है। इसलिये पुद्गलकर्मों के उदय के निमित्त से जब जीव मान, माया, लोभादि करता है, तब वह जीव स्वयं मान, माया, लोभादि रूप ही होता है। ग़लत अर्थघटन के कारण कई लोग द्रव्य को अपरिणामी और पर्याय का द्रव्य से प्रदेशभेद मानते हैं। आचार्यश्री ने यहाँ 'आत्मा जब क्रोध में उपयुक्त है तो क्रोध है, मान में उपयुक्त है तो मान है, माया में उपयुक्त है तो माया है और लोभ में उपयुक्त है तो लोभ है' यह बताकर उनके मत को निरस्त कर दिया। इसलिये सभी मोक्षार्थिओं को ऐसी ग़लत मान्यताओं से बचना चाहिये, अन्यथा वे अपने को अनन्त दुःखमय संसार से बचा नहीं पायेंगे।

जो परिग्रह को त्यागकर आत्मानुभूतिपूर्वक अपनी शुद्धोपयोगात्मक आत्मा को जानता है उसको परमार्थ के ज्ञाता निस्संग साधु कहते हैं। चौथे गुणस्थान में ही शुद्धात्मा की अनुभूति होने से उस जीव का मैंपन शुद्धात्मा में स्थापित हो जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये उस जीव के अभिप्राय में बाह्याभ्यन्तर सभी परिग्रहों का त्याग हो जाता है। फिर जो भी परिग्रह बचता है वह क्रमशः गुणस्थानानुसार परित्यक्त होता रहता है।

जो अपने अभिप्राय की अपेक्षा से व्यवहारधर्म को छोड़कर उपयोगात्मक शुद्धात्मा का अनुभव करता है, परमार्थ को जाननेवाले उसे व्यवहारधर्म के परिग्रह से रहित कहते हैं। क्योंकि शुद्धात्मा में कोई विकल्प नहीं होते। वास्तव में आत्मा जिस भाव को करती है वह उस भावकर्म की कर्ता होती है। ज्ञानी का वह भावकर्म ज्ञानमय होता है और अज्ञानी का वह भाव अज्ञानमय होता है। अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं, इसलिये वह कर्मों का कर्ता है। ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं, इसलिये वह कर्मों का कर्ता नहीं है। चूँकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं। चूँकि अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है, इसलिये अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं—यह समझना आवश्यक है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १३३ में यह भी बताया गया है कि धर्म को परिग्रहरूप से न तो धारण करना है और न तो परिग्रहरूप में उसे पाने की इच्छा भी करनी

है। क्योंकि सांसारिक दृष्टि से बुद्धिमान अनेक लोग यह समझते हैं कि जैसे हमने अपनी होशियारी से जगत में यश, कीर्ति, धन–दौलत, शोहरत आदि प्राप्त किये हैं, उसी प्रकार हम अपनी सांसारिक होशियारी से धर्म (सम्यग्दर्शन) भी पा लेंगे। तो उन्हें यहाँ बताया गया है कि धर्म कोई बाहर से पाने की वस्तु नहीं है, धर्म तो भीतर से प्रकट करना है; अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति का नाम धर्म है। और वह धर्मप्राप्ति वैराग्य के बिना तथा पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाये बिना नहीं होगी। सांसारिक होशियारी को अच्छी मानना तो बहिर्मुखता का द्योतक है, क्योंकि वह नियम से बाहर की ओर ले जाती है, बहिरात्मा बनाये रखती है।

मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव का मैंपन आत्मा की पर्याय और पुद्गल की पर्याय के मिश्रित रूप में होता है। इसलिये वह पर्यायदृष्टि होता है और पर्याय में अज्ञान का उदय होने के कारण ही उसके भाव अज्ञानमय होते हैं। अज्ञानी को मिथ्यात्व का उदय और बन्ध होने के कारण उसके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना आत्मानुभूति के बौद्धिकरूप से 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ तथा उसीमें स्थित हूँ' ऐसा करने से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जायेगा, इससे तो उल्टा निश्चयाभास ही होगा, भ्रम ही होगा, क्योंकि अज्ञानी के इन भावों को यहाँ अज्ञानमय बताया गया है। ऐसा जीव धर्म में पुरुषार्थहीन बनकर संसार के कामों में ही मग्न रहेगा और स्वयं को आत्मप्राप्ति हो गयी है या अपने आप हो जायेगी – ऐसी ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

जीव की यह स्वतन्त्रता है कि वह कर्मों के उदय से जुड़े या न जुड़े। जब जीव आध्यात्मिक साधना करके सत्ता में रहे अपने कर्मों के अनुबन्ध बदल देता है, तो फिर उन कर्मों के उदय के समय वह या तो उनसे अलिप्त रह सकता है या संयमित प्रतिक्रिया दे सकता है। इसी कारण जीव का मोक्ष सम्भव होता है। अन्यथा, यदि जीव पुराने कर्मों के उदय में नये कर्मों को बाँधता रहे, तो उसके संसार का कभी अन्त नहीं हो सकता।

वास्तव में जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य होने के कारण दोनों अपना–अपना परिणमन स्वयं करते हैं और अपना–अपना परिणमन करते हुए एक–दूसरे के परिणमन में निमित्त भी बनते हैं। परन्तु शुद्धनिश्चयनय से आत्मा मात्र आत्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा ही होती है। शुद्धनिश्चयनय में न आत्मा का कोई परिणाम है और न ही निमित्त–नैमित्तिक भाव है। इसलिये शुद्धनय से जीव और

कर्मों का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। इससे कहा जा सकता है कि शुद्धनय से जीवने कर्म को न ग्रहण किया है और न ही बाँधा है। इस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव को अबद्ध–अस्पृष्ट कहा जाता है।

कई अज्ञानी जीव इस बात को समझ न पाने से, ग़लत अर्थघटन करके एकान्त से इस बात की प्ररूपणा करते हैं और भ्रमवश एकान्त से स्वयं को शुद्ध मानते हैं और ख़ुशफ़हमी में ही रहते हैं। एकान्त से भ्रमवश स्वयं को अबन्धस्वरूप, ज्ञायक, ज्ञाताद्रष्टा मानने लगते हैं। इससे सभी को बचना चाहिये।

जीव के साथ कर्म बँधा है अथवा नहीं बँधा है, इन कथनों को नय पक्ष जानें किन्तु जो पक्षातिक्रान्त है वह समयसार (शुद्धात्मा) कहलाता है। इसलिये ज्ञानी के अभिप्राय में कोई पक्ष नहीं होता। नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ समयसार की अनुभूति करता हुआ दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता ही है परन्तु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता। जो सभी नयपक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है। इस समयसार की अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की संज्ञा प्राप्त है—यह बात सभी को याद रखनी चाहिये कि बिना आत्मानुभूति के निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता।



पुण्य-पाप अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५२

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।145।।

भावानुवाद : *यह अवधारणा है कि अशुभकर्म कुशील (बुरे) हैं और शुभकर्म सुशील (अच्छे) हैं। परन्तु जो (जीव को) संसार में प्रवेश कराते हैं, वे सुशील (अच्छे) कैसे हो सकते हैं?*

टीका : आम तौर पर लोगों की यह अवधारणा है कि अशुभकर्म यानी पाप बुरे हैं, अधर्म हैं और शुभकर्म यानी पुण्य अच्छे हैं, धर्म हैं। सामान्यतः लोग पुण्य को ही धर्म समझते हैं। यह अवधारणा तोड़ने के लिये ही इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द सत्यधर्म समझा रहे हैं। क्योंकि आत्मा का शील तो शुद्धात्मा की अनुभूति में रमना ही है, निश्चयनय से वही आत्मा का धर्म है।

पुण्य और पाप दोनों जीव को संसार में रखते हैं, क्योंकि जब तक जीव के साथ किंचित्मात्र भी कर्म का एकक्षेत्रवगाह सम्बन्ध है, तब तक उस जीव को संसारी जीव कहा जाता है। ऐसे जीव को मुक्त नहीं कहा जा सकता है।

जब तक जीव को पुण्य अच्छा लगता है, पुण्य की मिठास है, पुण्य को ही धर्म मानता है, तब तक उस जीव को शुद्धात्मानुभूति उपादेय नहीं लगती। यहाँ आचार्यश्री ने ऐसे लोगों से पूछा है कि पुण्य के प्रति आदर को, जो कि संसार का कारण है, अच्छा कैसे माना जा सकता है? विवेकवान जीव शुद्धभाव का आदर करते हैं, शुभभाव का नहीं।

इसलिये सभी जीवों को यह समझना है कि आदर सिर्फ़ शुद्धभाव का ही होता है। जब तक शुद्धभाव में स्थिरता नहीं हो जाती, तब तक शुद्धभाव के लक्ष्य से शुभभाव में रहना चाहिये, अशुभभाव में नहीं। क्योंकि धर्मी जीव को सहज ही हिंसा आदि के तीव्र भाव नहीं होते। इसलिये उसे तीव्र अशुभ भाव नहीं होते। परन्तु शुभभाव को धर्म नहीं मानना चाहिये। इस अपेक्षा से आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ पूछ रहे हैं कि जो संसार में प्रवेश कराते हैं, वे सुशील (अच्छे) कैसे हो सकते हैं? यही इस गाथा का हार्द है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५३

सोवण्णियं पि णियलं बन्धदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बन्धदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।146।।

भावानुवाद : *जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है और लोहे की बेड़ी भी बाँधती है, इसी प्रकार किये हुए शुभ तथा अशुभकर्म जीव को बाँधते हैं।*

टीका : शुभभाव से पुण्यकर्म बँधते हैं और अशुभभाव से पापकर्म बँधते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध की अपेक्षा से शुभ और अशुभ दोनों आत्मा के लिये बेड़ी के समान हैं। इसी लिये आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य को सोने की ज़ंजीर और पाप को लोहे की ज़ंजीर कहा है।

जब तक जीव को पुण्य के प्रति अहोभाव है, तब तक वह जीव बहिरात्मा है, क्योंकि उसे पुण्य के फलस्वरूप मिलनेवाले बाह्यसंयोगों के प्रति ही अहोभाव है। इसलिये वह जीव परसन्मुख है यानी आत्मविमुख है। ऐसी स्थिति में उस जीव को आत्मा उपादेय नही लगती। ऐसे जीव को आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होती।

ग़लत अर्थघटन के कारण शुभभाव में रहने को यदि कोई धर्म मानते हैं तो उनको इस गाथा से यह समझना है कि शुद्धात्मा की प्राप्ति और उसमें स्थिरता ही सत्यधर्म है। सभी को अपनी समझ को सम्यक् बना लेना चाहिये और एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभ भाव एवं शुभ क्रिया को धर्म समझे बिना शुभभाव में रहना चाहिये। क्योंकि धर्मी जीव को सहज ही हिंसा आदि के तीव्र भाव नहीं होते। इसलिये उसे तीव्र अशुभ भाव नहीं होते। यानी यहाँ आचार्यश्री का आशय शुभ को छुड़ाना नहीं है, परन्तु शुभ में धर्मबुद्धि छुड़ाना है तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति और उसी में स्थिरता को ही सत्यधर्म के रूप में स्थापित करना है।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उस जीव का आदर शुद्धभाव के प्रति होता है और जब तक वह शुद्धभाव में स्थित नहीं हो जाता, तब तक वह शुद्धभाव के लक्ष्य से विवेकपूर्वक–बुद्धिपूर्वक शुभभाव में रहने का प्रयास करता है। ऐसा शुभभाव भी उस जीव के लिये सोने की ज़ंजीर जैसा ही है। परन्तु सिर्फ़ शुद्धभाव के प्रति ही आदर होने के कारण वह ज़ंजीर उसके मोक्षमार्ग में अड़चन नहीं बनेगी बल्कि उसे मोक्षमार्ग में अनुकूलता देगी। उससे मनुष्यभव, पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता, आर्यक्षेत्र, उच्चकुल, संस्कारी माता–पिता का संयोग, स्वास्थ्य, सद्गुरु आदि की प्राप्ति होगी, जिनका उपयोग वह साधक आत्मप्राप्ति में ही करता रहेगा—यह समझना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५४

तम्हा दु कुसीलेहिं य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।।147।।

भावानुवाद : *इसलिये (इन दोनों) कुशीलों के साथ राग मत करो तथा संसर्ग मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का विनाश होता है।*

टीका : आचार्य कुन्दकुन्द ने पिछली दो गाथाओं में बताया है कि शुभकर्म और अशुभकर्म दोनों ही कुशील हैं। यहाँ पर आचार्य उन दोनों कुशीलों के साथ राग एवं संसर्ग करने को मना करते हैं।

जिस जीव को अशुभ के प्रति राग है अथवा अशुभ का ही संसर्ग है उसे तो कोई धर्म करनेवाला नहीं मानता। मगर जिस जीव को शुभ के प्रति राग है और जो जीव शुभ के संसर्ग में है, उसे कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण धर्म करनेवाला मानते हैं। इस प्रकार की ग़लत मान्यता से ऐसे लोग अपना संसार ही बढ़ाते हैं, क्योंकि सत्यधर्म तो शुद्धात्मानुभूति से ही शुरू होता है और वही सांसारिक परिभ्रमण का अन्त करता है। जिसे शुद्धात्मानुभूति नहीं हुई है, उसे भी एकमात्र शुद्धात्मानुभूति के लक्ष्य से ही धर्म करना चाहिये। क्योंकि धर्मी जीव को सहज ही हिंसा आदि के तीव्र भाव नहीं होते। इसलिये उसे तीव्र अशुभ भाव नहीं होते।

शुभभाव और अशुभभाव दोनों आस्रव तथा बन्ध की अपेक्षा से जीव को बाँधनेवाले हैं। जो जीव शुभ से राग और संसर्ग करता है और ग़लत अर्थघटन के कारण शुभ को ही धर्म मानता

है, उसे सत्यधर्म का आभास भी नहीं होता, क्योंकि सत्यधर्म तो शुद्धात्मानुभूति से ही शुरू होता है।

जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। ऐसे जीव का एकमात्र लक्ष्य उस शुद्धात्मा में सदैव के लिये स्थित हो जाना ही होता है। जब ऐसा जीव शुद्धात्मा में स्थित हो जाता है, तब उसे क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान हो जाता है। तब उसके चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, जिससे उसे आंशिक स्वाधीनता प्राप्त होती है। आगे आयु के अन्त में बाक़ी बचे चार अघातिया कर्मों का भी क्षय हो जाता है, तब उस जीव की पूर्ण स्वाधीनता प्रकट हो जाती है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने यही बताया है कि कर्म के संसर्ग से और राग से आत्मा की स्वाधीनता का नाश होता है। और उन कर्मों के क्षय से पूर्ण स्वाधीनता प्रकट होती है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि उन दोनों कुशीलों से, यानी शुभभाव और अशुभभाव से, राग और संसर्ग यानी उनके प्रति मूर्छा से बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १४८-१४९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५५-१५६

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च ॥148॥

एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ॥149॥

भावानुवाद : *जैसे कोई पुरुष कुशील (ख़राब स्वभाववाले) पुरुष को जानकर उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड़ देता है, वैसे ही स्वभाव में रत (आत्मानुभूतियुक्त) पुरुष कर्मप्रकृति के शील स्वभाव को कुत्सित (ख़राब) जानकर उसके साथ संसर्ग और राग छोड़ देते हैं।*

टीका : संसार में लोग ख़राब स्वभाववाले पुरुष को पहचानकर उससे किनारा कर लेते हैं और उसके प्रति न कोई राग रखते हैं और न ही कोई संसर्ग रखते हैं। इस बात से सभी संसारी जन चिरपरिचित हैं।

इसी प्रकार जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव का एकमात्र लक्ष्य उस शुद्धात्मा में सदैव के लिये स्थित हो जाना ही होता है अर्थात् स्वभाव में रत होने का ही होता है।

जब ऐसा जीव शुद्धात्मा में स्थित (स्वभाव में रत) हो जाता है, तब उसे क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान हो जाता है। तब उसके चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, अर्थात् स्वभाव में रत पुरुष कर्मप्रकृति को कुत्सित जानकर चार घातिया कर्मप्रकृतियों का संसर्ग छोड़ देता है। आगे आयु के अन्त में बाक़ी बचे चार अघातिया कर्मों का भी क्षय हो जाता है, तब वह जीव बाक़ी बचे चार अघातिया कर्मों की कर्मप्रकृति का भी संसर्ग छोड़ देता है।

इसी लिये इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि स्वभाव में लीन पुरुष यानी शुद्धात्मानुभूति में लीन पुरुष कर्मप्रकृति के स्वभाव को कुत्सित जानकर यानी अपने स्वभाव से विरुद्ध जानकर उसके साथ राग और संसर्ग छोड़ देता है। यानी कर्मों के कारण पर के साथ होनेवाले संयोगों के प्रति मूर्छा छोड़ देता है और कर्म निरपेक्ष शुद्धात्मा में ही स्थित हो जाता है। यही इस गाथा का मर्म है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५७

रत्तो बन्धदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।150।।

भावानुवाद : *यह जिनोपदेश है कि रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्यसम्पन्न जीव कर्मों से मुक्त होता है। इसलिये कर्मों से राग मत करो।*

टीका : निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। राग को उपादेय माननेवाले जीव कर्म बाँधते हैं। जिस जीव को अभिप्राय में राग करने योग्य लगता है या जिसका ऐसा अभिप्राय है कि राग तो करना ही पड़ता है, वैसा जीव प्रमुख रूप से अनन्तानुबँधी कषाय और मिथ्यात्वादि कर्म बाँधता है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द परोक्ष रूप से यह बता रहे हैं कि राग से राग करने योग्य नहीं

है। मिथ्यात्वी जीव का यही अभिप्राय होता है कि संसार में राग के बिना जी ही नहीं सकते। क्योंकि उनका यह अभिप्राय है कि राग के प्रति राग तो सभी जीवों में होना आवश्यक है। वे राग के प्रति रागरहित जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। राग के प्रति राग यानी न सिर्फ़ राग करने योग्य लगना, बल्कि राग आवश्यक है ऐसा अभिप्राय एवं उपदेश और आगे चलकर उस अभिप्राय को उचित भी ठहराना।

इसलिये यहाँ परोक्ष रूप से यह बताया गया है कि जो साधक सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने अभिप्राय की अपेक्षा से राग के प्रति राग हटाना आवश्यक है। जो साधक सम्यग्दर्शन पाना चाहता है, उसे ख़ुद को जाँचना चाहिये कि मुझे किस वस्तु में तीव्र रुचि है, मूर्छा है। क्योंकि तीव्र रुचि और मूर्छा यही राग के प्रति राग के द्योतक हैं। अपने प्रश्न के उत्तर में यदि साधक को यह पता चले कि उसे संसार या संसारसम्बन्धी बाह्य वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति आकर्षण है अथवा यह अभिप्राय है कि बाह्य वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति से सुख प्राप्त होता है, तो ख़ुद को बहिरात्मा समझना चाहिये। एवं उस आसक्ति या मूर्छा का नाश करने के लिये अपने जीवन में अनित्यादि बारह भावनाओं का और मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रयोगात्मक अभ्यास करना चाहिये।

आगे आचार्यश्री बताते हैं कि वैराग्यसम्पन्न जीव कर्मों से मुक्त होता है। इससे पता चलता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में और आगे आत्मस्थिरता में भी वैराग्य परमावश्यक है, क्योंकि सिर्फ़ सम्यग्दृष्टि जीव ही क्रमशः गुणस्थानारोहण करते हुए कर्मों से मुक्त होता है। इसलिये जिनोपदेश के आधार पर रचित शास्त्रों में सर्वाधिक वैराग्य का ही उपदेश है। और जहाँ वस्तुव्यवस्था का उपदेश है वह भी तत्त्व की स्पष्टता के लिये ही है। उस तत्त्व की स्पष्टता का भी उपयोग वैराग्य प्राप्त करने के लिये ही करना चाहिये, सिर्फ़ जानकारीरूप ज्ञानवर्धन के लिये नहीं। क्योंकि वैसा जानकारीरूप ज्ञान तो हमने कई बार नौ पूर्व तक प्राप्त किया है। फिर भी हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।

आगे आचार्य कहते हैं कि कर्मों से राग मत करो। कर्म पुद्गलवर्गणाओं का परिणमन है। इसलिये परद्रव्य है। परद्रव्य से राग करना आत्मा के हित में नहीं है। अज्ञानी जीव को पर से सुख की अभिलाषा रहती है। इसलिये वह पुण्य के प्रति लालायित रहता है। उसे पुण्य मीठा लगता है और वह दुःख से भयभीत रहता है। अज्ञानी जीव पाप तो रचपच कर करता है परन्तु

उसे पाप का फल पसन्द नहीं है, क्योंकि पाप का फल दुःख होता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव कर्मों से राग–द्वेष करता रहता है। अज्ञानी को अपने भावास्रव से राग होता है अर्थात् वह करने योग्य लगता है। यह भी कर्मों के प्रति राग ही है।

इसलिये जिनोपदेश यह है कि वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर यथाशीघ्र आत्मानुभूति करनी चाहिये और आगे आत्मस्थिरता प्राप्त कर कर्मों से मुक्त होना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५८

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।151।।

भावानुवाद : *जो केवली, मुनि, ज्ञानी हैं, वे वास्तव में शुद्ध, पारमार्थिक समयस्वरूप स्वभाव में स्थित होते हैं वे मुनि (आदि) निर्वाण को प्राप्त होते हैं।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है।

ज्ञानसामान्य स्वभावरूप शुद्धात्मा को ही इस गाथा में पारमार्थिक समय कहा गया है, शुद्ध कहा गया है, पारमार्थिक समयस्वरूप स्वभाव कहा गया है। इसकी अनुभूति से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि का मैंपन आत्मानुभूति के समय उपयोगरूप से शुद्धात्मा में होता है और अन्य समय लब्धिरूप से शुद्धात्मा में होता है। ऐसे जीव को ही यहाँ ज्ञानी बताया गया है। वैसा जीव शुद्धात्मा की अनुभूति के बल पर गुणस्थान आरोहण करते हुए षष्ठम गुणस्थान में मुनि बनता है। फिर आगे शुद्धात्मा में स्थिरता होने के कारण क्षपकश्रेणी चढ़कर ऐसा जीव केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त करके केवली बनता है।

इससे तय होता है कि ज्ञानी हो, मुनि हो, या केवली हो सभी को शुद्ध, पारमार्थिक समयस्वरूप स्वभाव में स्थिरता अभिप्रेत होती है। उनमें से केवली भगवान तो सहज रूप से

ही लगातार शुद्धात्मा में स्थित रहते हैं, तथा ज्ञानी और मुनि बार–बार शुद्धात्मा में स्थित रहने का निरन्तर पुरुषार्थ करते हैं।

इस प्रकार जो ज्ञानी और मुनि शुद्धात्मा में स्थित होकर क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान – केवलदर्शन प्राप्त करके केवली बनते हैं। वे दोनों तथा केवली भी आगे चलकर आयु पूर्ण होने पर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। यही इस गाथा का सार है। यहाँ जो 'पारमार्थिक समयस्वरूप स्वभाव में स्थित' कहा गया है वह आत्मानुभूतिपूर्वक ही होता है। बिना आत्मानुभूति के कोई पारमार्थिक समयस्वरूप स्वभाव में स्थित होने का प्रयास करेगा तो वह भ्रमयुक्त हो जायेगा और जीवनभर उसी ख़ुशफ़हमी में रहेगा। लेकिन उसके दुःखमय संसार का अन्त नहीं होगा।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १५९

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू ।।152।।

भावानुवाद : *जो जीव परमार्थ में स्थित नहीं है, वह जो तप और व्रत धारण करता है उन सभी तपों और व्रतों को सर्वज्ञ बालतप और बालव्रत कहते हैं।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है, परन्तु जो जीव ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में स्थित नहीं होता, परमार्थ में स्थित नहीं होता, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसका मैंपन पुद्गलरूप शरीर और आत्मा के राग–द्वेष आदि भाव में मिश्रितरूप से होता है।

ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के सभी तप और व्रत को सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता, तब तक उसका मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता। जब ऐसे जीव को तप या व्रत करने का विकल्प होता है, तब उसके पीछे का अभिप्राय प्रायः लौकिक सुख, सांसारिक सिद्धि या कामना ही होते हैं। कईयों का उद्देश्य तो सिर्फ़ देवगति प्राप्त करने का ही होता है। ऐसे जीव शब्दों से तो यही कहते हैं कि मोक्ष चाहिये

परन्तु जब तक पर में सुखबुद्धि विद्यमान है, तब तक उनके अभिप्राय में संसार ही बसा हुआ है। और तो और, ऐसे जीव इन तपों और व्रतों को ही धर्म समझते हैं।

जब तक जीव मिथ्यादृष्टि होता है यानी जब तक जीव परमार्थ में स्थित नहीं होता, परमार्थस्वरूप शुद्धात्मा में उसका मैंपन नहीं होता, तब तक वह बालजीव कहलाता है। क्योंकि तब तक उसका मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिये ऐसे जीव के तप और व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालतप और बालव्रत बताया गया है। इसका भावार्थ यह है कि उन तप और व्रत को मोक्ष के लिये सार्थक बनाने हेतु आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये परोक्ष रूप से प्रेरित किया है और भ्रमवश बालतप और बालव्रत को धर्म मानने को मना किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६०

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।।153।।

पाठान्तर

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे तेण दु ते होंति अण्णाणि ।।153।।

भावानुवाद : *व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थ से बाह्य हैं, वे निर्वाण नहीं पाते।*

पाठान्तर :

भावानुवाद : *व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थ से बाह्य हैं, वे अज्ञानी होते हैं।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया

है परन्तु जो जीव ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में स्थित नहीं होता, परमार्थ में स्थित नहीं होता, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है यानी वह जीव परमार्थबाह्य कहलाता है। उसका मैंपन पुद्गलरूप शरीर और आत्मा के रागद्वेषादि भाव में मिश्रितरूप से होता है।

यदि ऐसा परमार्थबाह्य जीव व्रत, नियम, शील और तप धारण करता है तो भी गुणस्थानानुसार न होने से उसे वे व्रतादि निर्वाण देने में सक्षम नहीं हैं। क्योंकि जब कोई भी जीव परमार्थबाह्य होता है तो वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्वी का मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है। इसका भावार्थ यह है कि उन व्रत, नियम, शील और तप को मोक्ष के लिये सार्थक बनाने हेतु आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये परोक्ष रूप से प्रेरित किया है और भ्रमवश उस व्रतादि को धर्म मानने को मना किया है।

यहाँ यह भी बताया गया है कि यदि कोई ग़लत अर्थघटन के कारण व्रतादि धारण करने से ही स्वयं को भ्रमवश पंचमादि गुणस्थान में मानते हों तो उन्हें अपनी ग़लत मान्यता दुरुस्त कर लेनी चाहिये और अपने व्रतादि को सार्थक बनाने के लिये उस के अनुरूप गुणस्थान प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

इसी बात को पाठान्तर में इस तरह बताया गया है कि यदि ऐसा जीव व्रत, नियम, शील और तप धारण करता है तो भी वे गुणस्थानानुसार न होने से उसके वे व्रतादि उसका अज्ञान हटाने में सक्षम नहीं हैं। क्योंकि जब कोई भी जीव परमार्थबाह्य होता है तो वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्वी का मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है। इसलिये पाठान्तर में उसे अज्ञानी कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६१

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अयाणंता ।।154।।

भावानुवाद : *जो परमार्थ से बाह्य हैं वे मोक्ष के हेतु को न जानते हुए संसारगमन का हेतु होने पर भी अज्ञानवश पुण्य को चाहते हैं।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है परन्तु जो जीव ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में स्थित नहीं होता, परमार्थ में स्थित नहीं होता,

वह जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है यानी वह जीव परमार्थबाह्य कहलाता है। उसका मैंपन पुद्गलरूप शरीर और आत्मा के राग–द्वेष आदि भाव में मिश्रितरूप से होता है।

ऐसे अज्ञानी जीव मोक्ष के हेतु को नहीं जानते यानी मोक्ष कैसे प्राप्त किया जाता है, मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये क्या आवश्यक है, यह नहीं जानते। इसलिये उन्हें लगता है कि व्रत, नियम, शील और तप धारण करने से ही मोक्ष हो जायेगा। वस्तुतः अज्ञानवश उनमें संसार से मुक्ति का अभिप्राय भी नहीं होता। क्योंकि उन्हें पर में सुखबुद्धि बनी रहती है। इस कारण से उन्हें पर से सुख (सुखाभास) देनेवाला पुण्य अच्छा लगता है, उन्होंने पुण्य को ही लक्ष्य बनाकर रखा है।

पुण्य किसी भी जीव को अनन्तकाल का सुख नहीं दे सकता। जीव मिथ्यात्व अवस्था में व्रतादि से जो पुण्य बाँधता है, वे भी पापानुबँधी होते हैं। ऐसे पुण्य से जीव को जो भी शरीरादि शुभ सामग्री प्राप्त होती है उसे भी वह जीव पाप बाँधने में ही लगाता है। पुण्य से उसे जो भी मिलता है उसका उपयोग भी वह अपना संसार बढ़ाने में करता है। क्त्व

अज्ञानवश मोक्ष के हेतु, अर्थात् आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता, उसके लक्ष्य ही नहीं होते। इस कारण से परमार्थबाह्य जीव चाहे जितना पुण्य करके भी अज्ञानवश अपना संसार बढ़ाता रहता है। यही अपनी अनादि की कहानी है। हमने कई बार नौ पूर्व का अभ्यास किया और अच्छे से अच्छे बाह्य आचाररूपी चारित्र का पालन भी किया, फिर भी अज्ञानवश, परमार्थबाह्य अवस्था के कारण अपने संसारपरिभ्रमण का अन्त नहीं कर सके। वस्तुतः साधक को शुद्धभाव के लक्ष्य से रहना तो शुभ में ही है, अशुभ में नहीं। यहाँ शुभ का निषेध नहीं समझना परन्तु बिना शुद्ध के लक्ष्य का शुभ संसारगमन का हेतु होता है—यह बताया है। यही इस गाथा का हार्द है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६२

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।155।।

भावानुवाद : *जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है। उन जीवादि पदार्थों का अधिगम (सम्यक्) ज्ञान है। रागादि का त्याग (सम्यक्) चारित्र है। यही मोक्ष का पथ है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति से ही उस जीव को जीवादि पदार्थों का सम्यक् श्रद्धान होता है। इसे ही सम्यक्त्व कहा जाता है।

उस शुद्धात्मानुभूतिरूपी शुद्धोपयोग से ही जीवादि पदार्थों का सम्यक् अधिगम यानी बोध होता है। उसे ही सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। जब वैराग्यादि योग्यतापूर्वक जीव का अस्तित्व भासित (अनाकार दर्शन) होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उसी शुद्धात्मा की अनुभूति को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है, क्योंकि दर्शन निराकार होता है और ज्ञान साकार उपयोग के रूप में होता है।

शुद्धात्मानुभूति में कोई भी विशेषभाव नहीं होते। रागादि विशेषभाव हैं। वे शुद्धात्मा में नहीं होते, सामान्यभाव में नहीं होते। इसलिये शुद्धात्मानुभूति के समय में रागादि का परिहार हो जाता है। इसलिये शुद्धात्मानुभूति ही निश्चय चारित्र है। इसलिये समयसार ग्रन्थ की दूसरी गाथा में बताया गया है कि दर्शन–ज्ञान–चारित्र स्थित जीव को स्वसमय जानो, सम्यग्दृष्टि जानो। यहाँ दर्शन–ज्ञान–चारित्र को जीव के गुणों के रूप में अथवा जीव की पर्याय के रूप में, दोनों प्रकार से विवक्षित किया जा सकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थान में दर्शन–ज्ञान–चारित्र का गुणों के रूप में अभेद अनुभव करता है एवं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को पर्याय के रूप में भी अनुभव करता है। आगे पंचम गुणस्थान में पर्याय में भी अंशतः चारित्र प्रकट होता है। फिर छठवें गुणस्थान में पर्याय में प्रमत्तसंयत चारित्र प्रकट होता है। फिर सातवें गुणस्थान में पर्याय में अप्रमत्तसंयत चारित्र प्रकट होता है।

जब जीव उस अप्रमत्त आत्मानुभूति में स्थिर होता है, तब क्षपकश्रेणी लगती है और आगे गुणस्थानारोहण करते हुए वह जीव केवलज्ञान—केवलदर्शन पाता है और आयु के अन्त में उस जीव का मोक्ष होता है। यही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा इस गाथा का मर्म है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १५६

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।156।।

भावानुवाद : *विद्वान् निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन करते हैं। परमार्थाश्रित यतियों को ही कर्मक्षय कहा है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा को ही परमार्थ कहा गया है, निश्चयार्थ कहा गया है। वैसी आत्मानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है।

इस गाथा में जिस विद्वान् की बात की है उसे लकीर का फ़क़ीर, बाह्य चारित्र से ही मोक्ष माननेवाला समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि आत्मानुभूति के रूप में निश्चयार्थ का आश्रय लेता है और सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि लक्ष्य के रूप में निश्चयार्थ का आश्रय लेता है। आत्मानुभूति को ही निश्चयार्थ यानी शुद्धनय कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुभूति ही होता है, क्योंकि आत्मानुभूति से ही मोक्षमार्ग में प्रवेश मिलता है। और आगे आत्मप्राप्ति के बाद आत्मस्थिरता से क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान पाकर आयु के अन्त में सम्पूर्ण कर्मक्षय होने पर उस जीव का मोक्ष होता है। उस आत्मस्थिरताप्राप्ति के पुरुषार्थ में प्रयासरत यति को ही कर्मक्षय कहा गया है, क्योंकि आत्मस्थिरता से ही कर्मक्षय होता है। इसलिये इस गाथा में परमार्थाश्रित यतियों को कर्मक्षय कहा गया है।

परोक्ष रूप से यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार से कर्मक्षय नहीं होता। धर्म में प्रवेश सम्यग्दर्शन से ही होता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को ही शुद्धनय की प्राप्ति कहा जाता है, वही शुद्धनिश्चयनय है। इसलिये आत्मप्राप्ति जिसका लक्ष्य नहीं है और जो ग़लत अर्थघटन के कारण व्यवहार क्रिया को ही धर्म मानता है, उसे निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार कहा जाता

है। क्योंकि उसका लक्ष्य शुद्धनिश्चयनय को पाना नहीं है। इससे हमें यह समझना है कि बिना शुद्धनिश्चयनय के लक्ष्य के, बिना शुद्धनिश्चयनय की प्राप्ति के, गुणश्रेणीवाली निर्जरा नहीं होती। यही इस गाथा का सार है।

पाठान्तर :

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६३

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि ।।

भावानुवाद : *विद्वान् निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते। इसलिये परमार्थाश्रित यतियों को ही कर्मक्षय कहा है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा को ही परमार्थ कहा गया है, निश्चयार्थ कहा गया है। वैसी आत्मानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है।

सच्चा विद्वान् तो वही कहलाता है जिसने आत्मप्राप्ति की हो यानी जिसने आत्मानुभूति प्राप्त करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की हो। इस गाथा में उसी विद्वान् की बात की गयी है। सम्यग्दृष्टि आत्मानुभूति के रूप में निश्चयार्थ का आश्रय लेता है और बाद में आत्मस्थिरता के रूप में निश्चयार्थ का आश्रय लेता है। आत्मानुभूति को ही निश्चयार्थ यानी शुद्धनय कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुभूति ही होता है, क्योंकि आत्मानुभूति से ही मोक्षमार्ग में प्रवेश मिलता है। और आगे आत्मप्राप्ति के बाद आत्मस्थिरता से क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान पाकर आयु के अन्त में सम्पूर्ण कर्मक्षय होकर उस जीव का मोक्ष होता है। उस आत्मस्थिरताप्राप्ति के पुरुषार्थ में प्रयासरत यति को ही कर्मक्षय कहा गया है, क्योंकि आत्मस्थिरता से ही कर्मक्षय होता है। इसलिये इस गाथा में परमार्थाश्रित यतियों को कर्मक्षय कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा 157–159 – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा 164–166

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ।।157।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ।।158।।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ।।159।।

भावानुवाद : *ज्ञातव्य है कि जैसे वस्त्र का श्वेतत्व मैल मिलने से आच्छादित होने के कारण नष्ट होता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी मैल से आच्छादित होने के कारण सम्यक्त्व नष्ट होता है। ज्ञातव्य है कि जैसे वस्त्र का श्वेतत्व मैल मिलने से आच्छादित होने के कारण नष्ट होता है, वैसे ही अज्ञानरूपी मैल से आच्छादित होने के कारण ज्ञान नष्ट होता है। ज्ञातव्य है कि जैसे वस्त्र का श्वेतत्व मैल मिलने से आच्छादित होने के कारण नष्ट होता है, वैसे ही कषायरूपी मैल से आच्छादित होने के कारण चारित्र नष्ट होता है।*

टीका : यह बात सर्वविदित है कि सफ़ेद वस्त्र कालक्रम से मैल लगने पर, मैल से आच्छादित होने के कारण अपना प्रकट सफ़ेद भाव यानी सफ़ेद पर्याय खो देता है। उसी प्रकार अनादि से मिथ्यात्वरूपी मैल के कारण जीव का सम्यक्त्व आच्छादित है। मिथ्यात्व दो प्रकार का होता है :– एक, पुद्गल के रूप में मिथ्यात्व कर्म और दूसरा, जीव के भाव के रूप में मिथ्यात्व। उन दोनों का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, कार्य–कारण सम्बन्ध नहीं। जब जीव का सम्यक्त्व स्वयं के मिथ्यात्व के दोष के कारण आच्छादित होता है, तब मिथ्यात्व कर्म का उदय उसमें निमित्त होता है। जब जीव मिथ्यात्वरूप परिणमता है, तब सम्यक्त्व का नाश होता है। यही अनादि की वस्तुव्यवस्था है।

यह बात सर्वविदित है कि सफ़ेद वस्त्र कालक्रम से मैल लगने पर, मैल से आच्छादित होने के कारण अपना प्रकट सफ़ेद भाव यानी सफ़ेद पर्याय खो देता है। उसी प्रकार अनादि से अज्ञानरूपी मैल के कारण जीव का ज्ञान आच्छादित है। अज्ञान मिथ्यात्व के कारण होता है। मिथ्यात्व दो प्रकार का होता है :– एक, पुद्गल के रूप में मिथ्यात्व कर्म और दूसरा, जीव के

भाव के रूप में मिथ्यात्व। उन दोनों का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, कार्य–कारण सम्बन्ध नहीं। जब जीव का ज्ञान स्वयं के मिथ्यात्व के दोष के कारण आच्छादित होता है, तब मिथ्यात्व के दोष के कारण जीव का ज्ञान अज्ञान कहलाता है, क्योंकि जीव की मिथ्या मान्यता के कारण ज्ञान भी अज्ञान के रूप में परिणमता है। इसे ही ज्ञान का नाश कहा गया है।

यह बात सर्वविदित है कि सफ़ेद वस्त्र कालक्रम से मैल लगने पर, मैल से आच्छादित होने के कारण अपना प्रकट सफ़ेद भाव यानी सफ़ेद पर्याय खो देता है। उसी प्रकार अनादि से कषायरूपी मैल के कारण जीव का चारित्र आच्छादित है। जीव को चार प्रकार के कषायों का उदय होता है। १. अनन्तानुबँधी कषाय २. अप्रत्याख्यानी कषाय ३. प्रत्याख्यानी कषाय ४. संज्वलन कषाय। अनन्तानुबँधी कषाय जीव का सम्यक्त्व रोकती है, अप्रत्याख्यानी कषाय जीव की देशविरति को रोकती है और प्रत्याख्यानी कषाय जीव की सर्वविरति को रोकती है। जीव और पुद्गलकर्म–उन दोनों का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, कार्य–कारण सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार कषायरूपी मैल से व्याप्त होने के कारण जीव का चारित्र आच्छादित होता है। यहाँ चारित्र यानी आत्मरमणता समझना, वेश नहीं।

जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। सम्यग्दर्शन के कारण जीव के मिथ्यात्व का नाश होता है और तब उस जीव का अज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। आगे गुणस्थानारोहण करते हुए जीव जब छठवें गुणस्थान में जाता है, तब प्रथम तीन कषायों का उदय नहीं होता, सिर्फ़ संज्वलन कषाय का उदय होता है जो चारित्र को नहीं रोकती। इसलिये छठवें गुणस्थान में जीव का पर्यायरूप भाव–चारित्र प्रकट होता है। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६७

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ।।160।।

भावानुवाद : *संसारप्राप्त (जीव में स्वरूप से) सर्वज्ञता और सर्वदर्शित्व का सामर्थ्य होने पर भी वह निज कर्मरज से आच्छादित जीव सब पदार्थों को सब प्रकार से नहीं जानता।*

टीका : अनादि से जीव और कर्म का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। उसे नीरक्षीर जैसा सम्बन्ध भी बताया गया है। अनादि मिथ्यात्व के कारण जीव जिस भी शरीर में जाता है अज्ञानवश उसी को 'मैं' मानता है और कर्मों के उदय पर राग–द्वेष करके नये कर्म बाँधता है। इस तरह वह अपनी ग़लती से कर्मों के विषचक्र में अनादि से फँसा हुआ है। इसलिये वह संसार में डूबा हुआ है। ऐसे पहले गुणस्थान स्थित जीव से क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थान स्थित जीवों को यहाँ संसारप्राप्त जीव कहा गया है।

जीव के अनन्त गुणों में ज्ञान और दर्शन भी शामिल हैं। ज्ञानगुण में ऐसा सामर्थ्य है कि वह तीनों काल के सभी पदार्थों की सभी पर्यायों को वर्तमानवत् जान सकता है। दर्शनगुण में भी ऐसा सामर्थ्य है कि वह तीनों काल के सभी पदार्थों की सभी पर्यायों को वर्तमानवत् देख सकता है। ज्ञान और दर्शन का यह सामर्थ्य ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के कारण अवरुद्ध है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म घाती प्रकृति के होते हैं। इसलिये वे आत्मा के ज्ञान और दर्शनगुणों का ही निमित्त–नैमित्तिक रूप से सीधे घात करते हैं। अतः निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के अनुरूप ही जीव के ज्ञान और दर्शन होते हैं। जब इन दोनों कर्मों का क्षय हो जाता है, तब जीव का जानने–देखने का सामर्थ्य पूरी तरह से प्रकट हो जाता है। इसलिये बारहवें गुणस्थान पर्यन्त के संसारी जीव सब पदार्थों को हर प्रकार से नहीं जानते। यहाँ जीव और पुद्गलकर्म का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बताया गया है। इसलिये निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का एकान्त से खण्डन नहीं करना चाहिये। यही इस गाथा का सार है।

यदि कोई इस निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को उड़ाकर एकान्त से ऐसा मानते है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता' तो वैसा जीव भ्रमवश अपना अनन्त संसार ही बढ़ाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६१–१६३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १६८–१७०

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो ।।161।।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ।।162।।

चारित्तपडिणिबद्धं कसायमिदि जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ।।163।।

भावानुवाद : *जिनवरों ने मिथ्यात्व को सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक बताया है। उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिये। जिनवरों ने अज्ञान को ज्ञान का प्रतिबन्धक बताया है। उस अज्ञान के उदय से जीव अज्ञानी होता है, ऐसा जानना चाहिये। जिनवरों ने कषाय को चारित्र का प्रतिबन्धक बताया है। उस कषाय के उदय से जीव संयमरहित होता है, ऐसा जानना चाहिये।*

टीका : अनादि से जीव और कर्म का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। उसे नीरक्षीर जैसा सम्बन्ध भी बताया गया है। अनादि मिथ्यात्व के कारण जीव जिस भी शरीर में जाता है अज्ञानवश उसी को 'मैं' मानता है और कर्मों के उदय पर राग–द्वेष करके नये कर्म बाँधता है। इस तरह वह अपनी ग़लती से कर्मों के विषचक्र में अनादि से फँसा हुआ है। इसलिये वह संसार में डूबा हुआ है।

मूलतः कर्म के आठ प्रकार हैं। उनमें से चार घाती कर्म हैं और चार अघाती कर्म हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय घाती कर्म हैं तथा नाम, आयु, गोत्र एवं वेदनीय अघाती कर्म हैं। घाती कर्म निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण सीधे आत्मा के गुणों का घात करते हैं अर्थात् वे गुणों की अभिव्यक्ति के प्रतिबन्धक हैं एवं अघाती कर्म आत्मा के गुणों का घात नहीं करते।

दर्शनमोहनीय नामक घाती कर्म के उदय के निमित्त से जीव का मैंपन उसे प्राप्त शरीर में होता है। इसे मिथ्यात्व कहते हैं। जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता। इसलिये जिनवरों ने कहा है कि मिथ्यात्व सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक है।

जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है। इस कारण से उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। उस जीव को अज्ञान का उदय है। इसलिये जिनवरों ने कहा है कि अज्ञान ज्ञान का प्रतिबन्धक है।

जब तक अनन्तानुबँधी कषायचौकड़ी का उदय है, तब तक उस जीव को अपने स्वरूप का अनुभव नहीं होता। इसलिये जिनवरों ने कहा है कि अनन्तानुबँधी कषायचौकड़ी स्वरूपप्राप्ति रूप चारित्र की प्रतिबन्धक है।

जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। चतुर्थ गुणस्थान में जब तक अप्रत्याख्यानावरणीय कषायचौकड़ी का उदय है, तब तक उस जीव को देश चारित्र नहीं होता। इसलिये जिनवरों ने कहा है कि अप्रत्याख्यानावरणीय कषायचौकड़ी देश चारित्र की प्रतिबन्धक है।

पंचम गुणस्थान में जब तक प्रत्याख्यानावरणीय कषायचौकड़ी का उदय है, तब तक उस जीव को पूर्ण चारित्र नहीं होता, मात्र देश चारित्र होता है। इसलिये जिनवरों ने कहा है कि प्रत्याख्यानावरणीय कषायचौकड़ी पूर्ण चारित्र की प्रतिबन्धक है।

छठवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक संज्वलन कषाय का उदय है। उन गुणस्थानों में स्थित जीव को यथाख्यात चारित्र नहीं होता। इसलिये जिनवरों ने कहा है कि संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का प्रतिबन्धक है।

यहाँ जीव और पुद्गलकर्म का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बताया गया है। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को एकान्त से उड़ाते हुए सिर्फ़ कर्ता–कर्म सम्बन्ध को ही मानते हैं, उनके लिये आचार्यश्री ने यहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया है। इसलिये किसी को भी एकान्त से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं उड़ाना चाहिये। यही इन गाथाओं का सार है।



पुण्य–पाप अधिकार का उपसंहार

पुण्य–पाप अधिकार का सारांश यह है कि पुण्य व पाप दोनों बन्ध अपेक्षा से और आस्रव अपेक्षा से समान हैं। इसलिये ग़लत अर्थघटन के कारण पुण्य को धर्म नहीं मानना चाहिये। सत्यधर्म तो आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता ही है। उस मोक्षमार्ग में गुणस्थान के अनुसार अविरति, देशविरति या सर्वविरति आदि अवस्थाएँ होती हैं। इसलिये साधक को गुणस्थान के अनुसार आत्मप्राप्ति या आत्मस्थिरता के लक्ष्य से धर्मपुरुषार्थ करना चाहिये। उस धर्मपुरुषार्थ में उसे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की उपेक्षा कतई नहीं करनी चाहिये अर्थात् ग़लत अर्थघटन के कारण स्वच्छन्दचारी नहीं बनना चाहिये।

जब तक जीव को पुण्य के प्रति अहोभाव है, तब तक वह जीव बहिरात्मा है, क्योंकि उसे पुण्य के फलस्वरूप मिलनेवाले बाह्यसंयोगों के प्रति ही अहोभाव है। इसलिये वह जीव परसन्मुख है यानी आत्मविमुख है। ऐसी स्थिति में उस जीव को आत्मा उपादेय नही लगती। ऐसे जीव को आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होती।

इसलिये सभी जीवों को यह समझना है कि आदर सिर्फ़ शुद्धभाव का ही होता है। जब तक शुद्धभाव में स्थिरता नहीं हो जाती, तब तक शुद्धभाव के लक्ष्य से शुभभाव में रहना चाहिये, अशुभभाव में नहीं। क्योंकि धर्मी जीव को सहज ही हिंसा आदि के तीव्र भाव नहीं होते। इसलिये उसे तीव्र अशुभ भाव नहीं होते। परन्तु शुभभाव को धर्म नहीं मानना चाहिये। इस अपेक्षा से आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ पूछ रहे हैं कि जो संसार में प्रवेश कराते हैं, वे सुशील (अच्छे) कैसे हो सकते हैं?

शुभभाव और अशुभभाव दोनों आस्रव तथा बन्ध की अपेक्षा से जीव को बाँधनेवाले हैं। जो जीव शुभ से राग और संसर्ग करता है और ग़लत अर्थघटन के कारण शुभ को ही धर्म मानता

है, उसे सत्यधर्म का आभास भी नहीं होता, क्योंकि सत्यधर्म तो शुद्धात्मानुभूति से ही शुरू होता है। आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि स्वभाव में लीन पुरुष यानी शुद्धात्मानुभूति में लीन पुरुष कर्मप्रकृति के स्वभाव को कुत्सित जानकर यानी अपने स्वभाव से विरुद्ध जानकर उसके साथ राग और संसर्ग छोड़ देता है। यानी कर्मों के कारण पर के साथ होनेवाले संयोगों के प्रति मूर्छा छोड़ देता है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने यही बताया है कि कर्म के संसर्ग से और राग से आत्मा की स्वाधीनता का नाश होता है। और उन कर्मों के क्षय से पूर्ण स्वाधीनता प्रकट होती है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि उन दोनों कुशीलों से, यानी शुभभाव और अशुभभाव से, राग और संसर्ग यानी उनके प्रति मूर्छा से बचना चाहिये।

यह जिनोपदेश है कि रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्यसम्पन्न जीव कर्मों से मुक्त होता है। इसलिये कर्मों से राग मत करो। मिथ्यात्वी जीव का यही अभिप्राय होता है कि संसार में राग के बिना जी ही नहीं सकते। क्योंकि उनका यह अभिप्राय है कि राग के प्रति राग तो सभी जीवों में होना आवश्यक है। वे राग के प्रति रागरहित जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते। राग के प्रति राग यानी न सिर्फ़ राग करने योग्य लगना, बल्कि राग आवश्यक है ऐसा अभिप्राय और उपदेश, तथा आगे चलकर उस अभिप्राय को उचित भी ठहराना।

आगे आचार्यश्री बताते हैं कि वैराग्यसम्पन्न जीव कर्मों से मुक्त होता है। इससे पता चलता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में और आगे आत्मस्थिरता में भी वैराग्य परमावश्यक है, क्योंकि सिर्फ़ सम्यग्दृष्टि जीव ही क्रमशः गुणस्थानारोहण करते हुए कर्मों से मुक्त होता है। इसलिये जिनोपदेश के आधार पर रचित शास्त्रों में सर्वाधिक वैराग्य का ही उपदेश है। और जहाँ वस्तुव्यवस्था का उपदेश है वह भी तत्त्व की स्पष्टता के लिये ही है। उस तत्त्व की स्पष्टता का भी उपयोग वैराग्य प्राप्त करने के लिये ही करना चाहिये, सिर्फ़ जानकारीरूप ज्ञानवर्धन के लिये नहीं। क्योंकि वैसा जानकारीरूप ज्ञान तो हमने कई बार नौ पूर्व तक प्राप्त किया है। फिर भी हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं।

ज्ञानी हो, मुनि हो, या केवली हो सभी को शुद्ध, पारमार्थिक समयस्वरूप स्वभाव में स्थिरता अभिप्रेत होती है। इनमें से केवली भगवान तो सहज रूप से ही लगातार शुद्धात्मा में स्थित रहते हैं, तथा ज्ञानी और मुनि बार–बार शुद्धात्मा में स्थित रहने का निरन्तर पुरुषार्थ करते हैं।

जो जीव परमार्थ में अस्थित है, वह जो तप और व्रत धारण करता है उन सभी तपों और व्रतों को सर्वज्ञ बालतप और बालव्रत कहते हैं। ऐसे जीव शब्दों से तो यही कहते हैं कि मोक्ष चाहिये परन्तु जब तक पर में सुखबुद्धि विद्यमान है, तब तक उनके अभिप्राय में संसार ही बसा हुआ है। और तो और, ऐसे जीव इन तपों और व्रतों को ही धर्म समझते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये परोक्ष रूप से प्रेरित किया है। व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थ से बाह्य हैं यानी जिन्हे आत्मानुभूति नहीं है, वे अज्ञानी होते हैं।

इसका भावार्थ यह है कि उन तप और व्रत को मोक्ष के लिये सार्थक बनाने हेतु आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये परोक्ष रूप से प्रेरित किया है और भ्रमवश बालतप एवं बालव्रत को धर्म मानने को मना किया है।

यहाँ यह भी बताया गया है कि यदि कोई ग़लत अर्थघटन के कारण व्रतादि धारण करने से ही स्वयं को भ्रमवश पंचमादि गुणस्थान में मानते हों तो उन्हें अपनी ग़लत मान्यता दुरुस्त कर लेनी चाहिये और अपने व्रतादि को सार्थक बनाने के लिये उस के अनुरूप गुणस्थान प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

जो परमार्थ से बाहर हैं यानी जिन्हे आत्मानुभूति नहीं है, वे मोक्ष के हेतु को न जानते हुए संसारगमन का हेतु होने पर भी अज्ञानवश पुण्य को चाहते हैं। वस्तुतः साधक को शुद्धभाव के लक्ष्य से रहना तो शुभ में ही है, अशुभ में नहीं। यहाँ शुभ का निषेध नहीं समझना परन्तु बिना शुद्ध के लक्ष्य का शुभ संसारगमन का हेतु होता है—यह बताया गया है।

ऐसे अज्ञानी जीव मोक्ष के हेतु को नहीं जानते यानी मोक्ष कैसे प्राप्त किया जाता है, मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये क्या आवश्यक है, यह नहीं जानते। इसलिये उन्हें लगता है कि व्रत, नियम, शील और तप धारण करने से ही मोक्ष हो जायेगा। वस्तुतः अज्ञानवश उनमें संसार से मुक्ति का अभिप्राय भी नहीं होता। क्योंकि उन्हें पर में सुखबुद्धि बनी रहती है। इस कारण से उन्हें पर से सुख (सुखाभास) देनेवाला पुण्य अच्छा लगता है, उन्होंने पुण्य को ही लक्ष्य बनाकर रखा है।

सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुभूति ही होता है, क्योंकि आत्मानुभूति से ही मोक्षमार्ग में प्रवेश मिलता है। और आगे आत्मप्राप्ति के बाद आत्मस्थिरता से क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान पाकर आयु के अन्त में सम्पूर्ण कर्मक्षय होने पर उस जीव का

मोक्ष होता है। उस आत्मस्थिरता प्राप्ति के पुरुषार्थ में प्रयासरत यति को ही कर्मक्षय कहा गया है, क्योंकि आत्मस्थिरता से ही कर्मक्षय होता है।

बौद्धिकरूप से जानकारी जुटाये हुए विद्वान् निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन करते हैं, क्योंकि उन्हें आत्मप्राप्ति नहीं हुई हैं। सच्चे विद्वान् निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते। परमार्थाश्रित यतियों को ही यानी आत्मानुभूति युक्त यतियों को ही कर्मक्षय कहा है।

जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है। सम्यग्दर्शन के कारण जीव के मिथ्यात्व का नाश होता है और तब उस जीव का अज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। आगे गुणस्थानारोहण करते हुए जीव जब छठवें गुणस्थान में जाता है, तब प्रथम तीन कषायों का उदय नहीं होता, सिर्फ़ संज्वलन कषाय का उदय होता है जो चारित्र को नहीं रोकता। इसलिये छठवें गुणस्थान में जीव का पर्यायरूप भाव–चारित्र प्रकट होता है।

जिनवरों ने मिथ्यात्व को सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक बताया है। उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिये। जिनवरों ने अज्ञान को ज्ञान का प्रतिबन्धक बताया है। उस अज्ञान के उदय से जीव अज्ञानी होता है, ऐसा जानना चाहिये। जिनवरों ने कषाय को चारित्र का प्रतिबन्धक बताया है। उस कषाय के उदय से जीव संयमरहित होता है, ऐसा जानना चाहिये। यह व्यवहार कथन है।

यहाँ जीव और पुद्गलकर्म का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बताया गया है। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को एकान्त से उड़ाते हुए सिर्फ़ कर्ता–कर्म सम्बन्ध को ही मानते हैं, उनके लिये आचार्यश्री ने यहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया है। इसलिये किसी को भी एकान्त से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं उड़ाना चाहिये।

सभी साधकों को शुद्धात्मा की प्राप्ति और बाद में शुद्धात्मा में स्थिरता के लक्ष्य से शुभ में रहना कर्तव्य हैं।



आस्रव अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६४-१६५ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७१-१७२

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥164॥

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥165॥

भावानुवाद : *मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग यह आस्रव संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं तथा असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं। जीव के विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं। जीव के राग-द्वेष आदि भाव उनके निमित्तकारण होते हैं।*

टीका : अनादि से जीव कर्मोदय के निमित्त से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप अपने परिणाम करता है। इन आत्मा के परिणामों (संज्ञ आस्रव) के निमित्त से पुद्गलकर्मवर्गणा नये कर्म के रूप से बँधती (असंज्ञ आस्रव) है। जीव के विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। इस प्रकार वह अनादि से ही कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है। कर्मोदय के कारण होनेवाले जीव के अनेक प्रकार के भावों को संज्ञ आस्रव कहा जाता है, क्योंकि उनका निमित्त पाकर पुद्गलकर्मवर्गणाएँ ज्ञानावरणादि कर्म के रूप में परिवर्तित होती हैं। इस प्रकार असंज्ञ आस्रव ज्ञानावरणादि कर्म का कारण है, जीव के राग-द्वेष आदि भाव उनके निमित्तकारण होते हैं।

अनादि से जीव और कर्म का जो उपरोक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है, वह नित्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जीव का मोक्ष सम्भव है। जब आत्मा वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करती है, तब उसे शुद्धात्मा

का अनुभव होता है। फिर सहज रूप से जीव कालक्रम से और अपने पुरुषार्थ से आत्मस्थिरता प्राप्त करता हुआ क्षपकश्रेणी चढ़कर केवली बनता है और आयुक्षय पर वह मोक्ष को प्राप्त करता है। यही मोक्षमार्ग है।

कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के जो भी परिणाम (भावकर्म) होते है, उनके निमित्त से होमेवाले असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) के कारण नये द्रव्यकर्म बँधते है, इस अपेक्षा से उन जीव के परिणामों (भावास्रवों) को संज्ञ आस्रव कहा जाता है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इन संज्ञ आस्रवों को निश्चय से पुद्गल परिणाम या द्रव्यप्रत्यय भी बताया जाता है। यह समझना आवश्यक है। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं। इसलिये इसका निराकरण करते हुए यहाँ बताया गया है कि 'असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं। जीव के राग–द्वेष आदि भाव (भावास्रव) उनके (असंज्ञ आस्रव यानी नवीन द्रव्यप्रत्यय के) निमित्तकारण होते हैं।'

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७३

णत्थि दु आसवबन्धो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबन्धंतो ।।166।।

भावानुवाद : *सम्यग्दृष्टि जीव को आस्रव–बन्ध नहीं होता, उसे आस्रव–निरोध होता है। वह नवीन कर्म नहीं बाँधता है, सत्ता में रहे पूर्वबद्धकर्मों को जानता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वही जीव सम्यग्दृष्टि है यानी ज्ञानी है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से विशेषभाव का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। अतएव निश्चयनय से यानी ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव को आस्रव–बन्ध नहीं होता, उसे आस्रव–निरोध होता है। वह नवीन कर्म नहीं बाँधता है, सत्ता में रहे पूर्वबद्धकर्मों को जानता है'।

ज्ञानसामान्यभाव परम अकर्ता भाव है, उसमें आस्रव-बन्ध नहीं होता। इसलिये उसे आस्रव-निरोध होता है, अबन्धत्व है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव को आस्रव-बन्ध नहीं होता, उसे आस्रव-निरोध होता है। ज्ञानसामान्यभाव परम अकर्ता है, सिर्फ़ ज्ञायक ही है। इसलिये यहाँ अभिप्राय की अपेक्षा से कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि नवीन कर्म नहीं बाँधता है, सत्ता में रहे पूर्वबद्धकर्मों को जानता है। अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह पूर्वबद्धकर्मों के फलों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, उनसे एकत्व नहीं करता।

समयसार शास्त्र आध्यात्मिक शास्त्र होने के कारण यहाँ जीव के सिर्फ़ सामान्यभाव का ही कथन है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को सिर्फ़ उस भाव में ही मैंपन है। इसलिये यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव के विशेषभाव को गौण रखा गया है।

पर्यायअपेक्षा से सम्यग्दृष्टि जीव को भी कर्मोदय के निमित्त से विभाव परिणति होती है और उसके निमित्त से गुणस्थान के अनुसार नये कर्मों का आस्रव-बन्ध भी होता है। इसलिये किसी को यह बात एकान्त से नहीं ग्रहण करनी चाहिये कि 'सम्यग्दृष्टि जीव को आस्रव-बन्ध नहीं होता, उसे आस्रव-निरोध होता है। वह नवीन कर्म नहीं बाँधता है, सत्ता में रहे पूर्वबद्धकर्मों को जानता है'।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७४

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बन्धगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबन्धगो जाणगो णवरि ।।167।।

भावानुवाद : *जीवकृत रागादि युक्त भावों को (कर्मों का) बन्धक कहा गया है। रागादि से मुक्त भाव को (कर्मों का) अबन्धक कहा गया है, वह सिर्फ़ ज्ञायक है।*

टीका : गाथा १६४ – १६५ में कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये चारों संज्ञ और असंज्ञ आस्रव हैं। अज्ञानी को ये चारों होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में अविरमण आदि तीन आस्रव होते हैं। पंचम गुणस्थान में देश अविरमण आदि तीन आस्रव होते हैं। छठवें से दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो आस्रव होते हैं। ग्यारहवें से तेरहवें तक एकमात्र योग के कारण आस्रव होता है। ये सभी संज्ञ आस्रव भाव जीव के विशेषभाव हैं। दसवें गुणस्थान तक जीवकृत रागादिभावों (भावास्रवों) को कर्मों का बन्धक कहा है – यह व्यवहारनय का कथन

है। निश्चयनय से नये असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) नये कर्मों को बाँध रहे हैं। आगे तेरहवें गुणस्थान तक एकमात्र योग के कारण आस्रव–बन्ध कहा गया है।

जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ज्ञानसामान्यभाव परम अकर्ता होता है। इसलिये वह रागादि से मुक्त होता है। उस भाव में कोई भी आस्रव नहीं होता। इसलिये उस भाव को कर्मों का अबन्धक कहा गया है। वह भाव सिर्फ़ जाननेवाला है, ज्ञायक है, ज्ञाताद्रष्टा मात्र है।

निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है और शुद्धात्मा रागादि से मुक्त भाव है। इसलिये उस अपेक्षा से ज्ञानी को अबन्धक कहा गया है। जबकि अज्ञानी का मैंपन और मेरापन पर्याय में होता है और उसकी पर्याय रागादि युक्त होती है। इसलिये उस अपेक्षा से अज्ञानी को बन्धक कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७५

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि ।।168।।

भावानुवाद : *जैसे पके हुए फल के गिरने पर वह फल पुनः उस डण्ठल (डंडी) से दोबारा नहीं जुड़ता, वैसे ही जीव के कर्मभाव खिर जाने पर पुनः उदय में नहीं आते।*

टीका : यह बात सर्वविदित है कि जब एक बार पके हुए फल वृक्ष से गिर जाते हैं, तब पुनः उन्हें उस वृक्ष पर लगाया नहीं जा सकता। वैसे ही जब कर्म अपना फल देकर जीव से अलग होता है उसके बाद पुनः उस कर्म का उदय नहीं होता।

दूसरे, यहाँ जो कर्मभाव बताया गया है, वह भाव आस्रव है, संज्ञ आस्रव है। इस भाव आस्रव का गुणस्थान के अनुसार अभाव होता जाता है।

चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व नामक आस्रव का अभाव हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थानस्थित क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से उस जीव का मिथ्यात्व कर्मभाव खिर गया है। उसे मिथ्यात्व

का बन्ध पुनः कभी नहीं होगा। चरम विरति के बाद चरम शरीरी जीव का अविरमण कर्मभाव खिर जाता है। फिर उसे अविरमण कर्मभाव पुनः कभी नहीं होगा। बारहवें गुणस्थान में स्थित जीव को कषाय आस्रव के अनुरूप कर्मभाव पुनः कभी नहीं होगा। ऐसे ही चौदहवें गुणस्थान में स्थित जीव को योगास्रव के अनुरूप कर्मभाव पुनः कभी नहीं होगा।

इस प्रकार जीव के जो–जो कर्मभाव खिर गये, उनका पुनः बन्ध और उदय नहीं होता।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १६९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७६

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ।।169।।

भावानुवाद : *उस ज्ञानी के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय पृथ्वीपिण्ड समान हैं और वे कार्मण शरीर के साथ बँधे हुए हैं।*

टीका : अनादि से आत्मा कर्मों से बँधी हुई है। इसलिये वह संसार में अनन्त दुःख झेलती हुई भटक रही है। जब वही आत्मा वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करती है, तब उसे ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा अनुभव में आती है। वह शुद्धात्मा कर्मों से अबद्ध तथा अस्पृष्ट है, क्योंकि वह सामान्यभाव है। ऐसे जीव को ही समयसार ग्रन्थ में ज्ञानी कहा गया है।

जीव के मिथ्यात्व आदि सभी पूर्वबद्ध समस्त द्रव्यप्रत्यय (पुद्गलकर्म) कार्मण शरीर से बँधे हुए होते हैं, आत्मा के साथ नहीं। ज्ञानी को भेदज्ञान पूर्वक आत्मानुभूति हो गयी है। इसलिये उन पूर्वबद्ध समस्त द्रव्यप्रत्यय (पुराने संज्ञ आस्रवों के निमित्त से हुए असंज्ञ आस्रवों से बँधे द्रव्यकर्म) को पृथ्वीपिण्ड यानी मिट्टी के ढेले के समान बताया गया है, क्योंकि दोनों एक ही पुद्गल जाति के है। ज्ञानी को सिर्फ़ निजात्मा के ज्ञानसामान्यभाव में ही मैंपन होता है, पुद्गलपिण्ड रूपी कर्मों या शरीर में नहीं। यह बात ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से बतायी गयी है, क्योंकि निश्चय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञानसमान्यभावरूप शुद्धात्मा में ही होता है और उस शुद्धात्मा में कोई भी कर्म नहीं होते।

आत्मा और कर्मण शरीर का अनादि से एक विशिष्ट प्रकार का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। परन्तु ज्ञानी को उन द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म से भेदज्ञान वर्तता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७७

चउविह अणेयभेयं बन्धंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जम्हा तेण अबन्धो त्ति णाणी दु ।।170।।

भावानुवाद : *चूँकि चार प्रकार के द्रव्यास्रव ज्ञान–दर्शनगुणों के द्वारा समय–समय पर अनेक प्रकार के कर्म बाँधते हैं, इसलिये ज्ञानी तो अबन्धक है।*

टीका : अनादि से जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग–इन चार द्रव्यास्रवों और भावस्रवों से नवीन कर्मों का आस्रव कर रहा है। जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब वह ज्ञानी कहलाता है, सम्यग्दृष्टि बनता है। उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। चूँकि ज्ञानसामान्यभाव परम अकर्ता है। इसलिये ज्ञानी अबन्धक (बन्धनमुक्त) है।

निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। अतएव उसके ज्ञान–दर्शनगुणों की पर्यायों के द्वारा जो भी आस्रव होता है, ज्ञानी उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अपेक्षा से ज्ञानी के ज्ञान–दर्शनगुणों की पर्यायें कर्मोदय के निमित्त से विभाव रूप से परिणत होती हैं, उनके निमित्त से ज्ञानी को गुणस्थान के अनुसार चार प्रकार के द्रव्यास्रव (असंज्ञ आस्रव यानी नवीन द्रव्यप्रत्यय) होते हैं। जिससे समय–समय पर अनेक प्रकार के कर्म बँधते है। परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी उस पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। इसलिये ज्ञानी को यहाँ अबन्धक कहा गया है।

अज्ञानी को मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये चारों आस्रव होते हैं। अज्ञानी का मैंपन पर्याय में होता है। इसलिये वह बन्धक होता है। इसलिये उसकी ज्ञान–दर्शनगुण की पर्याय समय–समय पर अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७८

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बन्धगो भणिदो ।।171।।

भावानुवाद : *क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण पुनः अन्य रूप से परिणमन करता है। इसलिये उसे कर्मबन्धक कहा गया है।*

टीका : सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभाव में ही होता है और वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है। पर्याय में जब ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण रूप से परिणमता है, तब उस जीव का सम्यग्दर्शन चला जाता है। तब उस जीव का मैंपन शरीर में होता है। तब उसके ज्ञानगुण का परिणमन अज्ञान कहलाता है। तब वह जीव आम अज्ञानी की भाँति पर का कर्ता बनता है और पूर्वोक्त ४ प्रकार के भावास्रवों के निमित्त से द्रव्यास्रवों के कारण नवीन कर्मों का आस्रव-बन्ध करता है। इसलिये तब उसका ज्ञानगुण कर्मबन्धक कहा जाता है। ज्ञानी को पहले ही अबन्धक कहा गया है। परन्तु यहाँ कर्मबन्धक की बात की है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि 'ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण पुनः अन्य रूप से परिणमन करता है।' यह मिथ्यात्वरूपी परिणमन समझना चाहिये।

यहाँ ज्ञानगुण को जघन्य इसलिये कहा है, क्योंकि यहाँ ज्ञानगुण की पर्याय की बात की गयी है। ज्ञानगुण अपने आप में न तो उत्कृष्ट होता है और न ही जघन्य। हाँ, उसकी पर्याय उत्कृष्ट या जघन्य हो सकती है। यहाँ बताया गया है कि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण पुनः अन्य रूप से परिणमन करता है। इसलिये उसे कर्मबन्धक कहा है। इस कारण से यहाँ जो ज्ञानी जीव पुनः अज्ञानी बना है, ऐसे जीव की बात की गयी है। चूँकि चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव भी अपनी योग्यतानुसार कर्म बाँधते हैं, परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से उनका मैंपन पर्याय में न होने से उन्हें अबन्धक ही कहा जाता है। वही बात पूर्व की १७० गाथा में बतायी गयी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १७९

दंसणं-णाण-चरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण ।।172।।

भावानुवाद : *चूँकि दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमन करता है। इसलिये ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।*

टीका : जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभाव में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। आत्मानुभूति के बाद वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का भी सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा हो जाता है, कर्ताभोक्ता नहीं। चारित्रमोहनीय कर्म के कारण उसकी पर्याय में कर्मोदय के अनुरूप राग-द्वेष होते हैं। उसी को यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जघन्य परिणमन

बताया है। उस भाव के कारण कर्मबन्ध होता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी गुणस्थान के अनुसार अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।

यहाँ ज्ञानी की बात पर्याय की अपेक्षा से की है। इसलिये यहाँ ज्ञानी को बन्ध कहने से १७०वी गाथा के साथ कोई विरोध नहीं आता। अर्थात् ज्ञानी को द्रव्य में मैंपन है। उस अपेक्षा से वह अबन्धक है और पर्याय की अपेक्षा से ज्ञानी भी गुणस्थान के अनुसार बन्धक है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७३–१७६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १८०–१८३

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बन्धंते कम्मभावेण ॥173॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बन्धदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥174॥

संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बन्धदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥175॥

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबन्धगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बन्धगा भणिदा ॥176॥

भावानुवाद : *सम्यग्दृष्टि जीव के समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (पुद्गलकर्म) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (जीव के रागादि) के द्वारा नवीन बन्ध करते हैं। वे प्रत्यय निरुपभोग्य होकर फिर जैसे ही उपभोग्य होते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि रूप से ७–८ प्रकार से होनेवाले कर्मों को बाँधते हैं। वे (कर्म) सत्ता अवस्था में वे निरुपभोग्य हैं (अर्थात् भोगने योग्य नहीं हैं।) जैसे इस जगत में बालिका पुरुष के लिये (निरुपभोग्य) है तथा जैसे तरुणी पुरुष को बाँध लेती है वैसे ही वे (कर्म) उपभोग्य होने पर बन्धन करते हैं। इस कारण से सम्यग्दृष्टि जीव को अबन्धक कहा गया है, क्योंकि आस्रव भाव (भावास्रव) में (मैंपन के) अभाव में प्रत्ययों को (कर्म) बन्धक नहीं कहा गया है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता करके आत्मानुभूति प्राप्त करता है, तब वह सम्यग्दृष्टि बनता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि

जीव के पूर्व में बाँधे हुए सारे कर्म सत्ता में रहते हैं। उन पूर्वबद्धकर्मों को यहाँ पूर्वबद्ध प्रत्यय कहा गया है। उस जीव के उपयोग के प्रयोगानुसार यानी ज्ञान–दर्शन की पर्याय के अनुसार जो कर्मभाव होते हैं यानी जो राग–द्वेषादि भावास्रव होते हैं उनके निमित्त से नये ७ या ८ प्रकार के द्रव्यकर्म बँधते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव का उन राग–द्वेषादि पर्यायों में मैंपन नहीं होता। अभिप्राय की अपेक्षा से उसका मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभाव में ही होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव उन राग–द्वेषादि रूप उपयोग के प्रयोग का, पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इस कारण से सम्यग्दृष्टि जीव को अबन्धक कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय की अपेक्षा से अपने भावास्रव का कर्ता नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इस अपेक्षा से उसे आस्रवभाव का अभाव कहा जाता है। इसलिये उसके आस्रव भाव के अभाव में प्रत्ययों को कर्म का बन्धक नहीं कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव को समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (पुद्गलकर्म) सत्ता के रूप में विद्यमान होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव की पर्याय की अपेक्षा से कहा गया है कि उपयोग के प्रयोगानुसार यानी उदय में उपयोग के जुड़ने से भावास्रव और उसके निमित्त से द्रव्यास्रव द्वारा वे नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं। वे पूर्वबद्ध प्रत्यय सत्ता में निरुपभोग्य होते है, परन्तु फिर जैसे ही उदय के कारण उपभोग्य होते हैं वैसे ही ज्ञानी के परिणाम का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि रूप से ७–८ प्रकार से होनेवाले कर्मों को बाँधते हैं। यहाँ एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं। इसलिये इसका निराकरण करते हुए यहाँ बताया गया है कि 'वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (जीव के रागादि) के द्वारा नवीन बन्ध करते हैं।' यानी उदय में उपयोग के जुड़ने से भावास्रव और उसके निमित्त से द्रव्यास्रव द्वारा वे नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने उदाहरण दिया है कि बालिका से विवाह होने पर भी वह जब तक तरुणी नहीं हो जाती, तब तक वह उपभोग्य नहीं होती। इसी प्रकार जब तक कर्म सत्ता में हैं उदय में नहीं हैं, तब तक वे अपना प्रभाव नहीं दिखाते, उपभोग्य नहीं होते। इसलिये जब तक कर्म सत्ता में हैं, तब तक हम आत्मानुभूति द्वारा उनकी निर्जरा कर सकते हैं अथवा उन्हें परिवर्तित भी कर सकते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद भी यही साधना करनी है। बारम्बार आत्मानुभूति करते हुए और उसी में स्थित हो जाने से कर्मों की निर्जरा करते हुए क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करके आयुष्य पूर्ण होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही मोक्षमार्ग है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७७–१७८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १८४–१८५

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ।।177।।

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ।।178।।

भावानुवाद : *सम्यग्दृष्टि जीव को राग, द्वेष और मोह–ये तीन आस्रव (भावास्रव) नहीं होते इसलिये आस्रवभाव के बिना पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नहीं होते। (मिथ्यात्वादि) चार प्रकार के हेतुभूत द्रव्यप्रत्यय आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये हैं। और उनके (चार प्रकार के द्रव्यप्रत्ययों के) कारण भी जीव के रागादिभाव ही हैं इसलिये उनके (रागादिभावों के) अभाव में कर्म नहीं बँधते।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा सामान्यभाव है, इसलिये उसमें राग, द्वेष और मोह–ये तीन आस्रव (भावास्रव) नहीं होते। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव को राग, द्वेष और मोह–ये तीन आस्रव (भावास्रव) नहीं होते। इसलिये आस्रवभाव के बिना पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नहीं होते। आगे निश्चय से यानी अभिप्राय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि का स्व–स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होने से बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिभावों के अभाव में कर्म नहीं बँधते।

एक ही समय में निम्नलिखित तीन कार्य तीन अलग–अलग द्रव्यों में होते हैं–

१. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – इन चार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों (पूर्वबद्ध पुद्गलकर्मों) का उदय।
२. उसके निमित्त से आत्मा का मोह–राग–द्वेष–अज्ञान (भावास्रव या भावप्रत्यय) के रूप में परिणमन।
३. उसके निमित्त से नवीन द्रव्यप्रत्ययों (द्रव्यास्रव) के कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के नवीन पुद्गलकर्मों का बन्ध।

मिथ्यादृष्टि पूर्वबद्ध मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी कर्मों के उदय के निमित्त से मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी (भावास्रव) के रूप में परिणमन करता है और उस परिणमन के निमित्त से नवीन मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी कर्मों का आस्रव–बन्ध होता है। इसलिये बन्ध–परम्परा की अपेक्षा पूर्वबद्धकर्मों के उदय को भावास्रव का निमित्तकारण कहा जाता है तथा भावास्रव को नवीन कर्मों के आस्रव–बन्ध का निमित्तकारण कहा जाता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अपने पुरुषार्थ के द्वारा सम्यक्त्व के रूप में परिणमन करता है। इसलिये उसके जो पूर्वबद्ध मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी पुद्गलकर्मपरमाणु सत्ता में पड़े हैं वे सम्यक्त्व प्रकृति एवं अप्रत्याख्यानावरणीय में रूपान्तरित होकर उदय में आते हैं, मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी के रूप उदय में नहीं आ पाते हैं। वे सत्ता में पड़े मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी के कर्मपरमाणु चूँकि मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी के रूप में उदय में नहीं आ पाते हैं। इसलिये वे उदय में आने पर भी नवीन मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी के बन्ध के निमित्तकारण नहीं बन पाते हैं।

मिथ्यादृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि दोनों के पूर्वबद्ध मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी कर्मपरमाणु सत्ता में पड़े हैं य। मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वरूपी पुरुषार्थ न करते हुए मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी के रूप में परिणमन करता है। इसलिये उसके पूर्वबद्ध मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी कर्मपरमाणु सम्यक्त्वप्रकृति एवं अप्रत्याख्यानावरणीय में रूपान्तरित नहीं हो पाते हैं।

इसके विपरीत क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव अपने पुरुषार्थ से सम्यक्त्वरूपी परिणमन करता है। इसलिये सम्यक्त्वरूपी परिणमन के निमित्त से उसके पूर्वबद्ध मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी कर्मपरमाणु सम्यक्त्व प्रकृति एवं अप्रत्याख्यानावरणीय में रूपान्तरित होकर उदय में आते हैं।

इस प्रकार जीव के मिथ्यात्व या सम्यक्त्वरूपी परिणमन के आधार पर यह तय होता है कि पूर्वबद्ध कर्म का सत्ता में रहते हुए परिवर्तन कैसा होगा। इसलिये जीव का सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणमन (भावास्रव) पूर्वबद्ध कर्म के सत्ता में रहते हुए परिवर्तन का निमित्तकारण भी बनता है। और जब उन पूर्वबद्धकर्मों का उदय होता है तब उनका निमित्त पाकर जीव के नवीन भाव होते हैं। उस नवीन भाव के निमित्त से नवीन कर्मों का बन्ध होता है।

मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी का उदय होने से मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबँधी का ही आस्रव–बन्ध होता है तथा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरणीय

का उदय होने से अप्रत्याख्यानावरणीय का ही आस्रव–बन्ध होता है। इस अपेक्षा से पूर्वबद्धकर्मों का उदय नवीन कर्मों के आस्रव–बन्ध का उपचार से कारण कहा जा सकता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव को अप्रत्याख्यानावरणीय के साथ–साथ सम्यक्त्व प्रकृति का उदय भी होता है, परन्तु वह अबन्धक प्रकृति होने से उसके उदय के निमित्तकारण से जीव के ऐसे भाव नहीं होते कि जिनसे दर्शनमोहनीय का कोई नवीन आस्रव–बन्ध हो।

यहाँ पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों को नवीन कर्मों के बन्ध के कारण कहे हैं—यह उपचार कथन है। पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से होनेवाले मोह–राग–द्वेष रूप भावास्रव कहे गये हैं, क्योंकि पुराने कर्मों के उदय का जीव के वर्तमान भाव के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है और उसके कारण पुराने कर्मों के उदय के निमित्त से जीव अपने वर्तमान परिणाम करता है। जीव के उस वर्तमान परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गलरूप नवीन द्रव्यप्रत्यय नवीन आठ कर्म बाँधते हैं।

यही बात समयसार ग्रन्थ की गाथा ८०–८१ में इस प्रकार बतायी गयी है 'जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्गलकर्मवर्गणाएँ कर्म बनती हैं। इसी प्रकार जीव भी पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिभाव रूप से परिणमता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता। इसी प्रकार कर्म जीव के गुणों को नहीं करता परन्तु वे दोनों एक–दूसरे के निमित्त से परिणमते हैं, ऐसा जानो।'

आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा ९१ में भी बताया गया है कि 'आत्मा जिस भाव को करती है, वह उस भाव की कर्ता होती है। तब पुद्गलद्रव्य (आत्मा के भाव का निमित्त पाकर) स्वयं कर्मरूप परिणत होता है।'

आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा १३२–१३६ में भी बताया है कि 'अज्ञान के उदय (के निमित्त) से जीवों को अतत्त्व की उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व के उदय (के निमित्त) से जीवों को अश्रद्धान होता है। असंयम के उदय (के निमित्त) से जीवों में अविरति होती है। (जीवों का) जो कषायरंजित उपयोग है, वह जीवों के कषाय का उदय है। योग के उदय (के निमित्त) से जीवों के चित्त में शुभ और अशुभ में प्रवृत्ति या विरति के प्रति उत्साह जानो। इन हेतुओं (निमित्तों) से कर्मवर्गणा के रूप में आया हुआ (पुद्गलद्रव्य) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप में परिणमता है। जब वह कर्मवर्गणा के रूप में आया हुआ (पुद्गलद्रव्य) जीव से (कर्म के रूप में) बँधता है, तब जीव के परिणाम भाव उस कर्मबन्धन में निमित्त बनते हैं।'

आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा १३८ में भी बताया है कि 'यदि अकेले पुद्गलद्रव्य का ही कर्म के रूप में परिणमन होता है तो क्या जीव के (रागादि) भाव के हेतु के बिना ही कर्म के रूप में परिणमन होता है?'

आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा १४० में भी बताया है कि 'यदि अकेले जीव का ही रागादि के रूप में में परिणमन होता है तो कर्मोदय के हेतु के बिना ही जीव का (रागादि के रूप में में) परिणमन होता है क्या?'

पुनः समयसार ग्रन्थ की गाथा १६४-१६५ में भी बताया है कि 'मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग यह आस्रव संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं तथा असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं। जीव के विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) नवीन ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं। जीव के राग-द्वेष आदि भाव उनके निमित्तकारण होते हैं।' इस प्रकार आत्मा का पुद्गलकर्मों के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

इसी लिये आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा १७० में भी बताया गया है कि 'चूँकि चार प्रकार के द्रव्यास्रव ज्ञान-दर्शनगुणों के द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के कर्म बाँधते हैं, इसलिये ज्ञानी तो अबन्धक है।' ज्ञानी अबन्धक है परन्तु उसके ज्ञान-दर्शनगुणों की पर्याय का निमित्त पाकर समय-समय पर अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं।

आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा १७२ में भी बताया है कि 'चूँकि दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमन करता है, इसलिये ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।' पर्याय की अपेक्षा से ज्ञानी के दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमन करते हैं। इसलिये, ज्ञानी के उस परिणमन के निमित्त से वह अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है। ज्ञानी को द्रव्य में मैंपन है उस अपेक्षा से वह अबन्धक है और पर्याय की अपेक्षा से ज्ञानी भी गुणस्थान के अनुसार बन्धक है। यही बात इस गाथा में अलग ढंग से बतायी है।

आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा १७३-१७४ में भी बताया है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव के समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (पुद्गलकर्म) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (जीव के रागादि) के द्वारा नवीन बन्ध करते हैं। वे प्रत्यय निरुपभोग्य होकर फिर जैसे ही उपभोग्य होते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि रूप से ७ - ८ प्रकार से होनेवाले कर्मों को बाँधते हैं।'

ज्ञानी को समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (पुद्गलकर्म) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार यानी उदय में उपयोग के जुड़ने से भावास्रव और उसके निमित्त से द्रव्यास्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) द्वारा नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं। वे पूर्वबद्ध प्रत्यय सत्ता में निरुपभोग्य होते हैं, परन्तु फिर जैसे ही उदय के कारण उपभोग्य होते हैं वैसे ही ज्ञानी के परिणाम का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि रूप से ७–८ प्रकार से होनेवाले कर्मों को बाँधते हैं। यही बात इस गाथा में अलग ढंग से बतायी गयी है।

कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के जो भी परिणाम (भावकर्म) होते हैं, उनके निमित्त से नये द्रव्यकर्म बँधते है, उन परिणामों को नये द्रव्यास्रव में निमित्त होने की वजह से भावास्रव भी कहा जाता है। यही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वह सत्य है, जिसे कुछ अज्ञानी निश्चयवादी लोग नहीं मानते। चूँकि समयसार अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इन भावास्रवों को निश्चय से पुद्गल परिणाम या द्रव्यप्रत्यय भी बताया जाता है। यह समझना आवश्यक है। जैसे कि समयसार ग्रन्थ की गाथा १०९–११२ में बताया गया है कि 'वास्तव में बन्ध के चार सामान्य प्रत्यय कहे गये हैं। उन्हें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानें। पुनः उनके तेरह भेद कहे गये हैं। वे प्रथम मिथ्यादृष्टि से सयोगी (केवली गुणस्थान) के अन्त तक हैं। ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय से अचेतन हैं, क्योंकि वे पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। यदि वे कर्म करते हैं तो उन कर्मों की भोक्ता भी आत्मा नहीं है, क्योंकि वे गुणस्थान नामक प्रत्यय कर्म करते हैं। इसलिये जीव कर्मों का कर्ता नहीं है और गुणस्थान नामक प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं।' आगे समयसार ग्रन्थ की गाथा ११३–११५ में भी क्रोध को आत्मा से अन्य बताया गया है जैसे कि प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से अन्य हैं। इन गाथाओं में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय से अचेतन हैं, क्योंकि वे पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। आगे क्रोध को भी प्रत्यय, कर्म और नोकर्म की भाँति आत्मा से अन्य बताया गया है। ये सभी कथन निश्चयनय की अपेक्षा से हैं। इससे एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं। संज्ञ आस्रव असंज्ञ आस्रव के लिये निमित्त बनते हैं और उस असंज्ञ आस्रव के कारण नया कर्मबन्ध होता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि 'मिथ्यात्वादि चार प्रकार के द्रव्यप्रत्यय (असंज्ञ आस्रव) आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये हैं।'

कई लोग इस गाथा का अर्थघटन इस प्रकार करते हैं कि चार प्रकार के पुराने द्रव्य प्रत्यय आठ प्रकार के नवीन कर्मों के बन्ध का कारण हैं, जीव नवीन कर्मों के बन्ध के लये उत्तरदायी नहीं है। उन्हें यह पता होना चाहिये कि यदि पुराने कर्मों को ही नवीन कर्मों के बन्ध का कारण माना जायेगा तो जीव कभी मुक्त नहीं हो पायेगा। जीव अपने भावों के निमित्त से पुराने कर्म को सत्ता में रहते हुए ही परिवर्तित कर सकता है, उसके अनुबन्ध बदल सकता है और दूसरे, जब पुराने कर्म उदय में आते हैं तब भी जीव प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र होता है। इसलिये वह अपने भावों के निमित्त से पुराने कर्मों को सत्ता में रहते हुए ही परिवर्तित करता है, उनके अनुबन्ध बदलता है और उन कर्मों के उदय के समय अपनी प्रतिक्रिया संयमित रखकर पुराने कर्मों से छूटता है और आगे सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीव के भाव अर्थात् भावकर्म अथवा भावास्रव कर्मों के बन्ध तथा कर्मों की निर्जरा, दोनों में ही निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्वमूलक मोह–राग–द्वेष होते नहीं हैं और जो मोह–राग–द्वेष होते हैं उनमें उसका मैंपन नहीं होता, क्योंकि उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा अर्थात् द्रव्य में ही होता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय की अपेक्षा से अपने भावास्रव का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये इन गाथाओं में सम्यग्दृष्टि जीव को मोह–राग–द्वेषरूपी भावास्रव का अभाव बताया गया है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में भावास्रव का अभाव होने से पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों का जो उदय है वह नवीन आस्रव–बन्ध का कारण नहीं होता – ऐसा कहा जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १७९–१८० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १८६–१८७

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ।।179।।

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा।।180।।

भावानुवाद : *जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि के संयोग से मांस, चर्बी, रुधिर आदि विविध घटकों में परिणत हो जाता है, वैसे ही ज्ञानियों के पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यप्रत्यय) अनेक प्रकार के द्रव्यकर्म बाँधते हैं। (कर्म बाँधनेवाले) जीव शुद्धनय से च्युत हैं।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन उस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। वह सामान्यभाव होने से उसमें राग, द्वेष और मोह, ये तीन आस्रव (भावास्रव) नहीं होते। इस अपेक्षा से यहाँ बताया है कि ज्ञानियों के पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यप्रत्यय) अनेक प्रकार के द्रव्यकर्म बाँधते हैं। वास्तव में पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यप्रत्यय) और नवीन कर्मबन्ध के बीच न कारण–कार्य सम्बन्ध है और न ही प्रत्यक्षरूप से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये यह उपचरित कथन है।

जिस प्रकार उदराग्नि का सद्भाव होने पर पुरुष द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार मांस, चर्बी, रुधिर आदि के निर्माण का कारण बनता है उसी प्रकार अज्ञानी के भावास्रव में मैंपन का सद्भाव होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों के उदय के निमित्तकारण से हुए अज्ञान, अविरति, कषाय और योग के परिणाम नवीन आस्रव–बन्ध के कारण बनते हैं। तथा जिस प्रकार उदराग्नि का अभाव होने पर पुरुष द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उसके शरीर में मांस, चर्बी, रुधिर आदि के निर्माण का कारण नहीं बनता उसी प्रकार ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से भावास्रव का अभाव होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों का उदय नवीन आस्रव–बन्ध का कारण बनता है—ऐसा कहा जाता है।

ज्ञानी के मिथ्यात्वमूलक मोह–राग–द्वेष होते नहीं हैं और जो मोह–राग–द्वेष होते हैं उनमें उसका मैंपन नहीं होता क्योंकि उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा अर्थात् द्रव्य में ही होता है। अभिप्राय की अपेक्षा से उसका मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभाव में ही होता है। इस अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी में मोह–राग–द्वेषरूपी भावास्रवों का अभाव है। अतः यहाँ ज्ञानी के उन भावास्रवों को गौण करके यह बताया गया है कि ज्ञानियों के पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यप्रत्यय) अनेक प्रकार के द्रव्यकर्म बाँधते हैं–यह उपचरित कथन है।

वास्तव में देखा जाये तो ज्ञानी को भी गुणस्थान के अनुसार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से भावास्रव होते हैं। उस भावास्रव का निमित्त पाकर नवीन आस्रव–बन्ध भी होते हैं। परन्तु ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से उन भावास्रवों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं होता। परन्तु जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो जाता है तब उसमें मिथ्यात्वमूलक मोह–राग–द्वेष (भावास्रव) का सद्भाव होता है। तब वह भावास्रव का कर्ता बनता है। इसलिये उसे कर्म बाँधनेवाला कहा है और शुद्धनय से च्युत कहा है।



आस्रव अधिकार का उपसंहार

मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग यह आस्रव संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं तथा असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं। जीव के विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं। जीव के राग-द्वेष आदि भाव उनके निमित्तकारण होते हैं। अनादि से जीव कर्मोदय के निमित्त से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप अपने परिणाम करता है। इन आत्मा के परिणामों (संज्ञ आस्रव) के निमित्त से पुद्गलकर्मवर्गणा (असंज्ञ आस्रव) नये कर्म के रूप से बँधती है।

अनादि से जीव और कर्म का जो उपरोक्त निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है, वह नित्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जीव का मोक्ष सम्भव है। जब आत्मा वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करती है, तब उसे शुद्धात्मा का अनुभव होता है। फिर सहज रूप से जीव कालक्रम से और अपने पुरुषार्थ से आत्मस्थिरता प्राप्त करता हुआ क्षपकश्रेणी चढ़कर केवली बनता है और आयुक्षय पर वह मोक्ष को प्राप्त करता है। यही मोक्षमार्ग है।

समयसार शास्त्र आध्यात्मिक शास्त्र होने के कारण यहाँ सिर्फ़ जीव के सामान्यभाव का ही कथन है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को सिर्फ़ उस भाव में ही मैंपन है। ज्ञानसामान्यभाव परम अकर्ता भाव है, उसमें आस्रव-बन्ध नहीं होता। इसलिये ज्ञानी को आस्रव-निरोध होता है, अबन्धत्व है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव को आस्रव-बन्ध नहीं होता, उसे आस्रव-निरोध होता है। इसलिये यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव के विशेषभाव को गौण रखा गया है। पर्यायअपेक्षा से सम्यग्दृष्टि जीव को भी कर्मोदय के निमित्त से विभाव परिणति होती है और उसके निमित्त से गुणस्थान के अनुसार नये कर्मों का आस्रव-बन्ध भी होता है। अतएव किसी को भी यह बात एकान्त से ग्रहण नहीं करनी चाहिये।

निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है और शुद्धात्मा रागादि से मुक्त भाव है। अतः वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। उस अपेक्षा से ज्ञानी को अबन्धक कहा गया है। जबकि अज्ञानी का मैंपन और मेरापन पर्याय में होता है और उसकी पर्याय रागादि युक्त होती है। इसलिये उस अपेक्षा से अज्ञानी को बन्धक कहा है।

जीव के मिथ्यात्व आदि सभी पूर्वबद्ध समस्त द्रव्यप्रत्यय (पुद्गलकर्म) कार्मण शरीर से बँधे हुए होते हैं, आत्मा के साथ नहीं। ज्ञानी को भेदज्ञान पूर्वक आत्मानुभूति हो गयी है। इसलिये उन पूर्वबद्ध समस्त द्रव्यप्रत्ययों (पुराने संज्ञ आस्रवों के निमित्त से हुए असंज्ञ आस्रवों से बँधे द्रव्यकर्मों) को पृथ्वीपिण्ड यानी मिट्टी के ढेले के समान बताया गया है, क्योंकि दोनों एक ही पुद्गल जाति के है।

ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। अतएव उसके ज्ञान–दर्शनगुणों की पर्यायों के द्वारा जो भी आस्रव होता है, ज्ञानी उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अपेक्षा से ज्ञानी के ज्ञान–दर्शनगुण की पर्याय कर्मोदय के निमित्त से विभाव रूप से परिणत होती है, उसके निमित्त से ज्ञानी को गुणस्थान के अनुसार समय–समय पर अनेक प्रकार के कर्म बँधते है। परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी उस पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। इसलिये ज्ञानी को यहाँ अबन्धक कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव को समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (पुद्गलकर्म) सत्ता के रूप में विद्यमान होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव की पर्याय की अपेक्षा से कहा गया है कि उपयोग के प्रयोगानुसार यानी उदय में उपयोग के जुड़ने से भावास्रव और उसके निमित्त से द्रव्यास्रव द्वारा वे नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं। वे पूर्वबद्ध प्रत्यय सत्ता में निरुपभोग्य होते हैं फिर जैसे ही उदय के कारण उपभोग्य होते हैं वैसे ही ज्ञानी के परिणाम का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि रूप से ७–८ प्रकार से होनेवाले कर्मों को बाँधते हैं। यहाँ एकान्त से ऐसा नहीं समझना है कि पुराने द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यकर्म) नये कर्मों को बाँध रहे हैं। इसलिये इसका निराकरण करते हुए यहाँ बताया गया है कि 'वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (जीव के रागादि) के द्वारा नवीन बन्ध करते हैं।' यानी उदय में उपयोग के जुड़ने से भावास्रव और उसके निमित्त से द्रव्यास्रव द्वारा वे नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं।

आत्मा जिस भाव को करती है वह उस भाव की कर्ता होती है। तब पुद्गलद्रव्य आत्मा के भाव का निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप परिणत होता है। यदि अकेले पुद्गलद्रव्य का ही कर्म के रूप में परिणमन होता है तो क्या जीव के रागादिभावस्वरूप हेतु के बिना ही उनका कर्मरूप परिणमन होता है? नहीं होता। और यदि अकेले जीव का ही रागादि के रूप में में परिणमन होता है तो कर्मोदय के हेतु के बिना ही जीव का रागादि के रूप में में परिणमन होता है क्या? नहीं होता। इसी से सभी को जीव और कर्म का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध समझ में आना चाहिये। इस अधिकार में एकान्त से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को नकारनेवाले मत को निरस्त कर दिया गया है।

मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग यह आस्रव संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं तथा असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं। जीव के विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानावरणादि नवीन कर्मों के कारण हैं। जीव के राग–द्वेष आदि भाव उनके निमित्तकारण होते हैं। इस प्रकार आत्मा का पुद्गलकर्मों के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है, पर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

ज्ञानी तो अबन्धक है क्योंकि चार प्रकार के द्रव्यास्रव ज्ञान–दर्शनगुणों के द्वारा समय–समय पर अनेक प्रकार के कर्म बाँधते हैं। ज्ञानी अबन्धक तो है परन्तु उसके ज्ञान–दर्शनगुणों की पर्याय का निमित्त पाकर समय–समय पर अनेक प्रकार के कर्म बँधते है।

चूँकि दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमन करते हैं, इसलिये ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है। पर्यायअपेक्षा से ज्ञानी के दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमन करते हैं। इसलिये ज्ञानी के उस परिणमन के निमित्त से वह अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है। द्रव्य में मैंपन की अपेक्षा से ज्ञानी अबन्धक है लेकिन पर्याय की अपेक्षा से ज्ञानी भी अपने गुणस्थान के अनुसार बन्धक है। ज्ञानी के समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय (पुद्गलकर्म) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार यानी उदय में उपयोग के जुड़ने से भावास्रव और उसके निमित्त से द्रव्यास्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) द्वारा नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं।

दूसरे, यह अध्यात्मग्रन्थ होने से यहाँ सिर्फ़ शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। इसलिये भावास्रव को गौण करके पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों को आठ कर्मों के बन्ध का कारण बताया गया है – यह उपचरित कथन है। वास्तव में असंज्ञ आस्रव (नवीन द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं।

जीव के मिथ्यात्व या सम्यक्त्वरूपी परिणमन के आधार पर यह तय होता है कि पूर्वबद्ध कर्मों का सत्ता में रहते हुए परिवर्तन कैसा होगा। इसलिये जीव का सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूपी परिणमन (भावास्रव) पूर्वबद्ध कर्मों के सत्ता में रहते हुए परिवर्तन का निमित्तकारण बनता है। और जब उन पूर्वबद्ध कर्मों का उदय होता है तब उनका निमित्त पाकर जीव के नवीन भाव होते हैं। उन नवीन भावों के निमित्त से नवीन कर्मों का बन्ध होता है।

एक ही समय में निम्नलिखित तीन कार्य तीन अलग–अलग द्रव्यों में होते हैं–

१. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—इन चार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों (पूर्वबद्ध पुद्गलकर्मों) का उदय।
२. उसके निमित्त से आत्मा का मोह–राग–द्वेष–अज्ञान (भावास्रव या भावप्रत्यय) के रूप में परिणमन।
३. उसके निमित्त से नवीन द्रव्यप्रत्ययों (द्रव्यास्रव) के कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के नवीन पुद्गलकर्मों का बन्ध।

यदि कोई पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय को ही ग़लत अर्थघटन के कारण आठ कर्मों के बन्ध का कारण मानता है तो जीव का कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता, क्योंकि चार प्रकार के हेतुभूत द्रव्यप्रत्यय आठ प्रकार के कर्मों को बाँधते रहने से कर्मों का कभी अभाव ही नहीं होगा। उन्हें यह पता होना चाहिये कि यदि पुराने कर्मों को ही नवीन कर्मों के बन्ध का कारण माना जायेगा तो वह जीव कभी मुक्त नहीं हो पायेगा।

एक तो जीव अपने भावों के निमित्त से पुराने कर्मों को सत्ता में रहते हुए ही परिवर्तित कर सकता है, उनके अनुबन्ध बदल सकता है और दूसरे, जब पुराने कर्म उदय में आते हैं तब जीव प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र होता है। इसलिये वह अपने भावों के निमित्त से पुराने कर्मों को सत्ता में रहते हुए ही परिवर्तित करता है, उनके अनुबन्ध बदलता है और उन कर्मों के उदय के समय अपनी प्रतिक्रिया संयमित रखकर पुराने कर्मों से छूटता है और आगे सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार जीव के भाव अर्थात् भावकर्म अथवा भावास्रव कर्मों के बन्ध तथा कर्मों की निर्जरा, दोनों में ही निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्वमूलक मोह–राग–द्वेष नहीं होते हैं और जो मोह–राग–द्वेष होते हैं उनमें उसका मैंपन नहीं होता क्योंकि उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभाव रूप शुद्धात्मा अर्थात्

द्रव्य में ही होता है। इसलिये निश्चय से सम्यग्दृष्टि जीव को मोह–राग–द्वेषरूपी भावास्रवों का अभाव है—ऐसा कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव को निश्चय से भावास्रव का अभाव (यानी भावास्रव में मैंपन का अभाव) होने से उसे द्रव्यप्रत्ययों के उदय में नवीन कर्मबन्ध नहीं होता – ऐसा कहा जाता है। इसके विपरीत अज्ञानी के भावास्रव का सद्भाव (यानी भावास्रव में मैंपन) होने से उसे द्रव्यप्रत्ययों के उदय में नवीन कर्मबन्ध होता है।

जिस प्रकार उदराग्नि का सद्भाव होने पर पुरुष द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार मांस, चर्बी, रुधिर आदि के निर्माण का कारण बनता है उसी प्रकार अज्ञानी के भावास्रव में मैंपन का सद्भाव होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों के उदय के निमित्तकारण से हुए अज्ञान, अविरति, कषाय और योग के परिणाम नवीन आस्रव–बन्ध के कारण बनते हैं। तथा जिस प्रकार उदराग्नि का अभाव होने पर पुरुष द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उसके शरीर में मांस, चर्बी, रुधिर आदि के निर्माण का कारण नहीं बनता उसी प्रकार ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से भावास्रव का अभाव होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों का उदय नवीन आस्रव–बन्ध का कारण बनता—ऐसा कहा जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनके निमित्त से जीव को भावास्रव होता है। उन भावास्रवों के निमित्त से नवीन कर्मों का आस्रव–बन्ध होता है। इस प्रकार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों को नवीन कर्मों के आस्रव–बन्ध का उपचार से हेतु कहा है। आत्मा के भावों से भिन्न पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म या नवीन द्रव्यकर्म पुद्गल रूप होने के कारण इनको ही द्रव्यप्रत्यय कहते हैं।

वास्तव में देखा जाये तो ज्ञानी को भी गुणस्थान के अनुसार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से भावास्रव होते हैं। उस भावास्रव का निमित्त पाकर नवीन आस्रव–बन्ध भी होते हैं। परन्तु ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से उन भावास्रवों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं होता। परन्तु जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो जाता है तब उसके मिथ्यात्वमूलक मोह–राग–द्वेष (भावास्रव) का सद्भाव होता है। तब वह भावास्रव का कर्ता बनता है, तब उसे कर्म बाँधनेवाला कहा जाता है और शुद्धनय से च्युत कहा जाता है।

संवर अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १८१-१८३ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १८८-१९०

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ।।181।।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।।182।।

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ।।183।।

भावानुवाद : *उपयोग उपयोग में है। क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है, क्रोध क्रोध में ही है। निश्चय से उपयोग में क्रोध नहीं है। आठ प्रकार के कर्मों में और नोकर्मों में भी उपयोग नहीं है। उपयोग में कर्म तथा नोकर्म नहीं होते हैं। ऐसा अविपरीत ज्ञान (शुद्धात्मानुभूति) जब जीव को होता है तो वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब वह जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्य उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में ही होता है, द्रव्य में ही होता है, पर्याय में नहीं। यहाँ बताये गये जीव के क्रोधादिभाव पर्याय में ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। इस उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा की अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि उपयोग तो उपयोग में ही है, यानी क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है। अर्थात् आत्मानुभूति में क्रोधादि भाव नहीं होते।

आत्मानुभूति ही शुद्धनय है यानी आत्मानुभूति से ही निश्चय प्रकट होता है और वह आत्मानुभूति परम पारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा की होती है। इसलिये निश्चय से आत्मा सिर्फ़ परम पारिणामिकभाव रूप परम अकर्ताभावरूप कही जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव को वह आत्मा कभी–कभी शुद्धोपयोग के रूप में अनुभव में आती है और बाकी समय में लब्धिरूप से मैंपन अपेक्षा से अभिप्राय में होती है। आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा समझाने के लिये यानी दृष्टि का विषय समझाने के लिये ही यहाँ क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है और क्रोध क्रोध में ही है, निश्चय से उपयोग में क्रोध नहीं है – यह बताया है। और आगे बताया गया है कि उपयोग में कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं, ऐसा अविपरीत ज्ञान (शुद्धात्मानुभूति) जब जीव को होता है तो वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता, क्योंकि आत्मानुभूति में क्रोधादि भाव, कर्म तथा नोकर्म से भेदज्ञान हो जाता है। इसे अन्यथा या एकान्त से ग्रहण नहीं करना, नहीं तो अनन्त दुःखों से कोई बचा नहीं पायेगा।

आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग से अनन्य है परन्तु क्रोध आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा से अनन्य नहीं है। क्योंकि क्रोध आत्मा की कर्मों के निमित्त से होनेवाली विभाव पर्याय है और आत्मानुभूति में विभाव पर्याय गौण हो जाती है। इसलिये जैसे आत्मा और उपयोग आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा में अनन्य हैं, वैसे क्रोध आत्मानुभूति में नहीं होने के कारण आत्मानुभूतिस्वरूप आत्मा से अनन्य नहीं है।

आचार्यश्री बताते हैं कि क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है। अर्थात् आत्मानुभूतिरूपी निश्चय में क्रोध नहीं है। आगे बताते हैं कि आठ प्रकार के कर्मों और नोकर्मों में उपयोग नहीं है। कर्म तथा नोकर्म पुद्गल की पर्यायें हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को उनमें मैंपन नहीं होता। सम्यग्दृष्टि का मैंपन सिर्फ़ उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये कहा गया है कि उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में कर्म एवं नोकर्म नहीं होते।

आगे सम्यग्दर्शन का विषय बताते हुए कहते हैं कि जब कोई भी जीव अपनी उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में मैंपन करता है तथा उसकी अनुभूति करता है, तब वह उपयोग के अलावा अन्य कोई भाव नहीं करता। अन्य कोई भाव आत्मानुभूति में नहीं होता, क्योंकि वह आत्मानुभूति निर्विकल्प होती है। जब सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धोपयोग से बाहर आता है, तब भी उसका मैंपन शुद्धात्मा में ही होता है, अन्य किसी भी भाव में नहीं। क्योंकि जब तक जीव का सम्यग्दर्शन मौजूद है, तब

तक उस जीव को उपयोगस्वरूप शुद्धोपयोग रूप से या लब्धस्वरूप प्रतीति रूप से शुद्धात्मा में मैंपन रहता ही है। इसलिये कहा गया है कि वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करती।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १८४–१८५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १९१–१९२

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ।।184।।

एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ।।185।।

भावानुवाद : *जैसे स्वर्ण अग्नि में तपकर भी अपना स्वर्णत्व नहीं छोड़ता वैसे ही ज्ञानी कर्म के उदय में तपकर भी ज्ञानित्व को नहीं छोड़ता। ज्ञानी ऐसा (स्वयं को ज्ञानमात्र यानी द्रव्यरूप) जानता है और अज्ञानी अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने से आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ राग (पर्याय) को ही आत्मा मानता है।*

टीका : जब स्वर्ण को अग्नि से तपाया जाता है, तब भी वह अपना स्वर्णत्व नहीं छोड़ता, बल्कि उसमें रही अशुद्धि दूर हो जाती है। वैसे ही ज्ञानी कर्मोदय के कारण उत्पन्न हुए संयोगों से अविचलित रहकर अपना मैंपन ज्ञानसामान्यभाव अर्थात् शुद्धात्मा में ही रखता है। इस प्रकार वह अपना ज्ञानित्व नहीं छोड़ता है। बल्कि वह तो समताभावपूर्वक कर्मों को भोगकर कर्मों से मुक्ति पाता है। इस प्रकार ज्ञानी स्वयं को ज्ञानमात्र भाव अनुभव करता है।

परन्तु अज्ञानी जीव को शुद्धात्मा की अनुभूति न होने के कारण अपने को जीव और अजीव की मिली–जुली पर्याय के रूप में जानता है। अर्थात् स्वयं को अज्ञानवश देह मानता हुआ रागादियुक्त मानता है। इस प्रकार वह स्वयं को रागादि विशेषभावस्वरूप (पर्यायस्वरूप) ही मानता है।

यहाँ आचार्यश्री ने ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, फिर भी पंचम काल की विडम्बना यह है कि अनेक लोग ग़लत अर्थघटन के कारण अज्ञानी को भी ज्ञानी के समान स्वयं को मात्र बौद्धिकरूप से ज्ञानमात्र शुद्धात्मा मानने का उपदेश देते हैं जो निश्चयाभासरूपी भ्रम में ले जाता है, जो आत्मप्राप्ति में बाधक है।

इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये, इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १८६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १९३

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ।।186।।

भावानुवाद : *शुद्धात्मा को जानता एवं अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्धात्मा को जानता (अनुभव करता) हुआ जीव अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख हो जाता है और आगे आत्मानुभूति करता है अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता है, वह जीव सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही मैंपन करता है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि शुद्धात्मा को जाननेवाला एवं उसका अनुभव करनेवाला जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। वह शुद्धात्मा से ही मैंपन करता है। ऐसे जीव को ही ज्ञानी कहते हैं।

परन्तु इस गाथा को पढ़कर ग़लत अर्थघटन के कारण अज्ञानी को यह भ्रम हो जाता है कि यदि मैं अपने आप को अशुद्ध जानूँगा तो अशुद्धात्मा को प्राप्त करूँगा और यदि बौद्धिकरूप से शुद्ध जानूँगा तो शुद्धात्मा को प्राप्त करूँगा। इसलिये वह ग़लत अर्थघटन के कारण अपने आप को बौद्धिकरूप से ही शुद्ध जानने और मानने लग जाता है। चूँकि अज्ञानी के पास सिर्फ़ पर्यायदृष्टि ही है। इसलिये वह अपने को भ्रमवश पर्याय में ही शुद्ध मानने लग जाता है और उस ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। वस्तुतः आत्मा द्रव्यदृष्टि से त्रैकालिक रूप से शुद्ध है पर अज्ञानी के पास वह द्रव्यदृष्टि नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रकट होती है। अज्ञानी पर्यायदृष्टि ही होता है। इसलिये यहाँ आचार्यश्री जो स्वयं को शुद्ध जानने का उपदेश दे रहे है वह द्रव्यदृष्टि प्रकट करके उसके माध्यम से शुद्ध जानने का उपदेश दे रहे हैं, क्योंकि द्रव्यदृष्टि प्रकट किये बिना अज्ञानी के लिये शुद्धात्मा को जानने और अनुभव करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

इससे बहुत स्पष्ट होता जाता है कि शुद्धात्मा को पाने की एक ही विधि है—आत्मानुभूति। उसे बौद्धिकरूप से शब्दों से प्राप्त नहीं किया जा सकता यानी वैसा करना यहाँ अपेक्षित नहीं है। अनादि से हमने शुद्धात्मा को कई बार शब्दरूप से ग्रहण किया है परन्तु उसका कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं मिला, क्योंकि सम्यग्दर्शन ही नहीं मिला, मोक्ष तो दूर की बात है। इसलिये सभी को इस जीवन में एकमात्र शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये ही वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करने का, और उसके द्वारा पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने के लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये। सिर्फ़ वाचा ज्ञान से यह लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, उसके लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ और आत्मसन्मुखता आवश्यक हैं। अज्ञानी को ज्ञानसामान्यभाव का अनुभव नहीं होता। उसे सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होता है। पर्याय अभी अशुद्ध होने के कारण उसे अशुद्धात्मा का ही अनुभव होता है, उसी की प्राप्ति होती है। यही बात यहाँ कही गयी है। इतना स्पष्ट बताने के बावजूद भी कई निश्चयाभासी जीव पूछते रहते हैं कि निश्चय से यानी स्वरूप से तो मैं शुद्ध ही हूँ ना? उन्हें यह पता नहीं होता कि निश्चयदृष्टि यानी स्वरूपदृष्टि तो चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रकट होती है। अज्ञानी तो पर्यायदृष्टि ही होता है। इसलिये उसे निश्चयनय या निश्चयदृष्टि या स्वरूपदृष्टि प्रकट नहीं हुई है। यही बात आचार्यश्री ने यहाँ दूसरे शब्दों में बतायी है।

आचार्यश्री ने ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, फिर भी पंचम काल की विडम्बना यह है कि ग़लत अर्थघटन के कारण अनेक लोग अज्ञानी को भी ज्ञानी के समान बौद्धिकरूप से स्वयं को सिर्फ़ ज्ञानमात्र शुद्धात्मा मानने का उपदेश देते हैं।

शुद्धात्मा का अनुभव बिना आत्मानुभूति के नहीं होता। अज्ञानी को अशुद्धात्मा का ही अनुभव होता है। फिर भी यदि कोई भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा मानता हो और उसी ख़ुशफ़हमी में रहता हो तो वह अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मार रहा है अर्थात् भ्रम पालकर अपना ही अनन्त दुःखमय संसार बढ़ा रहा है। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १८७-१८९ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १९४-१९६

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ।।187।।

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।।188।।

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ।।189।।

भावानुवाद : *जो जीव पुण्यपापरूपी (शुभाशुभ) दो योगों को रोककर, पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मा को आत्मा के द्वारा ज्ञान-दर्शन में स्थित करता है; (अभिप्राय की अपेक्षा से) सर्वसंग से मुक्त होकर आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है—कर्म और नोकर्म का नहीं; जो अपनी चेतना से एकत्व का अनुभव करता हुआ दर्शन-ज्ञानमय यानी (शुद्धात्मा से) अनन्यमय होता है, वह अल्पकाल में ही कर्मरहित आत्मा को प्राप्त कर लेता है।*

टीका : जो जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख हो जाता है और आगे आत्मानुभूति करता है अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता है, वह जीव सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही मैंपन करता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इस प्रकार वह अभिप्राय की अपेक्षा से सर्वसंग से मुक्त कहा जाता है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि वैसा आत्मा सर्वसंग के राग के राग से मुक्त होकर आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है- कर्म और नोकर्म का नहीं। जो अपनी चेतना से एकत्व का अनुभव करता हुआ दर्शन-ज्ञानमय यानी (शुद्धात्मा से) अनन्यमय होता है, वह अल्पकाल में ही कर्मरहित आत्मा को प्राप्त कर लेता है। यहाँ निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र बताये गये हैं।

अनादि काल से आत्मा कर्मों से बँधी हुई है। अज्ञानवश कर्मों से एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने के कारण आत्मा संसार में अनन्त दुःखों को भोगती हुई भटक रही है। जब वही आत्मा वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर, पर में सुखेच्छा छोड़कर, आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति करती है,

तब उसे ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा अनुभव में आती है। इसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यक् ज्ञान कहते हैं तथा उस शुद्धात्मा से अनन्यमय होने को ही सम्यक् चारित्र कहा जाता है।

आगे चलकर वही जीव शुद्धात्मा में स्थिर रहने का पुरुषार्थ करता है और आत्मस्थित होकर क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्रकट करता है। जब उसकी आयु पूर्ण होती है, तब वह कर्मरहित आत्मा को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यही भाव इन गाथाओं में व्यक्त किया गया है।

यहाँ जो पुण्यपापरूपी सभी शुभाशुभ योगों को रोकने की बात कही गयी है उसे इस अपेक्षा से समझना चाहिये कि साधक का एकमात्र लक्ष्य शुद्धात्मा की अनुभूति की प्राप्ति ही होता है, यानी शुद्धोपयोग ही लक्ष्य होता है, पुण्य–पापरूप शुभाशुभ उपयोग लक्ष्य नहीं होता। इसलिये जिसका लक्ष्य पुण्यपापरूपी शुभाशुभ भाव है उसका लक्ष्य शुद्धात्मानुभूतिरूपी शुद्धोपयोग न होने से वह शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये कोई पुरुषार्थ करता ही नहीं। इसलिये सभी साधकों का एकमात्र लक्ष्य शुद्धोपयोग ही होना चाहिये। परन्तु हाँ, जब तक उन्हें शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से रहना तो शुभोपयोग में ही है, अशुभोपयोग में नहीं।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता बताते हुए कहते हैं कि जो साधक समस्त पर की सुखेच्छा से विरत होता है वही आत्मसन्मुख होता है। इसलिये ऐसा साधक कर्म–नोकर्म (शरीर का कोई अंग, श्वास, कोई बिन्दु, शरीर के स्पन्दन आदि) का ध्यान न करके अपने चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति कर उसका ध्यान करता है, और अपने अभिप्राय में सर्वसंग के राग के राग से मुक्त होता है। वह अपने ज्ञानसामान्यभाव से एकत्व करता हुआ, उसी का ध्यान करते हुए दर्शन–ज्ञानमय बनता है और उसी में अनन्यभाव से स्थित होता जाता है। यानी वह दर्शन–ज्ञानमय शुद्धात्मा में मैंपन करता है। ऐसा साधक अल्पकाल में ही कर्मरहित आत्मा को प्राप्त कर लेता है; अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लेता है। आगे चलकर, जब आयु का क्षय होता है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि जो साधक पर में सुखेच्छारहित है और कर्म–नोकर्म को नहीं ध्याता, उसे शुद्धात्मानुभूति होती है। यहाँ वे बता रहे हैं की जो साधक परसन्मुख है, पर की इच्छा रखता है, पर के प्रति आसक्त है, पर में सुखबुद्धि रखता है, पर में रुचि रखता है, पर से सुख चाहता है, वह बहिरात्मा है।

परोक्ष रूप से यहाँ आचार्यश्री बता रहे हैं कि साधक को पर में सुखेच्छा से विरत होना चाहिये। यह बात हर कोई समझ नहीं पाता। इसलिये कई लोग निश्चयनय को बौद्धिकरूप से सिर्फ़ शब्दों के स्तर पर ही ग्रहण करते हैं। बिना उपरोक्त योग्यताओं के वे अनेक वर्षों तक बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा का ध्यान करने का भी प्रयास करते रहते हैं। ऐसा करने से वे भ्रमित हो जाते हैं और स्वयं को बिना आत्मानुभूति के ही बौद्धिकरूप से या भ्रमवश सिर्फ़ ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा मानने लगते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। इस एकान्त समझ को निश्चयाभास कहा गया है। इस प्रकार कई साधक इस परम श्रद्धेय शास्त्र को शस्त्र बनाकर अपना ही नुक़सान कर बैठते हैं। यह ग़लत अर्थघटन का ही दुष्फल है। इसलिये इससे बचना चाहिये, सावधान रहना चाहिये। अतः सभी साधकों को सर्वप्रथम वैराग्यादि योग्यताएँ पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि उनके बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त ही नहीं होता और अपने अभिप्राय में सर्वसंग विमुख भी नहीं होता। यही इन गाथाओं का सार है।

बिना आत्मानुभूति के शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, उससे अशुद्धात्मा का ही अनुभव होता है। फिर भी यदि कोई स्वयं को बौद्धिकरूप से या भ्रमवश (गधे के सींग के श्रद्धान जैसे) शुद्धात्मा मानता हो तो वह अपने पैर पर ही कुल्हाड़ी मार रहा है अर्थात् भ्रम पालकर अपना ही अनन्त दुःखमय संसार बढ़ा रहा है। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये, इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १९७-१९८

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ।।

को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ।।

भावानुवाद : *जिसप्रकार परोक्ष रूप का उपदेश (कथन) किये जाने पर व्यक्ति उस रूप को प्रत्यक्ष देखकर जानता है, उसी प्रकार परोक्ष आत्मा का कथन किये जाने पर जीव उसे प्रत्यक्ष देखकर और जानकर ग्रहण करता है। ऐसा कोई ज्ञानी साधु ही वर्तमान काल में कह सकता है कि वह इस परोक्ष ज्ञान से प्रवृत्त आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष रूप में देखता है।*

टीका : अज्ञानी को आत्मस्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति न होने के कारण उसे ज्ञानदर्शनरूप आत्मा की जानकारी परोक्ष रूप से ज्ञानी के प्रवचनों द्वारा ही मिलती है। इससे उस अज्ञानी को भगवान के बताये मोक्षमार्ग के प्रति श्रद्धा हो सकती है।

भगवान के कहे हुए शास्त्रों और उन पर दिये जानेवाले प्रवचनों के माध्यम से देव, शास्त्र और गुरु में श्रद्धा उत्पन्न होती है और धीरे-धीरे दृढ़ होती जाती है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि बिना भगवान के वचनों में श्रद्धा के साधक मोक्षमार्ग मैं आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये यहाँ बताया गया है कि इस पंचम काल में आत्मा को प्रत्यक्ष जानने देखनेवाले साधु बहुत कम होते हैं, जो यह कह सकें कि 'हमने ऐसी आत्मा को प्रत्यक्ष रूप से देखा है'।

अतः सभी साधकों को सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न कर वैराग्यादि योग्यता पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जिससे वे आत्मसन्मुख होकर शुद्धात्मानुभूति कर सकें। ऐसे जीव ही कह सकते हैं कि हमने परोक्ष ज्ञान से प्रवृत्त आत्मस्वरुप को प्रत्यक्ष रूप से देखा है। अर्थात् वर्तमान में छद्मस्थ जीव का आत्मा मति ज्ञान/अज्ञान और श्रुत ज्ञान/अज्ञान रूप परोक्ष ज्ञान के रूप में प्रवृत्त होता है, परन्तु आत्मानुभव के काल में वे अतीन्द्रिय बनकर आत्मा का अनुभव करते हैं। इसलिये उसे आत्मा के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ ऐसा कहते हैं। दोनों आत्मस्वरूप ही हैं, एक द्रव्य है दूसरा पर्याय है। इस अपेक्षा से उन्हें प्रत्यक्ष अनुभूति कहा जाता है। जिसकी अनुभूति हो रही है वह द्रव्य है। इसलिये वह त्रिकाल शुद्ध है। वह ज्ञानसामान्यभाव है और आत्मानुभूति करनेवाले अतीन्द्रिय मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान आत्मा की पर्यायें हैं। इस प्रकार दोनों आत्मानुभूति के काल में एकरूप हो जाते हैं। इसलिये उसे प्रत्यक्ष बताया गया है। आत्मानुभूति के काल में उपयोगरूप मनोयोग आत्मा के साथ एकरूप हो जाता है। इसलिये उसे प्रत्यक्ष बताया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९०-१९२ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा १९९-२०१

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥190॥

हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥191॥

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ।।192।।

भावानुवाद : *सर्वज्ञ देव ने उनके (द्रव्यकर्म के) कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये अध्यवसाय कहे हैं। ज्ञानी के इन कारणों के अभाव में नियम से आस्रव का निरोध होता है। बिना आस्रव भाव के कर्म का भी निरोध हो जाता है और कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का निरोध हो जाता है। नोकर्मों का निरोध होने से संसार का निरोध होता है।*

टीका : अनादिकाल से जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है। वैसे तो कर्म पुद्गलद्रव्य है और जीव चेतनद्रव्य है। दोनों भिन्न द्रव्य हैं उनमें कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वे पुद्गलकर्म जीव के भावों के निमित्त से बँधे हैं। इसलिये वास्तव में वे जीव के भावों के प्रतिबिम्ब ही हैं। इसलिये जब उन कर्मों का उदय होता है, तब जीव उनके निमित्त से मिथ्यात्व, अज्ञान आदि रूप में परिणमता है। इन्हें ही यहाँ अध्यवसाय कहा है। इस परिणमन को भावकर्म या भावास्रव कहते हैं, क्योंकि उनके निमित्त से नये कर्मों का आस्रव होता है। सर्वज्ञ देव ने इन आस्रवों के चार प्रकार बताये हैं।

१. मिथ्यात्व – जीव की पर में मैंपन की श्रद्धा
२. अज्ञान – जीव का पर में मैंपन का ज्ञान
३. अविरति – जीव के अविरति के परिणाम, यानी अनन्तानुबँधी या अप्रत्याख्यानी या प्रत्याख्यानी कषाय परिणाम
४. योग – कर्मों के उदय के निमित्त से होनेवाले जीव के मन–वचन–काया के आत्मविकल्प

भगवान ने जीव के ये चार अध्यवसाय (भावास्रव) बताये हैं। जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति प्राप्त करता है तो पहले दो भावास्रव यानी मिथ्यात्व और अज्ञान का अभाव होता है। इनके अभाव के कारण वह जीव ज्ञानी कहलाता है। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। बाक़ी बचे दो भावास्रव – अविरति और योग रूप पर्याय में ज्ञानी का न तो मैंपन होता है और न ही अभिप्राय में कर्ताभोक्ता भाव होते हैं। इस अपेक्षा ज्ञानी के इनका अभाव बताया गया है। इस प्रकार चारों भावास्रव रूप हेतुओं के अभाव में ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव होता है। द्रव्यास्रवों

का अभाव होने से ज्ञानी के कर्मों का अभाव तथा कर्मों का अभाव होने से नोकर्मों का अभाव होता है—ऐसा निश्चयनय से कहा जाता है।

ज्ञानी का मैंपन ज्ञानसामान्यभाव में स्थापित होने से, ज्ञानी का मैंपन भावास्रवों में एवं कर्म–नोकर्म में नहीं होता। इसे ही ज्ञानी के अभिप्राय में भावास्रव और कर्म–नोकर्म का अभाव जानना चाहिये। अर्थात् ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये वह भावास्रवों का अकर्ता है। उस अपेक्षा से ज्ञानी को कर्मों और नोकर्मों का अभाव बताया गया है। क्योंकि ज्ञानी को ज्ञानसामान्यभाव में स्थित रहने से गुणश्रेणीवाली कर्मनिर्जरा होती है और आगे क्षपकश्रेणी लगाकर वह केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करके आगे आयुक्षय होने पर संसार का भी अभाव करके मुक्त हो जाता है। यही इन गाथाओं का सार है।

पर्याय अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि जीव को भी कर्मोदय के निमित्त से विभाव परिणति होती है और उसके निमित्त से गुणस्थान के अनुसार नये कर्मों का आस्रव–बन्ध भी होता है। इसलिये किसी को यह बात एकान्त से नहीं ग्रहण करनी चाहिये कि 'ज्ञानी के इन कारणों के अभाव में नियम से आस्रव का निरोध होता है। बिना आस्रव भाव के कर्म का भी निरोध हो जाता है और कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का निरोध हो जाता है। नोकर्मों का निरोध होने से संसार का निरोध होता है।'

संवर अधिकार का उपसंहार

संवर अधिकार का सार यह है कि सभी साधकों को सर्वप्रथम वैराग्यादि योग्यताएँ और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि उन वैराग्यादि योग्यताओं से ही पर की इच्छाओं से विरत होकर परसन्मुखता टलती है और आत्मसन्मुखता प्राप्त होती है। आत्मसन्मुखता पाने से उस जीव का सम्यग्दर्शन पाना आसान हो जाता है। सम्यग्दर्शन से ही सच्चे संवर की शुरुआत होती है और आगे आत्मा में ठहर जाने से क्रमशः पूर्ण संवर होता है, सिद्धत्व प्राप्त होता है।

आत्मानुभूति ही शुद्धनय है यानी आत्मानुभूति से ही निश्चय प्रकट होता है और वह आत्मानुभूति परम पारिणामिकभावरूपी शुद्धात्मा की होती है। इसलिये निश्चय से आत्मा सिर्फ़ परम पारिणामिकभाव रूप परम अकर्ताभावरूप कही जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव को वह आत्मा कभी-कभी शुद्धोपयोग के रूप में अनुभव में आती है और बाकी समय में लब्धिरूप से मैंपन अपेक्षा से अभिप्राय में होती है। आत्मानुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा बताने के लिये यानी दृष्टि का विषय समझाने के लिये ही यहाँ क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है और क्रोध क्रोध में ही है, निश्चय से उपयोग में क्रोध नहीं है—यह बताया गया है। और आगे बताया गया है कि उपयोग में कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं, ऐसा अविपरीत ज्ञान (शुद्धात्मानुभूति) जब जीव को होता है तो वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता, क्योंकि आत्मानुभूति में क्रोधादि भाव, कर्म तथा नोकर्म से भेदज्ञान होता है। इसे अन्यथा या एकान्त से ग्रहण नहीं करना, नहीं तो अनन्त दुःखों से कोई बचा नहीं पायेगा।

यहाँ आचार्यश्री ने ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है, फिर भी पंचम काल की विडम्बना यह है कि अनेक लोग ग़लत अर्थघटन के कारण अज्ञानी

को भी ज्ञानी के समान स्वयं को सिर्फ़ बौद्धिकरूप से ज्ञानमात्र शुद्धात्मा मानने का उपदेश देते हैं जो निश्चयाभासरूपी भ्रम में ले जाता है, जो आत्मप्राप्ति में बाधक है।

शुद्धात्मा को जानता एवं अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्धात्मा को जानता एवं अनुभव करता हुआ जीव अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है। परन्तु ग़लत अर्थघटन के कारण अज्ञानी को यह भ्रम हो जाता है कि यदि मैं अपने आप को अशुद्ध जानूँगा तो अशुद्धात्मा को प्राप्त करूँगा और यदि बौद्धिकरूप से शुद्ध जानूँगा तो शुद्धात्मा को प्राप्त करूँगा। इसलिये वह ग़लत अर्थघटन के कारण अपने आप को बौद्धिकरूप से ही शुद्ध जानने और मानने लग जाता है। चूँकि अज्ञानी के पास सिर्फ़ पर्यायदृष्टि ही है। इसलिये वह अपने को भ्रमवश पर्याय में ही शुद्ध मानने लग जाता है और उस ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। वस्तुतः आत्मा द्रव्यदृष्टि से त्रैकालिक रूप से शुद्ध है पर अज्ञानी के पास वह द्रव्यदृष्टि नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रकट होती है। अज्ञानी पर्यायदृष्टि ही होता है। इसलिये यहाँ आचार्यश्री जो स्वयं को शुद्ध जानने का उपदेश दे रहे हैं वह द्रव्यदृष्टि प्रकट करके उसके माध्यम से शुद्ध जानने का उपदेश दे रहे हैं, क्योंकि द्रव्यदृष्टि प्रकट किये बिना अज्ञानी के लिये शुद्धात्मा को जानने और अनुभव करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

यहाँ जो पुण्यपापरूपी सभी शुभाशुभ योगों को रोकने की बात कही गयी है उसे इस अपेक्षा से समझना चाहिये कि साधक का एकमात्र लक्ष्य शुद्धात्मा की अनुभूति की प्राप्ति ही होती है, यानी शुद्धोपयोग ही लक्ष्य होता है, पुण्य–पापरूप शुभाशुभ उपयोग लक्ष्य नहीं होता। इसलिये जिसका लक्ष्य पुण्यपापरूपी शुभाशुभ भाव है उसका लक्ष्य शुद्धात्मानुभूतिरूपी शुद्धोपयोग न होने से वह शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये कोई पुरुषार्थ करता ही नहीं। इसलिये सभी साधकों का एकमात्र लक्ष्य शुद्धोपयोग ही होना चाहिये। परन्तु हाँ, जब तक उन्हें शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से रहना तो शुभोपयोग में ही है, अशुभोपयोग में नहीं।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि जो आत्मा पर में सुखेच्छा रहित है और कर्म–नोकर्म को नहीं ध्याती, उसे शुद्धात्मानुभूति होती है। यहाँ वे बता रहे हैं की जो साधक परसन्मुख है, पर की इच्छा रखता है, पर के प्रति आसक्त है, पर में सुखबुद्धि रखता है, पर में रुचि रखता है, पर से सुख चाहता है, वह बहिरात्मा है।

परोक्ष रूप से यहाँ आचार्यश्री बता रहे हैं कि साधक को पर में सुखेच्छा से विरत होना चाहिये। यह बात हर कोई समझ नहीं पाता। इसलिये कई लोग निश्चयनय को बौद्धिकरूप से सिर्फ़ शब्दों के स्तर पर ही ग्रहण करते हैं। बिना उपरोक्त योग्यताओं के वे अनेक वर्षों तक बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा का ध्यान करने का भी प्रयास करते रहते हैं। ऐसा करने से वे भ्रमित हो जाते हैं और स्वयं को बिना आत्मानुभूति के ही बौद्धिकरूप से या भ्रमवश सिर्फ़ ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा मानने लगते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। इस एकान्त समझ को निश्चयाभास कहा गया है। इस प्रकार कई साधक इस परम श्रद्धेय शास्त्र को शस्त्र बनाकर अपना ही नुक़सान कर बैठते हैं। यह ग़लत अर्थघटन का ही दुष्फल है। इसलिये इससे बचना चाहिये, सावधान रहना चाहिये। अतः सभी साधकों को सर्वप्रथम वैराग्यादि योग्यताएँ पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि उनके बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त ही नहीं होता और अपने अभिप्राय में सर्वसंग विमुख भी नहीं होता।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि बिना भगवान के वचनों में श्रद्धा के साधक मोक्षमार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये यहाँ बताया गया है कि इस पंचम काल में आत्मा को प्रत्यक्ष जानने देखनेवाले साधु बहुत कम होते हैं, जो यह कह सकें कि 'हमने ऐसी आत्मा को प्रत्यक्ष रूप से देखा है'।

जब कोई भी जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति प्राप्त करता है तो पहले दो भावास्रव यानी मिथ्यात्व और अज्ञान का अभाव होता है। इनके अभाव के कारण वह जीव ज्ञानी कहलाता है। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। बाक़ी बचे दो भावास्रव—अविरति और योग रूप पर्याय में ज्ञानी का न तो मैंपन होता है और न ही अभिप्राय में कर्ताभोक्ता भाव होते हैं। इस अपेक्षा ज्ञानी के इनका अभाव बताया गया है। इस प्रकार चारों भावास्रव रूप हेतुओं के अभाव में ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव होता है। द्रव्यास्रवों का अभाव होने से ज्ञानी के कर्मों का अभाव तथा कर्मों का अभाव होने से नोकर्मों का अभाव होता है—यही मोक्षमार्ग है।



निर्जरा अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०२

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।।193।।

भावानुवाद : *सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों द्वारा अचेतन और अन्य (चेतन) द्रव्यों का जो उपभोग करता है वह सब निर्जरा का ही निमित्त है।*

टीका : वैराग्यादि योग्यतासहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर जब कोई भी जीव आत्मानुभूति करता है, तब से उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। वैसा जीव अपने गुणस्थान के अनुसार इन्द्रियों द्वारा अचेतन और अन्य (चेतन) द्रव्यों का उपभोग करता है। वैसा सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ शुद्धात्मा होने के कारण उसका एकत्व शुद्धात्मा में उपयोगरूप से या लब्धिरूप से बना रहता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह इन्द्रियों के द्वारा उपभोग करते हुए भी अभिप्राय की अपेक्षा से उसका कर्ताभोक्ता नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है।

अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय में उसका कर्तृत्वभाव–भोक्तृत्वभाव न होने के कारण और अपनी शुद्धात्मा से एकत्व होने के कारण वे उपभोग भी उसके लिये निर्जरा के निमित्त बनते हैं। चूँकि उसकी पर में सुखबुद्धि हट गयी है, अतः वह उपभोग का भी अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। उसे सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही मैंपन होने की अपेक्षा कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों द्वारा अचेतन और अन्य (चेतन) द्रव्यों का जो उपभोग करता है वह सब निर्जरा का ही निमित्त होता है, क्योंकि पुराने कर्मों की निर्जरा हो जाती है और अभिप्राय की अपेक्षा से नये कर्म नहीं बँधते। पर्याय की अपेक्षा से जो भी कर्म बँधते हैं, वे भी कम ही बँधते हैं। अल्प

स्थितिवाले एवं मन्द रसवाले ही कर्म बँधते हैं। उनको यहाँ गौण रखा गया है, क्योंकि यह अध्यात्मशास्त्र होने से इसमें ज्ञान सामान्य रूप जीव को ही ज़्यादातर स्थानों पर जीव माना गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०३

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा ।
तं सुह–दुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि ।।194।।

भावानुवाद : *(सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा) वस्तु भोगे जाने पर नियम से सुख या दुःख उत्पन्न होता है। उदय में आये उस सुख–दुःख का वेदन होने के बाद उसकी निर्जरा हो जाती है।*

टीका : सम्यग्दृष्टि जीव को छठवें गुणस्थान तक रति–अरति होती है। इसलिये कर्मों के उदयवश वह जब भी परवस्तु को भोगता है, तब नियम से उसे सुख या दुःख उत्पन्न होता है। इस तरह उसे कर्मों के उदय से सुख–दुःख का वेदन होता है। तत्पश्चात् उसके कर्म की निर्जरा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। अतः सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों के उदय में सुख–दुःख का वेदन करते हुए भी अभिप्राय की अपेक्षा से नये कर्मों के बन्धभाव का कर्ता नहीं होता यानी भावास्रव का कर्ता नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मोदय से जो भी सुख–दुःख होते हैं उनसे निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता। जबकि अज्ञानी जीव अपनी पर्याय का कर्ता होता है। इसलिये उसे उदय में आये उस सुख–दुःख का अनुभव होने से राग–द्वेष होते हैं। अतः अज्ञानी को कर्मबन्ध होता है।

उपरोक्त बात निश्चय अपेक्षा से बतायी गयी है, परन्तु व्यवहार से यानी पर्याय के निमित्त से ज्ञानी को भी गुणस्थान के अनुसार कर्मबन्ध होता है। यह अध्यात्मग्रन्थ होने से उसे गौण किया गया है। यदि कोई अज्ञानी इस बात का ग़लत अर्थघटन करके भ्रमवश स्वयं को शुद्ध, अबन्ध स्वरूप, अकर्ता–अभोक्ता माने और उस ख़ुशफ़हमी में ही रहे तो उसे अनन्त दुःखमय संसार से कोई बचा नहीं सकता।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०४

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ।।195।।

भावानुवाद : *जिस प्रकार वैद्य पुरुष विष का सेवन करके भी मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गलकर्म के उदय को भोगता है, फिर भी नहीं बँधता।*

टीका : अनुभवी वैद्य को पता होता है कि रोगों के इलाज के लिये ज़हर की मात्रा कितनी लेनी चाहिये और साथ में उसे काटनेवाली दवा कौनसी लेनी चाहिये। इसलिये वह कई असाध्य रोगों के इलाज के लिये ज़हर का भी दवा के रूप में प्रयोग करता है। इसलिये यहाँ बताया है कि वैद्य विष खाकर भी नहीं मरता।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने वैद्य का उदाहरण देकर ज्ञानी की स्थिति समझायी है। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अर्थात् अपनी कमज़ोरी के कारण औषध के रूप में ज्ञानी पुद्गलों को भोगता है। परन्तु उस भाव में न तो उसका मैंपन है, और न ही अभिप्राय की अपेक्षा से उस भाव का कोई कर्तृत्व या भोक्तृत्व है। न ही उसका पर को भोगने का अभिप्राय है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी पुद्गलकर्म के उदय को भोगता है, फिर भी बँधता नहीं है।

उपरोक्त बात निश्चय अपेक्षा से बतायी गयी है, परन्तु व्यवहार से यानी भोगरूप विष का सेवन करने की पर्याय के निमित्त से ज्ञानी को भी गुणस्थान के अनुसार कर्मबन्ध होता है। यह अध्यात्मग्रन्थ होने से उसे गौण किया गया है। यदि कोई अज्ञानी इस बात का ग़लत अर्थघटन करके भ्रमवश स्वयं को शुद्ध, अबन्ध स्वरूप, अकर्ता–अभोक्ता माने और यथेच्छ भोग भोगता रहे या उसका भोग भोगने का अभिप्राय बना रहे तो उसे अनन्त दुःखमय संसार से कोई बचा नहीं सकता।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०५

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ।।196।।

भावानुवाद : *जैसे कोई पुरुष मद्यपान करते हुए भी अपने अरतिभाव के कारण मदोन्मत्त नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी भी द्रव्य के उपभोग के प्रति अपने अरतिभाव के कारण (कर्म से) नहीं बँधता।*

टीका : जब कोई पुरुष अपनी मजबूरीवश या दूसरों के आग्रह के वश में आकर अरतिभाव होने के बावजूद मदिरा पीता है, तब वह उस मदिरा के नशे से मदोन्मत्त नहीं होता, बहकता नहीं। यह उदाहरण देकर आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि ज्ञानी भी जो द्रव्य का उपभोग करता है वह अरतिभाव से ही करता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अर्थात् उसके अभिप्राय में द्रव्य को भोगने का कोई भाव नहीं होता। इसलिये उसे कर्मबन्ध नहीं होता—यह बताया गया है।

दूसरे, ज्ञानी का भावास्रव में मैंपन नहीं होता। अभिप्राय में उसके प्रति सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टाभाव होता है। इसलिये वह भावास्रव का कर्ता नहीं होता। इस अपेक्षा से आचार्यश्री बताते हैं कि ज्ञानी को द्रव्य के उपभोग के प्रति अरतिभाव के कारण कर्मबन्ध नहीं होता। ज्ञातव्य है कि रति–अरतिरूप चारित्रमोहनीय कर्म का उदय छठवें गुणस्थान तक होता है परन्तु यहाँ उस रति–अरति की बात न कहकर अभिप्राय में रही हुई रति–अरति की बात की गयी है जो ज्ञानी को नहीं होती है, अज्ञानी को होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०६

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ।।197।।

भावानुवाद : *कोई तो (विषयों का) सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता, और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करता है। जैसे कोई पुरुष कार्यसम्बन्धी क्रिया (प्रकरण चेष्टा) करता है फिर भी वह कर्ता (प्राकरणिक) नहीं होता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उस जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का कर्ताभोक्ता नहीं बनता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इस अपेक्षा से यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता, क्योंकि वह अपनी पर्याय का कर्ताभोक्ता नहीं होता। ज्ञाताद्रष्टा ही होता है।

जबकि अज्ञानी अपनी पर्याय का कर्ताभोक्ता होता है और अज्ञानी को पर के सेवन का सूक्ष्म अभिप्राय भी बना रहता है। इसलिये वह सेवन न करता हुआ भी अभिप्राय और अभिलाषा की अपेक्षा से सेवन करता है, कर्ताभोक्ता होता है।

इसी प्रकार ज्ञानी कोई भी कार्यसम्बन्धी क्रिया करते हुए भी अभिप्राय की अपेक्षा से उसका कर्ता नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इस अपेक्षा से आचार्यश्री यहाँ बताते हैं कि कोई पुरुष कार्यसम्बन्धी क्रिया करते हुए भी उसका कर्ता नहीं होता।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा १९८–२०० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१०, २०७, २०९

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को ।।198।।

पोग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमेक्को ।।199।।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो ।।200।।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २०८

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो ।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी ।।

भावानुवाद : *जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार के कर्मों के उदय का विपाक कहा है। वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ। राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय होता है, वह मेरा भाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, आत्मा (स्वयं) को (अनुभवपूर्वक) ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्व को अर्थात् स्वरूप को जानता हुआ कर्म के विपाकरूपी उदय से मुक्त रहता है।*

भावानुवाद : *यह विविध कर्मोदय के फल का विपाकरूप (विभाव परिणाम) तुम्हारा कैसे नहीं है? परद्रव्य (के निमित्त से हुए भावों) में उपयोग नहीं करनेवाला जीव अज्ञानी नहीं होता, देहरूप नहीं होता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब उसे निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। अर्थात् उसका एकत्व सिर्फ़ ज्ञायकभाव में ही होता है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द इन गाथाओं में बता रहे हैं कि कर्मों के उदय का जो विपाक कहा गया है, वह मेरा स्वभाव नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ। राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय होता है, वह मेरा भाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, आत्मा स्वयं को अनुभवपूर्वक ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्व को अर्थात् स्वरूप को जानता हुआ कर्म के विपाकरूपी उदय से मुक्त रहता है। क्योंकि उसका मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है।

आगे आचार्यश्री पूछते है कि यह विविध कर्मोदय के फल का विपाकरूप विभाव परिणाम तुम्हारा कैसे नहीं है? इसका उत्तर भी यही है कि ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। विभाव परिणाम पर्याय रूप होने से उस में मैंपन नहीं होता। इसी लिये आगे बताया गया है कि परद्रव्य के निमित्त से हुए भावों में उपयोग नहीं करनेवाला जीव अज्ञानी नहीं होता, देहरूप नहीं होता। वैसा जीव ज्ञानी होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से उसका उपयोग अपने त्रिकाल उपयोग में ही होता है।

जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार के कर्मों के उदय का फल विविध प्रकार का बताया है। उस फल की प्राप्ति जीव को पर्याय में होती है। परन्तु ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ द्रव्य में ही होता है, पर्याय में नहीं। इसलिये आचार्यश्री बताते हैं कि 'यह कर्मों के विपाकरूप विविध प्रकार के भाव मेरा स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायक भाव ही हूँ', ऐसा ज्ञानी जानता है। क्योंकि ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञायकभाव में ही होता है, पर्याय में नहीं।

यहाँ स्वभाव यानी स्व (आत्मा) का भाव। जिस भाव में ज्ञानी का मैंपन होता है, उस भाव को स्वभाव बताया गया है। उस स्वभाव की अनुभूति से ही अतीन्द्रिय आनन्द आता है। अनादि से जीव कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है। इसलिये दुःखमय संसार में फँसा हुआ है। जब पुद्गलरूप द्रव्यकर्म का उदय होता है, तब उसके निमित्त से जीव राग–द्वेष रूप में परिणत होता है। इन राग–द्वेष रूप भावास्रवों के निमित्त से नये कर्मों का बन्ध होता है। यही है कर्मों का विषचक्र।

यहाँ आचार्यश्री ने राग को पुद्गलकर्म कहा है, क्योंकि राग का पुद्गलकर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये उन्होंने बताया है कि पुद्गलकर्म के विपाकरूपी उदय के निमित्त से जीव रागरूप परिणमन करता है। परन्तु उस भाव में ज्ञानी का मैंपन नहीं होता, ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञायकभाव में ही होता है। इसलिये ज्ञानी बता रहा है कि 'कर्मोदयरूप राग मेरा भाव नहीं है, मैं तो सिर्फ़ ज्ञायकभाव ही हूँ'। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वयं को सिर्फ़ ज्ञायक स्वभाव अर्थात् ज्ञानसामान्यरूप शुद्धात्मा ही जानता है, मानता है और अनुभव करता है। ज्ञानी का यही स्व–भाव है, स्व–तत्त्व है, स्व–रूप है। स्वयं को ऐसा जानते हुए वह विपाकरूपी कर्मोदय से मुक्त है, क्योंकि वह अभिप्राय की अपेक्षा से उसका सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा है, कर्ताभोक्ता नहीं। यही इन गाथाओं का सार है।

यदि कोई ज्ञानी से पूछता है कि ये विविध कर्मों के उदय के फलरूप विभाव परिणाम तुम्हारे क्यों नहीं हैं? तब ज्ञानी उत्तर देता है कि मेरा उपयोग सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करता है। इसलिये अज्ञानमय रागादिभाव में और देह में मेरा मैंपन नहीं है। अर्थात् ज्ञानी का उपयोग परद्रव्य में 'मैंपन' नहीं करता। इसलिये ऐसा जीव न तो अज्ञानी होता है, और न ही देहरूप होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०१–२०२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २११–२१२

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ।।201।।

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
किह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।।202।।

भावानुवाद : *वास्तव में जिस जीव में (अभिप्राय में) परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो फिर भी आत्मा को (अनुभवपूर्वक) नहीं जानता। और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब वह जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है। उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उस आत्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा में लेशमात्र भी

राग–द्वेष नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ बता रहे हैं कि जिस जीव के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं अर्थात् जिस जीव का रागादिभावों में मैंपन है, वह भले ही समस्त आगमों का ज्ञाता हो, फिर भी वह आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप से नहीं जानता। उसे आत्मानुभूति नहीं है। अतः वह अज्ञानी है।

ऐसा अज्ञानी जीव आत्मा और अनात्मा का अन्तर भी नहीं पहचानता। इस प्रकार जीव और अजीव को नहीं जाननेवाला ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। यहाँ आचार्यश्री ने ज्ञानी और अज्ञानी का स्पष्ट रूप से अन्तर बताया है। इसका ग़लत अर्थघटन करके यह नहीं समझना चाहिये कि 'मुझमें परमाणुमात्र भी राग नहीं है' ऐसा बौद्धिकरूप से मान लेने से ही जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है, क्योंकि यहाँ बौद्धिकरूप से मानने की बात ही नहीं है, परन्तु ऐसा अनुभव करने की बात है। कई जीव इस प्रकार इस शास्त्र का विपरीत रूप से अर्थघटन कर अज्ञानी बने रहते हैं, कई जीव निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं।

चूँकि शुद्धात्मा में परमाणुमात्र भी राग नहीं होता। इसलिये उसकी अनुभूति करनेवाले जीव के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान नहीं होते। फिर यदि कोई ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को बिना आत्मानुभूति के ही बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मानता हो यानी भ्रम पालता तो वह अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मार रहा है अर्थात् भ्रम पालकर अपना ही अनन्त दुःखमय संसार बढ़ा रहा है। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१६

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ।।203।।

भावानुवाद : *आत्मा के अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़कर नियत, स्थिर, एक, स्वभावरूप से जो अनुभव किया जाता है। उसे ग्रहण करें।*

टीका : इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द सम्यग्दर्शन का विषय समझा रहे हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव की आत्मानुभूति का विषय, उसके मैंपन का विषय और उसके ध्यान का विषय समझा रहे हैं। जो भाव सम्यग्दृष्टि की आत्मानुभूति में नहीं है, उसे आचार्यश्री आत्मा के लिये अपदभूत भाव बताते हैं। अर्थात् उन भावों में मैंपन करने योग्य नहीं है, क्योंकि वे आत्मा के त्रिकालभाव नहीं हैं, क्षणिकभाव हैं। इसलिये आचार्यश्री उन भावों को ग्रहण करने योग्य नहीं मानते हैं, मैंपन करने योग्य नहीं मानते हैं—अपदभूत मानते हैं।

इसलिये उन्हें त्यागने के लिये कहा है। त्याग की विधि यह है कि वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त की जाये, न कि स्वयं को मात्र बौद्धिकरूप से ही भ्रमवश वैसी शुद्धात्मा मान लिया जाये और उस ख़ुशफ़हमी में ही रहा जाये। सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। यह भाव नियत है अर्थात् सदैव एकरूप है, त्रिकाल स्थिर है और एक अभेद स्वभावरूप होता है। उसी को ग्रहण करने के लिये कहा गया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है।

इससे ग़लत अर्थघटन करके यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्धिक रीति से अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़ने से ही जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है, क्योंकि यहाँ बौद्धिक रीति से अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़ने की बात ही नहीं है, परन्तु ऐसा अनुभव करने की बात है। कई जीव इस प्रकार इस शास्त्र का विपरीतरूप से अर्थघटन कर अज्ञानी बने रहते हैं, कई जीव निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं। क्योंकि उन्हें यह पता ही नहीं होता कि बहिरात्मा जीव बौद्धिक रीति से, आत्मसन्मुखता प्राप्त किये बिना, आत्मानुभूति नहीं कर सकता। इसलिये उपदेश सदैव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करने का होता है, न कि स्वयं को बौद्धिकरूप से भ्रमवश शुद्धात्मा मान लेने का।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२०

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ।।204।।

भावानुवाद : *मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सभी एक ही पद हैं। यही वह परमार्थ है, जिसे प्राप्त करके आत्मा निवृत्ति (मुक्ति) प्राप्त करती है।*

टीका : ज्ञानी का मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। यह ज्ञानसामान्यभाव ज्ञानगुण है। जब हम आत्मा को किसी भी गुण से ग्रहण करते हैं तो वह पूरी आत्मा ही ग्रहण होती है, क्योंकि जब हम किसी भी गुण के माध्यम से आत्मा की बात करते हैं, तब पूर्ण आत्मा को उस गुणरूप ही माना जाता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञानगुण की पर्यायों की बात है। सभी पर्यायें विशेषभाव हैं और गुणों का समूह द्रव्य है, जो सामान्यभाव है। ज्ञानी की आत्मानुभूति में सिर्फ़ सामान्यभाव ही विषय होता है। उस ज्ञानसामान्य की अपेक्षा से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सभी ज्ञान की पर्यायों का सामान्यभाव एक पदरूप ही है, ज्ञानमात्र ही है। उसके अनुभव से ही जीव सम्यग्दृष्टि बनता है और आगे मुक्त होता है– यह बात यहाँ बतायी गयी है।

इसलिये उस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा को ही परमार्थ कहा गया है, क्योंकि वही एक भाव आत्मा के लिये पदभूत भाव है, आत्मानुभूति में आनेवाला भाव है। जब कोई जीव उस परमार्थ रूप शुद्धात्मा में स्थित हो जाता है, तब वह जीव क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है, और आगे आयुक्षय होने पर मुक्त हो जाता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि इस परमार्थ को पाकर आत्मा निवृत्त अर्थात् मुक्त हो जाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ परोक्ष रूप से यह उपदेश दे रहे हैं कि प्रत्येक साधक को यथाशीघ्र आत्मप्राप्ति कर मुक्ति प्राप्त करनी चाहिये। उसके लिये अपनी परमार्थरूप शुद्धात्मा की अनुभूति करना आवश्यक है, न कि ग़लत अर्थघटन करके स्वयं को बौद्धिकरूप से भ्रमवश शुद्धात्मा मानकर उस ख़ुशफ़हमी में रहना। उससे तो कई जीव निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं। क्योंकि ग़लत अर्थघटन के कारण उन्हें यह पता ही नहीं होता कि बहिरात्मा जीव बौद्धिक रीति से, आत्मसन्मुखता प्राप्त किये बिना, स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मान लेने मात्र से ही आत्मानुभूति नहीं कर लेता। इसलिये उपदेश सदैव वैराग्यादि योग्यता पूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करने का होता है, न कि स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने का।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२१

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ।।205।।

भावानुवाद : *ज्ञानगुण (स्वानुभूति) से रहित बहुत से लोग इस (ज्ञानस्वरूप) पद को प्राप्त नहीं करते। इसलिये यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्ति चाहता है तो नियत इस (ज्ञानस्वरूप) को ग्रहण कर।*

टीका : अनादिकाल से जीव अज्ञानवश कर्मों के उदय से जुड़कर और पर से एकत्व करके नये कर्मों का बन्ध कर रहा है। इस प्रकार जीव अनादिकाल से कर्मों के विषचक्र में फँसकर संसार में अनन्त दुःख झेल रहा है। इस प्रकार कई लोग अज्ञानवश ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा को नहीं जानते अर्थात् उन्होंने शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया है। इसलिये वे भले ही नौ पूर्वों का भी अभ्यास कर लें, भले ही ग़लत अर्थघटन के कारण कल्पना करके शुद्धात्मा का ध्यान कर लें, भले ही ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मानें, भले ही ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को बौद्धिकरूप से अकर्ता–अभोक्ता मानें, कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा मानें, भ्रमवश बौद्धिकरूप से स्वयं को पर्याय में ही स्वरूप से शुद्ध मानें इत्यादि उपक्रम करने पर भी ज्ञानसामान्यस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान न होने से भ्रान्ति के कारण निश्चयाभासी बन जाते हैं और उस ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। ऐसे लोगों को यहाँ ज्ञानगुण से रहित बताया गया है।

यही हमारी अनादिकालीन कहानी है। इसी लिये यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दने अज्ञानी को ज्ञानगुण से रहित अर्थात् ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा के अनुभव से रहित कहा है। वे आगे उपदेश देते हैं—हे भव्य जीव! यदि तू कर्मों से पूर्णतः मुक्त होना चाहता है, और अनन्त सुख की प्राप्ति चाहता है, तो इस नियत ज्ञानस्वरूपभाव अर्थात् ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा को अनुभवपूर्वक ग्रहण कर। और इसको ग्रहण करने की विधि यह नहीं कि स्वयं को बौद्धिकरूप से ही भ्रमवश वैसी शुद्धात्मा मान लिया जाये, बल्कि यह है कि वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त की जाये।

यहाँ आचार्यश्री ने ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा को ग्रहण करने को कहा है। परन्तु उन्होंने इसकी विधि गाथा १८७–१८९ में बतायी है, जहाँ उन्होंने बताया है कि एकमात्र शुद्धोपयोग के लक्ष्य से जो जीव पर में सुखेच्छा से रहित होकर अभिप्राय में सर्व परसंग के राग के राग को छोड़ता है यानी आत्मसन्मुखता करता है वही शुद्धात्मा का अनुभव करता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

इससे ग़लत अर्थघटन के कारण यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्धिक रीति से ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा ग्रहण करने से ही जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है, क्योंकि यहाँ बौद्धिक रीति से ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा के ग्रहण की बात ही नहीं है परन्तु ऐसा आत्मानुभव करने की बात है। क्योंकि ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिक रीति से जो नहीं है उसकी कल्पना

करके स्वयं को भ्रमवश ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा मान लेने से तो वह जीव भ्रमित होकर निश्चयाभासी ही होगा और ख़ुशफ़हमी में ही रहेगा।

कई जीव इस प्रकार इस शास्त्र का विपरीत रूप से अर्थघटन कर अज्ञानी बने रहते हैं, कई जीव निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१९

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ।।206।।

भावानुवाद : *इस (ज्ञानसामान्यभाव) में नित्य रत हो, नित्य संतुष्ट हो, इससे तृप्त हो, तुम्हें उत्तम सुख होगा।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। आचार्य कुन्दकुन्द यही बात बता रहे हैं कि सभी को यथाशीघ्र उपरोक्त रीति से आत्मप्राप्ति कर के उस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा से ही नित्य प्रीति रखना है, नित्य उसी में संतुष्ट एवं तृप्त रहना है, उससे उन्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। अर्थात् ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में स्थित हो जाने से गुणश्रेणीवाली निर्जरा होती है। तदनन्तर साधक क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान–केवलदर्शन को प्रकट करता है, और जब आयुष्य का पूर्ण क्षय होता है, तब वह परम मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। उसे सादि अनन्तकाल के लिये परमसुख की प्राप्ति होती है। यही साधना का क्रम है, यही मोक्षमार्ग है।

यदि कोई बिना आत्मानुभूति के ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को बौद्धिकरूप से ही ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा मानकर उससे नित्य प्रीतिवाला हो, उसमें ही संतुष्ट हो, उससे ही तृप्त हो, तो उसे अनन्त सुख यानी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि जब तक जीव में बहिरात्मपन है, तब तक आत्मसन्मुखता नहीं होती। और बिना आत्मसन्मुखता के आत्मानुभूति नहीं हो सकती। कई जीव इस प्रकार इस शास्त्र का विपरीत रूप से अर्थघटन कर अज्ञानी बने रहते हैं, कई जीव

भ्रमवश निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं। क्योंकि उन्हें यह पता ही नहीं होता कि बहिरात्मा जीव बौद्धिक रीति से, आत्मसन्मुखता प्राप्त किये बिना, स्वयं को शुद्धात्मा मान लेने मात्र से ही आत्मानुभूति नहीं कर लेता। इसलिये उपदेश सदैव वैराग्यादि योग्यता पूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करने का होता है, न कि स्वयं को भ्रमवश बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने का और उस ख़ुशफ़हमी में रहने का। इसी लिये जिनवाणी वैराग्य की बातों से भरी पड़ी है।

आत्मसन्मुखता यानी आत्मा के आलावा और किसी चीज़ की इच्छा न होना। क्योंकि इच्छा जीव का इंजन है, जो जीव को बाहर दौड़ाकर बहिरात्मा बनाती है। इसी लिये आचार्यश्री ने गाथा १८७ में इच्छारहित होने को कहा है। अतः साधक को सर्वप्रथम अपनी तीव्र इच्छाओं की जाँच करनी चाहिये। इससे पता चलेगा कि स्वयं का बहिरात्मपन कितना है। उसके नाश के लिये साधक को बारह भावनाओं की सहायता लेनी चाहिये और स्वयं को जाँचते रहना चाहिये। अन्यथा जो हमारे साथ अनादि से हो रहा है, वही दोहराया जायेगा यानी अनादि से जो हम इस दुःखमय संसार में दुःख झेलते हुए घूम रहे हैं वह भटकन चालू रहेगी।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०७-२०८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१७, २१५

को णाम भणेज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।।207।।

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।208।।

भावानुवाद : *(सिर्फ़) निज की आत्मा को नियम से (अपना) परिग्रह जानता हुआ कौन ज्ञानी (ऐसा मानकर) कहेगा कि 'यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है?' यदि (परद्रव्यरूपी) परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँगा, क्योंकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ। इसलिये परिग्रह मेरा नहीं है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को ज्ञानी कहते हैं। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसा ज्ञानी इस सम्पूर्ण जगत में अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा के अलावा अन्य किसी परवस्तु

में मैंपन और मेरापन नहीं करता। इसलिये उसका परिग्रह सिर्फ़ निजात्मा ही है। इसलिये कोई भी ज्ञानी परद्रव्य को निश्चय से अपना परिग्रह नहीं मानता, अभिप्राय की अपेक्षा से अपना नहीं मानता।

आगे आचार्यश्री परद्रव्यरूप परिग्रह की ही बात कर रहे हैं। ज्ञानी का अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्य में मैंपन या मेरापन नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी का जगत सिर्फ़ चिदाकाश ही होता है अर्थात् ज्ञानी का मैंपन या मेरापन अपनी आत्मा के बाहर नहीं होता। अगर कोई परद्रव्यरूपी परिग्रह को निश्चय से अपना माने तो वह आत्मा अजीव के रूप में परिणत हो जाती है। यहाँ पुद्गलद्रव्य के साथ अन्य जीवों को भी अपने जीव की अपेक्षा से अजीव माना है। ज्ञानी तो सिर्फ़ ज्ञायक ही होता है। इसलिये वह परद्रव्यरूप परिग्रह को निश्चय से अपना कभी नहीं मानता। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २०९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१८

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ।।209।।

भावानुवाद : *चाहे छेदन–भेदन किया जाये, कोई ले जाये, नष्ट कर दे, या किसी भी प्रकार से वह चला ही क्यों न जाये, फिर भी (परद्रव्य रूप) परिग्रह मेरा नहीं है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसा जीव ज्ञानी कहलाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय में ऐसे ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ अपनी ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। अर्थात् अभिप्राय में ज्ञानी का स्व–स्वामित्व सम्बन्ध सिर्फ़ अपनी आत्मा से ही होता है। इसलिये वह परद्रव्यरूप परिग्रह को अपना नहीं मानता।

ज्ञानी को परद्रव्यरूपी परिग्रह के प्रति तीव्र आकर्षण और तीव्र आसक्ति नहीं होती। इसलिये उन परद्रव्यों को कोई छेद दे, भेद दे, अथवा उनका विनाश कर दे या किसी भी प्रकार से वे चले जाएँ, दूर हो जाएँ तो उसे 'अपनी आत्मा में से कुछ घटा' ऐसा महसूस नहीं होता। अर्थात् 'अपनी आत्मा में से कुछ चला गया' ऐसा वह नहीं मानता। यही इस गाथा का सार है।

इससे ठीक विपरीत अज्ञानी का परिग्रह के प्रति मैंपन और मेरापन होने से कुछ भी नुक़सान होता है तो उसे ऐसा महसूस होता है कि जैसे उसकी आत्मा को ही किसी ने छेद दिया हो, भेद दिया हो या अन्य किसी भी प्रकार से उसका विनाश अथवा हरण किया हो।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २१०-२११ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२२-२२३

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।210।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।211।।

भावानुवाद : *इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है और ज्ञानी धर्म की इच्छा नहीं करता। इसलिये वह धर्म का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है और ज्ञानी अधर्म की इच्छा नहीं करता। इसलिये वह अधर्म का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसे ज्ञानी कहा जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है।

अज्ञानी को आत्मसन्मुखता पाने के लिये पर की इच्छा से रहित होना आवश्यक है, क्योंकि इच्छा ही जीव के संसार का इंजन है। इच्छा उसे बाहर की ओर दौड़ाती है। इसलिये जब तक जीव को इच्छा बाहर की ओर दौड़ाती है, तब तक उस जीव का उपयोग भी परसन्मुख होता है। अत : वह जीव परसन्मुख (बहिरात्मा) है। इसलिये उसे आत्मप्राप्ति नहीं होती। अर्थात् आत्मप्राप्ति के लिये परसन्मुखता का बारह भावनाओं के द्वारा नाश करके यानी पर की इच्छाओं को बारह भावनाओं से शान्त करके ही आत्मसन्मुखता पायी जाती है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय में पर की इच्छा से रहित होता है।

इस अभिप्राय की इच्छारहितता में सभी धर्म यानी धार्मिक क्रियाएँ और सम्प्रदाय भी आ जाते हैं। ज्ञानी को अभिप्राय में सत्य का आग्रह होता है, सम्प्रदाय का नहीं। उसे आत्मानुभूति का ही आग्रह होता है। उसके सिवा अन्य किसी भी धर्मक्रिया का आग्रह नहीं होता। इसलिये आचार्यश्री बताते है कि अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी धर्म की भी इच्छा नहीं रखता। अतः ज्ञानी को धर्म का परिग्रह नहीं है, वह सिर्फ़ धर्म का ज्ञायक ही है। दूसरे, ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़

ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ज्ञानसामान्यभाव में कोई भी विशेषभाव नहीं होता। इसलिये उसमें धर्म और अधर्म के विकल्प नहीं होते। इस अपेक्षा से भी ज्ञानी धर्म या अधर्म की इच्छा नहीं करता। अतः वह धर्म या अधर्म का परिग्रही नहीं है।

आचार्यश्री आगे बताते हैं कि अभिप्राय से इच्छारहित व्यक्ति अपरिग्रही होता है। यह ज्ञानी का लक्षण बताया, क्योंकि अभिप्राय से इच्छारहित होने पर ही उपयोग आत्मसन्मुख होता है और पर्याय रूप उपयोग द्रव्यरूप उपयोग में लगता है। अर्थात् आत्मानुभूति होती है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से न ही सम्प्रदाय की इच्छा रखता है और न ही आत्मधर्म से रहित होता है। ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से न ही धर्मक्रिया की इच्छा रखता है और न ही स्वयं को धर्मस्वरूप से पृथक् रखता है यानी अधर्म की इच्छा नहीं करता। अभिप्राय की अपेक्षा से न ही अधर्म में रहना चाहता है अर्थात् ज्ञानी का धर्मस्वरूप में यानी ज्ञानसामान्यरूप शुद्धात्मा में सदैव मैंपन और मेरापन का अभिप्राय बना रहता है। वह कभी उपयोगस्वरूप होता है यानी शुद्धात्मानुभूतिरूप होता है और कभी लब्धि स्वरूप होता है यानी शुद्धात्मा की प्रतीति के रूप में होता है।

इससे तय होता है कि यदि कोई जीव निश्चयाभास के कारण भ्रमवश स्वयं को बौद्धिकरूप से ही ज्ञानी मानता है, उस ख़ुशफ़हमी में ही रहता है और पुण्य तथा पाप को समान रूप से हेय मानकर अधर्म में रहना चाहता है तो वह स्वयं को छल रहा है। कई जीव इस प्रकार इस शास्त्र का विपरीतरूप से अर्थघटन कर अज्ञानी बने रहते हैं, कई जीव निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं।

इस प्रकार ज्ञानी अभिप्राय में न तो धर्म की इच्छा रखता है और न अधर्म की इच्छा रखता है। इसलिये वह धर्म तथा अधर्म, दोनों का अपरिग्रही होता है, क्योंकि अभिप्राय की अपेक्षा से वह सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही है, ज्ञायक ही है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२४

धम्मच्छि अधम्मच्छि आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु ।
संगं च तहा णेयं देवमणुअतिरियणेरइयं ।।

भावानुवाद : *धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, सूत्र, अंग, पूर्व, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, पर्याय तथा (अन्य समस्त) परिग्रह (यह भी ज्ञानी के) ज्ञेय हैं।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये उसको सिर्फ़ अपनी आत्मा का ही परिग्रह होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। उसके अभिप्राय में अन्य किसी भी वस्तु अथवा द्रव्य का परिग्रह नहीं होता। सभी ज्ञेयमात्र ही होते हैं, क्योंकि ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही है।

इसी बात को यहाँ आचार्यश्री दोहराते हैं। यहाँ आचार्यश्री कहते हैं कि धर्मास्तिकाय यानी धर्मास्तिकाय सम्बन्धी विकल्प, अधर्मास्तिकाय यानी अधर्मास्तिकाय सम्बन्धी विकल्प, आकाश, सूत्र, अंग, पूर्व और देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी पर्याय तथा अन्य समग्र परिग्रह ज्ञानी के ज्ञेय हैं। इनमें अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी की परिग्रहबुद्धि नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २१२–२१४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२५–२२७

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।212।।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।213।।

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ।।214।।

भावानुवाद : *इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी भोजन की इच्छा नहीं रखता। इसलिये वह भोजन का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी पेय की इच्छा नहीं रखता। इसलिये वह पेय पदार्थों का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। ज्ञानी अन्य विविध प्रकार के सभी भावों की इच्छा नहीं रखता। सर्वत्र निरालम्ब और नियत ज्ञायक भाव ही है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता

है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अभिप्राय में इच्छारहित होना सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता भी है। अर्थात् जिसे आत्मप्राप्ति करनी है, उसे पहले इच्छारहित होने का पुरुषार्थ बारह भावनाओं के माध्यम से करना चाहिये।

ऐसे इच्छारहित ज्ञानी को अभिप्राय में न खाने की इच्छा होती है, न पीने की इच्छा होती है, न ही अन्य किसी प्रकार की इच्छा होती है, क्योंकि ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है और ज्ञानी को खाना–पीना झंझट भी लगते हैं। इसलिये वह यथाशीघ्र शरीर से मुक्ति पाने का ही पुरुषार्थ करता है। अन्य अपेक्षा से ज्ञानी के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ त्यागना बचा है। इसलिये वह अभिप्राय में खाने–पीने इत्यादि की कोई भी इच्छा नहीं रखता। सभी क्रियाओं का वह अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही है, ज्ञायक ही है।

वह ज्ञायक यानी सर्वत्र निरालम्ब नियत ज्ञानसामान्यभावस्वरूप ही है। इसी से उसकी निर्जरा होती है। ज्ञानी को अपने ज्ञायक भाव के अलावा अन्य किसी भी भाव का आलम्बन नहीं होता। इसी वजह से उसे निरालम्ब कहा गया है। सभी को वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करके यही पाना है, यह उपदेश है।

यहाँ आचार्यश्री ने यह बताया है कि ज्ञानी को अभिप्राय में खाने–पीने की इच्छा नहीं होती। इसलिये ज्ञानी खान–पान का ज्ञाताद्रष्टा (ज्ञायक) होता है। आचार्यश्री ने यह नहीं कहा कि ज्ञानी खाने–पीने की इच्छा करते हुए उसका ज्ञायक होता है, क्योंकि इच्छा करना तो कर्तृत्वबुद्धि (करने लायक मानना) है; जबकि जो जीव ज्ञाताद्रष्टा होता है वह कर्ता नहीं होता और जो जीव कर्ता होता है वह ज्ञाताद्रष्टा नहीं होता। ज्ञानी के चारित्रमोह के उदयवश मजबूरी में हुई खाने–पीने की इच्छा को देखकर अज्ञानी बिना ज्ञानी के अभिप्राय को समझे ऐसा मान लेता है कि इच्छा छोड़ने की जरूरत नहीं है, मात्र उसका ज्ञायक रहने की जरूरत है। इस कारण इच्छा के प्रति उसकी उपादेय बुद्धि बनी रहती है। उसका सद्भाव होने के कारण चेष्टा करने पर भी अज्ञानी के ज्ञाताद्रष्टा भाव उत्पन्न नहीं हो पाता, क्योंकि अज्ञानी राग का नियम से कर्ता और ज्ञानी राग का नियम से अकर्ता है—यह आगम वचन है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २१५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२८

उप्पण्णोदयभोगो वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ।।215।।

भावानुवाद : *ज्ञानी को जो उत्पन्न उदय का भोग है वह सदा वियोगबुद्धि (वैराग्यबुद्धि) से होता है तथा ज्ञानी आगामी उदय की आकांक्षा नहीं करता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये उसके अभिप्राय में समग्र जगत से वैराग्यबुद्धि होती है।

ज्ञानी का शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से और कर्मों के उदय के कारण भोग–उपभोग होते हैं। ज्ञानी को भोगों में रति–अरति होती है परन्तु ज्ञानी के अभिप्राय में भोग–उपभोग की कोई माँग नहीं होती, क्योंकि ज्ञानी को अभिप्राय में सदा उनसे वियोगबुद्धि यानी वैराग्यबुद्धि होती है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ छोड़ना बचा है। अत : ज्ञानी के अभिप्राय में आगामी उदय की आकांक्षा भी नहीं होती। इसलिये ज्ञानी को भोग भोगते हुए भी निर्जरा होती है।

अज्ञानी को संसार की कामनाएँ तो होती ही हैं, साथ ही धर्मक्षेत्र से जुड़ी हुई माँगें भी बनी रहती हैं। जैसे किसी को धर्म के नाम पर पुण्य अर्जित करके देवगति की इच्छा होती है, या किसी को महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेने की कामना होती है। इसके विपरीत, ज्ञानी के अभिप्राय में किसी भी प्रकार की माँग नहीं होती।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २१६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१३

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उहयं पि ण कंखदि कयावि ।।216।।

भावानुवाद : *जो भाव वेदन करता है और जो भाव वेदित होता है वे दोनों भाव समय–समय पर नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी ऐसा जानकर उन दोनों की आकांक्षा कभी भी नहीं करता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसे ज्ञानी कहा जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अज्ञानी जीव का मैंपन पर्याय में होता है। इसलिये वह पर्यायदृष्टि है। ज्ञानी का मैंपन द्रव्य में होता है। इसलिये वह द्रव्यदृष्टि है। अतः वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है।

पर्याय सदैव बदलती रहती है। ज्ञानी की पर्याय में जो राग-द्वेष होता है, वह उसका ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। ज्ञानी के राग-द्वेष का ज्ञान ज्ञानी की पर्याय करती है। वे राग-द्वेष के परिणाम वेदित होते भाव हैं। और जो ज्ञान की पर्याय है, वह वेदन करता हुआ भाव है। दोनों पर्याय होने से समय-समय पर विनाश को प्राप्त होते हैं। ज्ञानी स्वयं को अविनाशी ज्ञायकभाव के रूप में अनुभव करता है। इसलिये उसे समय-समय पर नष्ट होनेवाले भावों की आकांक्षा नहीं होती।

दूसरे, ज्ञानी का अभिप्राय की अपेक्षा से स्व-स्वामित्व सम्बन्ध एकमात्र ज्ञायक भाव से ही है। समय-समय पर नष्ट होनेवाले, वेदन करते हुए और वेदित होते हुए भावों से नहीं। अतः ज्ञानी उन दोनों भावों की आकांक्षा नहीं करता। ज्ञानी का मैंपन द्रव्यरूप ज्ञायकभाव में ही होता है, पर्यायरूप ज्ञेय और ज्ञायकभाव में नहीं। वेदन करता हुआ भाव भी पर्यायरूप जाननेवाला भाव है, विशेषभाव है, विनश्वरभाव है। इसलिये ज्ञानी अपने अभिप्राय में पर्यायरूप भावों की आकांक्षा कभी भी नहीं करता।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २१७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २१४

बन्धुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥217॥

भावानुवाद : *बन्ध और उपभोग के निमित्त से संसार और देह सम्बन्धी अध्यवसान के उदय में ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसे ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे ज्ञानी को चारित्रमोहनीय कर्मों के उदय

के निमित्त से संसार और देहसम्बन्धी भोगोपभोग के भाव होते हैं। उन्हें ही अध्यवसान का उदय कहा हैं। वैसे अध्यवसान के निमित्त से नया बन्ध भी होता है।

इस प्रकार ज्ञानी को बन्ध और उपभोग के निमित्त से संसार और देह सम्बन्धी जो अध्यवसान होते हैं, वे पर्यायस्वरूप हैं। उनसे ज्ञानी को राग–द्वेष होते हैं, वे भी पर्याय स्वरूप हैं। परन्तु ज्ञानी का मैंपन द्रव्य में होने से वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अपेक्षा से ज्ञानी अपने राग–द्वेष का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं।

इस अपेक्षा से यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता यानी शुद्धात्मा में राग उत्पन्न नहीं होता। बिना आत्मज्ञान के यदि कोई अज्ञानी ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से ऐसा मान ले कि 'जीव में राग होता ही नहीं है' या 'मैं शुद्धात्मा हूँ, मुझमें राग–द्वेष नहीं हैं' तो ऐसी भ्रमयुक्त मान्यता उस जीव के लिये घातक सिद्ध होगी। अर्थात् उसका अनन्त संसार बढ़ानेवाली होगी। इसलिये सभी को ऐसी भ्रमयुक्त मान्यता से बचना चाहिये। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २१८–२१९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २२९–२३०

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ।।218।।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ।।219।।

भावानुवाद : *ज्ञानी सभी द्रव्यों के प्रति राग को त्यागनेवाला है। कर्मों के मध्य में रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता। जैसे सोना कीचड़ में (गिरकर भी लिप्त नहीं होता)। परन्तु अज्ञानी सभी द्रव्यों के प्रति रागी है। वह कर्मों के मध्य में रहकर कर्मरज से लिप्त रहता है, जैसे लोहा कीचड़ में।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता

है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि शुद्धात्मा में राग का अभाव होने के कारण अर्थात् समस्त विशेषभावों के अभाव के कारण ज्ञानी राग का त्यागी होता है। ज्ञानी को अपने अभिप्राय में न कुछ त्यागना बचा है और न कुछ ग्रहण करना बाक़ी है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अबन्ध स्वरूप होता है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी, कर्म के बीच स्थित होने पर भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता जैसे सोना कीचड़ में गिरने पर भी कीचड़ से लिप्त नहीं होता।

जबकि अज्ञानी का मैंपन पर्याय में ही होता है। इसलिये वह पर्याय का कर्ता है। अतएव अभिप्राय की अपेक्षा से वह सभी द्रव्यों के प्रति रागी है। और वह कर्मों के बीच में रहता हुआ कीचड़ में पड़े लोहे के समान कर्मों से लिप्त होता है। जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा लोहा ज़ंग खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मों के बीच रहता हुआ, अपनी पर्याय का कर्ताभोक्ता होने से (ज्ञानी अपनी पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है और अज्ञानी कर्ताभोक्ता) कर्मरज से लिप्त हो जाता है यानी कर्मों को बाँधता है।

आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ परोक्ष रूप से यह उपदेश दे रहे हैं कि प्रत्येक साधक को यथाशीघ्र आत्मप्राप्ति कर राग के प्रति राग को त्यागना चाहिये। उसके लिये अपनी परमार्थ रूप शुद्धात्मा की अनुभूति करना आवश्यक है, न कि स्वयं को बौद्धिकरूप से भ्रमवश शुद्धात्मा मानकर उस ख़ुशफ़हमी में रहने की। उससे तो कई जीव निश्चयाभासी भी बन जाते हैं और दूसरों को भी ऐसा भ्रमित करनेवाला विपरीत उपदेश ही देते रहते हैं। क्योंकि उन्हें यह पता ही नहीं होता कि बहिरात्मा जीव बिना शुद्धात्मानुभूति प्राप्त किये बौद्धिक रीति से स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मान लेने मात्र से ही आत्मानुभूति नहीं कर लेता। इसलिये उपदेश सदैव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करने का होता है, न कि स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने का।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २३१

नागफणीए मूलं णागणितोएण गब्भणागेण ।
णागं होइ सुवण्णं धम्मत्तं भच्छथवाएण ।।

भावानुवाद : *नागफनी की जड़, हथिनी का मूत्र, सिन्दूर और सीसा – इन सबको धौंकनी से हवा देते हुए अग्नि पर तपाने से स्वर्ण निर्मित होता है।*

टीका : नागफनी की जड़, हथिनी का मूत्र, सिन्दूर और सीसा–इन सबको धौंकनी से हवा देते हुए अग्नि पर तपाने से स्वर्ण निर्मित होता है। यहाँ हमें यह समझना चाहिये कि यद्यपि स्वर्ण निर्माण की विधि तो दी गयी है परन्तु किस द्रव्य की कितनी मात्रा लगेगी, यह निर्दिष्ट नहीं किया गया है। इसलिये लोग चाहे इस विधि से लाख कोशिश करें, स्वर्ण बनना अन्ततः पुण्य के अधीन है।

इसी प्रकार लोगों को आत्मप्राप्ति में योग्यता, निश्चय–व्यवहार आदि का उचित प्रमाण ज्ञात न होने की वजह से वे स्वर्णसम शुद्धात्मा को नहीं पाते हैं। इसलिये जिसने स्वर्ण बनाया है वह अनुभवी ही बता सकता है कि स्वर्ण बनाने में नागफनी आदि द्रव्यों की कितनी मात्रा लगती है। इसी प्रकार आत्मानुभवी ही बता सकता है कि आत्मानुभूति के लिये निश्चय–व्यवहार की सन्धि क्या है। आचार्यश्री अगली दो गाथाओं में यही बात समझा रहे हैं।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २३२–२३३

कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया तह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ।।

झाणं हवेइ अग्गी तवचरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोगीहिं ।।

भावानुवाद : *कर्म को कीचड़, रागादि विभाव परिणामों को कालिमा, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को परम औषधि जानें। ध्यान अग्नि है, तपचारित्र धौंकनी है, जीव लोहा है। परमयोगियों द्वारा उसे धौंकना चाहिये ऐसा सम्यक् कथन है।*

टीका : कर्म को कीचड़ समझना चाहिये, रागादि विभावपरिणामों को कालिमा समझना चाहिये, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र को परम औषधि समझना चाहिये। ध्यान को अग्नि समझना चाहिये और तपचारित्र को धौंकनी समझना चाहिये और संसाररत जीव को उस अग्नि में तपनेवाला लोहा समझना चाहिये। ऐसे में परमयोगियों को चाहिये कि वे अपने लौहस्वरूप जीव को धौंककर शुद्ध स्वर्णवत् बना दें—यही सम्यक् कथन है।

उपरोक्त गाथा के रूपक को लेकर इन दो गाथाओ में कहा है कि अशुद्ध जीव लोहे के समान है। वह अभी कर्मरूपी कीचड़ में फँसा हुआ है। वह कर्मों के निमित्त से रागादि विभाव परिणाम करता है। उन रागादि परिणामों को जीव के लिए कालिमा बताया गया है। रागादि विभाव परिणाम के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र को परम औषधि बताया गया है, क्योंकि यही जिनवरों द्वारा बताया गया मोक्षमार्ग है।

उस मोक्षमार्ग में ध्यानरूप अग्नि से कर्मों की निर्जरा होती है। चूँकि तपश्चर्या से ध्यान को बल मिलता है अतः उसे धौंकनी कहा गया है। यहाँ बताया गया है कि अनुभवी पुरुष अपनी आत्मा को शुद्धात्मा के घ्यान से तपाते हुए बीच-बीच में तपरूपी धौंकनी से धौंककर अपनी आत्मा को शुद्ध स्वर्णवत् बना दें यानी सिद्ध बना दें, यह सम्यक् कथन है। जो ध्यान यहाँ बताया है, वह सिर्फ़ धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के रूप में ही होता है-अन्य कोई नहीं। यहाँ ज्ञानी को परमयोगी बताया गया है, क्योंकि ज्ञानी ने ही परम पारिणामिक भावरूप शुद्धात्मा का अनुभव किया है। अतः ज्ञानी ही आत्मा का डॉक्टर है। इसलिये अज्ञानी को किसी ज्ञानी के मार्गदर्शनरूपी धौंकनी से अपनी आत्मा को धौंकनी चाहिये—ऐसा आचार्यश्री गर्भितरूप से बताते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २२०-२२३ -
आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २३४, २३५, २३६, २३८

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥220॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंज्जंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥221॥

जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥222॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं सयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥223॥

भावानुवाद : *जैसे शंख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को खाता है, तथापि उसके श्वेतत्व को काला करना शक्य नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगता है फिर भी उसका ज्ञान अज्ञान में परिवर्तित नहीं होता। जब वही शंख अपने श्वेत स्वभाव को त्यागकर कृष्ण भाव को प्राप्त होता है, तब वह शुक्लत्व को छोड़ देता है। उसी प्रकार ज्ञानी भी जब अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणत होता है, तब वह अज्ञानता को प्राप्त होता है।*

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २३७

जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ।।

भावानुवाद : *जिस प्रकार पुद्गल शंख जब सफेदी छोड़कर कालापन ग्रहण करता है, तब वह सफ़ेदी छोड़ देता है।*

टीका : यहाँ आचार्यश्री शंख का उदाहरण देकर ज्ञानी की बात समझा रहे हैं। जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से उसका मैंपन और मेरापन सिर्फ़ अपनी शुद्धात्मा में ही होता है।

जैसे शंख सचित्त, अचित्त और मिश्र आहार ग्रहण करता है, वैसे ही ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का भोगोपभोग करता है। ज्ञानी उन द्रव्यों के भोगोपभोग की आवश्यकता को रोग समान मानता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से शरीर में और आहारादि में मैंपन और मेरापन नहीं करता। इससे उसका ज्ञान अज्ञान में परिवर्तित नहीं होता। इसलिये जैसे शंख अपनी सफ़ेदी नहीं छोड़ता वैसे ही ज्ञानी अपना ज्ञानस्वरूप नहीं छोड़ता, अज्ञानरूप नहीं परिणमता।

परन्तु जैसे शंख स्वयं ही अपने स्वभाव को छोड़कर काला हो जाता है, उसी प्रकार यदि ज्ञानी किसी निमित्तवश अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप से परिणमता है, तब वह अज्ञानता को प्राप्त होता है। यहाँ आचार्यश्री साधक को सावधान कर रहे हैं, क्योंकि जब तक जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं पाता, तब तक उसके पतन का मार्ग खुला है। अर्थात् वह किसी निमित्तवश या कर्मों के उदय के निमित्त से सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्वी हो सकता है। इसलिये सभी साधकों को सावधान रहना चाहिये और कमज़ोर करनेवाले निमित्तों से दूर ही रहना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २२४-२२७ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २३९-२४२

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं ।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ।।224।।

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए ।।225।।

जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ।।226।।

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं ।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए ।।227।।

भावानुवाद : *जैसे इस जगत में कोई भी पुरुष आजीविका के लिये राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग देता है। इसी प्रकार जीव पुरुष सुख के लिये कर्मरज (कर्मराजा) की सेवा करता है तो वह कर्म भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग देता है। यदि वही पुरुष आजीविका के लिये राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग नहीं देता। चूँकि सम्यग्दृष्टि विषय के लिये कर्मरज की सेवा नहीं करता, कर्म भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग नहीं देता।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को भोग भोगने का कोई भाव नहीं होता।

ज्ञातव्य है कि जगत में लोग जीवनयापन हेतु अपनी सेवाएँ सरकारी अथवा ग़ैरसरकारी संस्थानों में देते हैं और उसके ऐवज में मिले धन से सुख उत्पन्न करनेवाली भोगोपभोग की सामग्री जुटाते हैं। अर्थात् यहाँ कहे अनुसार राजा अपने सेवकों और कर्मचारियों को अनेक सुख उत्पन्न करनेवाले भोग देता है। इसी तर्क से आचार्यश्री कहते हैं कि जीव जब सुख के लिये कर्मरज की

सेवा करता है अर्थात् सुखप्राप्ति के आशय से पुण्यार्जन करता है, तब वह कर्म भी उस जीव को सुख उत्पन्न करनेवाले भोग देता है। यह धारणा और माँग अज्ञानी जीव की पहचान है, क्योंकि अज्ञानी जीव ही अज्ञानवश भोगोपभोग में सुख मानकर उनकी अभिलाषा करता है। अतः वह भोगोपभोग की प्राप्ति को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर पुण्यार्जन के लिये धर्मक्रियाएँ करता है।

जबकि ज्ञानी को अभिप्राय में विषयों की कामना नहीं होती, क्योंकि निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, उसे ही ज्ञानी का अभिप्राय कहा जाता है। उसका एकमात्र लक्ष्य आत्मस्थिरता ही होता है, क्योंकि उसे मालूम है कि आत्मस्थिरता ही मुक्ति का मार्ग है। इसलिये वह उस पुरुष के जैसा है कि जो आजीविका के लिये राजा की सेवा नहीं करता तो राजा भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले भोग नहीं देता। ज्ञानी भी विषयसेवन के लिये, सुखबुद्धि से, इन्द्रियसुख पाने के लिये धर्म नहीं करता। इन्द्रियसुख की प्राप्ति उसका लक्ष्य ही नहीं होता। इसलिये कर्म भी उसे संसाररूपी दलदल में फँसानेवाले सुख नहीं देते और उसे पूर्व पुण्य के कारण जो भी इन्द्रियजन्य सुख की प्राप्ति होती है उसे भी वो ज्ञाताद्रष्टा रहकर रोग के औषध के रूप में भोगता है।

यहाँ आचार्यश्री परोक्षरूप से बताते हैं कि धर्म से भोगों की कामना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उससे जीव का दु:खमय संसार ही बढ़ेगा। जबकि धर्म से तो अनन्तकाल तक चलनेवाले अव्याबाध सुख का ही लक्ष्य रहता है। धर्म का उत्कृष्ट फल वही है। इसलिये सभी साधकों को सिर्फ़ आत्मप्राप्ति और तत्पश्चात् आत्मस्थिरता के लक्ष्य को लेकर ही धर्म का आचरण करना चाहिये, न कि भोग और उपभोग की प्राप्ति हेतु। मोक्षमार्गस्थित जीव को जब तक मोक्ष नहीं मिलता, तब तक उसे सहज ही उत्तम भोग और उपभोग मिलते रहते हैं, क्योंकि वह पुण्यार्जन के लिये धर्म नहीं करता परन्तु उसे प्रतिफल के रूप में सहज ही उत्तम पुण्य होता है। जैसे गेहूँ बोने पर घास मुफ़्त में मिलती है वैसे।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २२८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४३

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।228।।

भावानुवाद : *सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंक और निर्भय होता है। चूँकि वह सात भयों से मुक्त होता है। इसलिये वह नि:शंक होता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। उसका मैंपन निर्विकल्प शुद्धात्मा में होने के कारण उसके अभिप्राय में सात प्रकार के भय नहीं होते—इसलोक का भय, परलोक का भय, मृत्यु का भय, व्याधि का भय, अगुप्ति का भय, अत्राण (अशरण) का भय, अकस्मात का भय। इसलिये यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव सप्तभयों से मुक्त होता है।

ये सभी भय और शंकाएँ पर्याय में होते हैं, द्रव्य में नहीं। चूँकि सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ द्रव्य में ही होता है, पर्याय का तो वह अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है; इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव सात भयों से मुक्त होता है। इसी कारण से वह अभिप्राय की अपेक्षा से निःशंक और निर्भय होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २२९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४४

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबन्धमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।229।।

भावानुवाद : *जो जीव कर्मबन्धसम्बन्धी मोह उत्पन्न करनेवाले चार स्तम्भों का छेदन करता है उसे निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। अनादिकाल से जीव चार भावास्रवरुप से परिणम रहा है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये सभी भावास्रव पर्याय में होते हैं, द्रव्य में नहीं। द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध ही है।

सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्व नामक भावास्रव का अभाव हो गया है। अन्य तीन भावास्रव

सम्यग्दृष्टि जीव की पर्याय में हो सकते हैं परन्तु पर्याय में उसका मैंपन न होने से यहाँ आत्मानुभूति अपेक्षा से कहा गया है कि 'जिस जीवने कर्मबन्धसम्बन्धी मोह उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्वादि चारों भावास्रवों का छेदन किया है वह जीव नि:शंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये'। यह बात सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धात्मा में मैंपन की अपेक्षा से बतायी गयी है, क्योंकि शुद्धात्मा में चारों भावास्रवों का अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में इन चारों भावास्रवों का अभाव होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन द्रव्य में अर्थात् सामान्यभाव में होता है, जबकि शंका आदि भाव पर्याय रूप विशेषभाव हैं। अतः सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में शंका आदि भाव नहीं होते। इसी कारण ऐसे जीव को नि:शंक कहा जाता है। यह शास्त्र अध्यात्मप्रधान होने के कारण, आचार्यश्री ने गाथा क्रमांक पाँच में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'इस शास्त्र की प्रमाणता आत्मानुभूति से ही सिद्ध करें, अन्यथा भ्रमित होकर छले जा सकते हैं।' आज इस शास्त्र के विविध अर्थघटनों से जो भ्रान्तियाँ फैल रही हैं, उन्हें देखकर यह आशंका बिलकुल सही प्रतीत होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४५

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु ।
सो णिकंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।230।।

भावानुवाद : *जो जीव कर्मफल के प्रति और सर्वधर्म के प्रति कांक्षा नहीं करता, उसे निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अपेक्षा से यहाँ बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव भोगरूप शरीर के सर्वधर्म और भोगादि देनेवाले कर्मफल की कांक्षा नहीं करता।

जिस जीव के अभिप्राय में पर की आकांक्षा होती है, वह बहिरात्मा कहलाता है क्योंकि आकांक्षा उसे बाहर की ओर ले जाती है। उसका उपयोग आत्मसन्मुख नहीं होता, परसन्मुख होता है। इसलिये वह मिथ्यात्वी होता है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव को अभिप्राय की अपेक्षा से कर्मफल की कांक्षा नहीं होती और न ही वह सांसारिक फल प्राप्ति के लिये धर्मक्रियाओं को करता है, वह एकमात्र आत्मस्थिरता के लिये ही धर्मक्रियाओं को करता है। इसलिये उसे कांक्षारहित कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि का मैंपन द्रव्यरूप सामान्यभाव में ही होने से वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्यायरूप विशेषभाव का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इस अपेक्षा से भी यहाँ बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव कांक्षारहित होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को धर्मक्रिया के फलस्वरूप देवादि भवों के सुख की कामना नहीं होती और न ही विदेह क्षेत्र में जन्म लेने की कामना होती है। इसलिये उसे निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४६

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिंच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।231।।

भावानुवाद : *जो जीव सभी धर्मों के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं रखता उसे निश्चय से निर्विचिकित्सक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।*

टीका : सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। इस अभिप्राय की अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव शरीर के भूख, प्यास, गर्मी, ठण्ड, बारिश, मलमूत्र इत्यादि धर्मों के प्रति जुगुप्सा नहीं रखता व इन्हें अपना कर्मफल मानते हुए भोग लेता है और नये कर्म नहीं बाँधता।

सम्यग्दृष्टि का मैंपन द्रव्यरूप सामान्यभाव में होने से वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्यायरूप विशेषभाव का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इस अपेक्षा से भी यह बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव विचिकित्सा दोषरहित होता है। इस प्रकार यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सत्व समझाया गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में को कोई सम्प्रदाय विशेष का भी आग्रह नहीं होता। सिर्फ़ सत्य का ही आग्रह होता है। फिर भी वह किसी भी धर्म के प्रति जुगुप्सा नहीं करता। बल्कि वह उसे अपना भूतकाल का प्रतिबिम्ब समझकर अपने भूतकाल के दोषों की माफ़ी माँगता है, भविष्य में ऐसे दोषों का सेवन न करने का निश्चय करता है और सामनेवाले को अपने भूतकाल के दोषों को याद करानेवाला उपकारी मानकर मन में धन्यवाद देता है। यह है सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४७

जो हवदि असंमूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।232।।

भावानुवाद : *जो जीव समस्त भावों के प्रति अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिसम्पन्न है, वास्तव में उसी को अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि मानना चाहिये।*

टीका : सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। मिथ्यात्व का उदय न होने से सम्यग्दृष्टि जीव मूढ़तारहित होता है। वह यथार्थ दृष्टिवाला होता है, उसका ज्ञान प्रमाण होता है। उसे द्रव्य और पर्याय दोनों का यथारूप ज्ञान होता है। इसलिये उसे यथार्थ दृष्टिसम्पन्न कहा जाता है। जब कोई जीव उसके ख़िलाफ़ अपराध करता है, तब वह सामनेवाले जीव को यथार्थदृष्टि से देखते हुए, उसे अपने कर्म की निर्जरा में मददगार मानकर मन में धन्यवाद देता है। सम्यग्दृष्टि जीव यथार्थदृष्टि से सामनेवाले जीव को अपने समान मानते हुए उसे अपने पुराने पापकर्मों की निर्जरा में सहायक मानता है और इस कारण से उसे धन्यवाद देता है।

सामनेवाले जीव को अपने भूतकाल का आईना मानकर वह अपने विगत पापों तथा दुष्कृत्यों के लिये क्षमा माँगता है और दृढ़ संकल्प करता है कि आगे वह ऐसे दुष्कृत्य पुनः कभी नहीं करेगा। इससे वह अपने आप को संस्कारित करते हुए अगले भव के लिये भी सुरक्षाकवच बना लेता है। यह है यथार्थदृष्टि से लाभ।

कई लोग कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामनेवाले को सिर्फ़ द्रव्यदृष्टि से ही देखता है। इसका

खण्डन स्वयं आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने यहाँ कर दिया है। इससे समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि जीव सामनेवाले को द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियों से, जैसा है वैसा देखता है। इसी को आचार्यश्री ने यहाँ यथार्थदृष्टि कहा है।

परन्तु कई लोग साधना के नाम पर आत्मानुभूति न होने के बावजूद साधक को कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा का ध्यान करने को कहते हैं। फलत: बिना आत्मानुभूति के वे भ्रम में रहने कारण न तो ज्ञाताद्रष्टा बन सकते हैं और न ही अपनी परिणति को सुधारने का कोई प्रयास कर पाते हैं, इससे वे मूढ़मति कहलाते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि मिथ्यादृष्टि अपने भावों का कर्ता होता है और अज्ञानवश वह अपने को पर के भावों का भी कर्ता मानता है। वे उस अज्ञानी को अपने सभी भावों का कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा बने रहने को कहते हैं, जो वह नहीं है।

उन्हें यह नहीं पता कि यह तो मूढ़ता ही है, क्योंकि उसे अपने भावों का बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) आदि से इलाज करना था। उसने वह मौक़ा गँवा दिया और अपना अनन्त दु:खमय संसार बढ़ा लिया। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४८

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।233।।

भावानुवाद : *जो जीव सिद्धों की भक्ति से युक्त है और समस्त धर्मों का उपगूहन करता है उसे उपगूहनकर्ता सम्यग्दृष्टि मानना चाहिये।*

टीका : सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये उसका यही अभिप्राय रहता है कि उसे अपनी शुद्धात्मा में स्थित हो जाना है। जैसी उसकी शुद्धात्मा है, वैसी ही शुद्धात्मा सिद्धों की है। इसलिये उसे आंशिक रूप से सिद्धसदृश आनन्द आता है। इसी को सिद्धों की भक्ति कहा जाता है, क्योंकि यहाँ सिद्धों की अभेद भक्ति की बात की गयी है। भक्तिमार्ग का सिरमौर अभेद भक्ति ही है।

सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना बचा है, न कुछ छोड़ना बचा है। अभेद भक्तिमार्ग का फल भी यही होता है। ऐसा होने पर भी वह अपनी पर्याय में जो भी कमी है, उसे ठीक करने का पुरुषार्थ आकुलतारहित होकर करता रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दृष्टि जीव को इस ग्रन्थ की गाथा ९ में श्रुतकेवली तक कह दिया है। उसे तो अपना पूरा लोक चिदाकाश के रूप में मिल गया है; वह अपने लोक का स्थायी राजा है। धर्म के फलस्वरूप इतनी महानता प्राप्त होने के बावजूद सम्यग्दृष्टि जीव इन बातों का गोपन करता है, अर्थात् छिपाता है। वह अपना महिमामण्डन नहीं करता। इसलिये उसे उपगूहनकर्ता सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३४ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २४९

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।234।।

भावानुवाद : *जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए अपनी आत्मा को (सच्चे) मार्ग में स्थापित करता है, उसे स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।*

टीका : सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये उसके अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना बचा है और न कुछ छोड़ना बचा है। ऐसा होने पर भी कर्मोदय के निमित्त से उसके जो विभाव होते हैं, उन्हें बिना आकुलता के सहते हुए उनसे बचने का, उन्हें सँवारने का, सुधारने का पुरुषार्थ जारी रखता है। यही अपने आप को उन्मार्ग से बचाकर सन्मार्ग में स्थापित करना कहा जाता है यानी स्थितिकरण कहा जाता है। इसे धर्मध्यान भी कह सकते है। सदैव आत्मा का ऐसा ध्यान रखना कि वह मोक्षमार्ग से पतित न हो—यही धर्मध्यान है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव को कोई विपरीत संयोग मिलता है, तब वह न बहकते हुए मैत्री आदि चार भावना, अनित्य आदि बारह भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) करता रहता है। यही सम्यग्दृष्टि जीव का धर्मध्यान भी है। उन्मार्गी न बनकर वह स्वयं को सन्मार्ग में स्थापित करता है और सामनेवाले जीव को अपने कर्मों की निर्जरा में उपकारी मानकर उन्हें अपने मन में धन्यवाद देता है, अपने पुराने दुष्कृत्यों के लिये माफ़ी माँगता है और आगे उन्हें नहीं दोहराने का दृढ़ निश्चय करता है, जिससे वह अपने मन को संस्कारित करता रहता है, जो संस्कार

अगले भव में भी उसका साथ निभायेंगे। इसलिये उसे स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २५०

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।235।।

भावानुवाद : *जो जीव मोक्षमार्गरूपी (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र)–इन तीनों में स्थित साधु के प्रति वात्सल्य रखता है, उसे वात्सल्यभाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।*

टीका : सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में स्थित जीव का मैंपन, ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उस शुद्धात्मा में समस्त गुण विद्यमान होते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को अभेद रूप से सभी गुणों का अनुभव है–ऐसा कहा जा सकता है। इसी लिये आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक २ में स्वसमय की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि जो जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है, वह स्वसमय है। यह बात उन्होंने गुणों की अपेक्षा से कही है।

वर्तमान गाथा में यही बात पर्याय की अपेक्षा से बतायी गयी है, क्योंकि साधु अपनी पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र–इन तीनों में स्थित होकर गुणश्रेणीवाली निर्जरा करते हुए मोक्ष की साधना करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव का भी लक्ष्य यही होता है। इसलिये ऐसे जीवों के प्रति उसका सहज वात्सल्य भाव बना रहता है। अतः उसे वात्सल्यभाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीव सभी जीवों को अपने समान यानी आत्मवत् जानता है। इसलिये उसका सभी जीवों के प्रति भी वात्सल्य बना रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २५१

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।236।।

भावानुवाद : *जो आत्मा विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मनोरथ के मार्ग में भ्रमण करती है, उसे जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

यहाँ कहा गया है कि जो जीव आत्मज्ञानरूपी—विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मनोरथ के मार्ग में भ्रमण करता है, उसे जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। यहाँ मनोरथ का तात्पर्य संकल्प से है। वह मोक्षमार्ग के अनुकूल संकल्प करता है। जैसे कि, मैं आत्मस्थिरता पाने के लिये कायोत्सर्ग, आत्मध्यान आदि करूँ।

जब जीव वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त कर लेता है और पर की इच्छाओं से विरत हो जाता है, तब जाकर उस जीव की परसन्मुखता ख़त्म होती है और वह आत्मसन्मुख बनता है। बाद में उसे आत्मानुभूति होती है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। वैसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न तो कुछ ग्रहण करना शेष रह जाता है, और न ही कुछ त्यागना। ऐसा सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला होता है।



निर्जरा अधिकार का उपसंहार

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव को भोग में भी निर्जरा होती है, क्योंकि उसके अभिप्राय में भोग की कोई वाँच्छा नहीं होती। जैसे वैद्य औषध के रूप में विष का प्रयोग करते हैं फिर भी नहीं मरते, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भोग भोगता है फिर भी अभिप्राय की अपेक्षा से नहीं बँधता। सम्यग्दृष्टि विषयों का सेवन करते हुए भी अभिप्राय की अपेक्षा से सेवन नहीं करता। सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी राग विद्यमान न होने से उसे भोग में भी निर्जरा होती है और उसे अपरिग्रही भी माना जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा वस्तु भोगे जाने पर नियम से सुख या दुःख उत्पन्न होता है। उदय में आये उस सुख-दुःख का वेदन होने के बाद उसकी निर्जरा हो जाती है। इसलिये कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मोदय से जो भी सुख-दुःख होते हैं उनसे अभिप्राय की अपेक्षा से निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता। जबकि अज्ञानी जीव अपनी पर्याय का कर्ता होता है। इसलिये उसे उदय में आये उस सुख-दुःख का अनुभव होने से राग-द्वेष होते हैं। अतः अज्ञानी को कर्मबन्ध होता है।

जिस प्रकार वैद्य विष का सेवन करके भी मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गलकर्म के उदय को भोगता है, फिर भी नहीं बँधता। अनुभवी वैद्य को पता होता है कि रोगों के इलाज के लिये ज़हर की मात्रा कितनी लेनी चाहिये और साथ में उसे काटनेवाली दवा कौन-सी लेनी चाहिये। इसलिये वह कई असाध्य रोगों के इलाज के लिये ज़हर का भी दवा के रूप में प्रयोग करता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि वैद्य विष खाकर भी नहीं मरता। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने वैद्य का उदाहरण देकर ज्ञानी की स्थिति समझायी है। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़

ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अर्थात् अपनी कमज़ोरी के कारण औषध के रूप में ज्ञानी पुद्गलों को भोगता है। परन्तु उस भाव में न तो उसका मैंपन है, और अभिप्राय की अपेक्षा से न ही उस भाव का कोई कर्तृत्व या भोक्तृत्व है। न ही उसका पर को भोगने का अभिप्राय है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी पुद्गलकर्म के उदय को भोगता है, फिर भी बँधता नहीं है।

जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार के कर्मों के उदय का फल विविध प्रकार का बताया है। उस फल की प्राप्ति जीव को पर्याय में होती है। परन्तु ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ द्रव्य में ही होता है, पर्याय में नहीं। इसलिये आचार्यश्री अभिप्राय की अपेक्षा से बताते हैं कि 'यह कर्मों के विपाकरूप विविध प्रकार के भाव मेरा स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायक भाव ही हूँ', ऐसा ज्ञानी जानता है। क्योंकि ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञायकभाव में ही होता है, पर्याय में नहीं।

वास्तव में जिस जीव के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो फिर भी आत्मा को (अनुभवपूर्वक) नहीं जानता। और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता है। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मानुभूति करता है, तब वह जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है। उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उस आत्मानुभूतिरूप शुद्धात्मा में लेशमात्र भी राग–द्वेष नहीं होता। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द यहाँ बता रहे हैं कि जिस जीव के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान हैं अर्थात् जिस जीव का रागादिभावों में अभिप्राय की अपेक्षा से मैंपन है, वह भले ही समस्त आगमों का ज्ञाता हो, फिर भी वह आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप से नहीं जानता। उसे आत्मानुभूति नहीं है। अतः वह अज्ञानी है।

चूँकि शुद्धात्मा में परमाणुमात्र राग भी नहीं होता। इसलिये उसकी अनुभूति करनेवाले जीव के अभिप्राय में परमाणुमात्र भी रागादिभाव विद्यमान नहीं होते। फिर यदि कोई ग़लत अर्थघटन के कारण स्वयं को बिना आत्मानुभूति के ही बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मानता हो यानी भ्रम पालता तो वह अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मार रहा है अर्थात् भ्रम पालकर अपना ही अनन्त दुःखमय संसार बढ़ा रहा है।

आत्मा के अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़कर नियत, स्थिर, एक, स्वभावरूप से जो अनुभव किया जाता है। उसे अनुभवपूर्वक ग्रहण करें। जो भाव सम्यग्दृष्टि की आत्मानुभूति में नहीं है, उसे आचार्यश्री आत्मा के लिये अपदभूत भाव बताते हैं। अर्थात् उन भावों में मैंपन करने योग्य

नहीं है, क्योंकि वे आत्मा के त्रिकालभाव नहीं हैं, क्षणिकभाव हैं। इसलिये आचार्यश्री उन भावों को ग्रहण करने योग्य नहीं मानते हैं, मैंपन करने योग्य नहीं मानते हैं—अपदभूत मानते हैं।

इसलिये उन्हें त्यागने के लिये कहा गया है। त्याग की विधि यह है कि वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त की जाये, न कि स्वयं को मात्र बौद्धिकरूप से ही भ्रमवश वैसी शुद्धात्मा मान लिया जाये और उस ख़ुशफ़हमी में रहा जाय। सम्यग्दृष्टि का 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। यह भाव नियत है अर्थात् सदैव एकरूप है, त्रिकाल स्थिर है और एक अभेद स्वभावरूप होता है। उसी को ग्रहण करने के लिये कहा गया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। इससे ग़लत अर्थघटन करके यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्धिक रीति से अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़ने से ही जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है, क्योंकि यहाँ बौद्धिक रीति से अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़ने की बात ही नहीं है, परन्तु शुद्धात्मा के अनुभवपूर्वक अपदभूत द्रव्यभावों को छोड़ने की बात है।

अभिप्राय की अपेक्षा से इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है और ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से धर्म की इच्छा नहीं करता। इसलिये वह धर्म का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है और ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अधर्म की इच्छा नहीं करता। इसलिये वह अधर्म का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। इस इच्छारहितता में सभी धर्म यानी धार्मिक क्रियाएँ और सम्प्रदाय भी आ जाते हैं। ज्ञानी को सत्य का आग्रह होता है, सम्प्रदाय का नहीं। उसे आत्मानुभूति का ही आग्रह होता है। अभिप्राय की अपेक्षा से उसके सिवा अन्य किसी भी धर्मक्रिया का आग्रह नहीं होता। इसलिये आचार्यश्री बताते हैं कि ज्ञानी धर्म की भी इच्छा नहीं रखता। अतः अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को धर्म का परिग्रह नहीं है, वह सिर्फ़ धर्म का ज्ञायक ही है। दूसरे, ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ज्ञानसामान्यभाव में कोई भी विशेषभाव नहीं होता। इसलिये उसमें धर्म और अधर्म के विकल्प नहीं होते। इस अपेक्षा से भी ज्ञानी धर्म या अधर्म की इच्छा नहीं करता। अतः अभिप्राय की अपेक्षा से वह धर्म या अधर्म का परिग्रही नहीं है।

आचार्यश्री आगे बताते हैं कि अभिप्राय की अपेक्षा से इच्छारहित व्यक्ति अपरिग्रही होता है। यह ज्ञानी का लक्षण बताया गया हैं, क्योंकि इच्छारहित होने पर ही उपयोग आत्मसन्मुख होता है और पर्याय रूप उपयोग द्रव्यरूप उपयोग में लगता है। अर्थात् आत्मानुभूति होती है। ऐसा ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से न ही सम्प्रदाय की इच्छा रखता है और न ही आत्मधर्म से रहित होता है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी न ही धर्मक्रिया की इच्छा रखता है और न ही स्वयं को धर्मस्वरूप से पृथक् रखता है यानी अधर्म की इच्छा नहीं करता। न ही अधर्म में

रहना चाहता है अर्थात् ज्ञानी का धर्मस्वरूप में यानी ज्ञानसामान्यरूप शुद्धात्मा में सदैव मैंपन और मेरापन का अभिप्राय बना रहता है।

अभिप्राय की अपेक्षा से इच्छारहित को अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से भोजन की इच्छा नहीं रखता। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से भोजन का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से पेय की इच्छा नहीं रखता। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पेय पदार्थों का परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी अन्य विविध प्रकार के सभी भावों की इच्छा नहीं रखता। अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वत्र निरालम्ब और नियत ज्ञायक भाव ही है। ऐसे इच्छारहित ज्ञानी को अभिप्राय में न खाने की इच्छा होती है, न पीने की इच्छा होती है, न ही अन्य किसी प्रकार की इच्छा होती है, क्योंकि ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है और पर्याय में ज्ञानी को खाना–पीना झंझट भी लगते हैं। इसलिये वह यथाशीघ्र शरीर से मुक्ति पाने का ही पुरुषार्थ करता है। अन्य अपेक्षा से ज्ञानी के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ त्यागना बचा है। इसलिये वह अभिप्राय में खाने–पीने इत्यादि की कोई भी इच्छा नहीं रखता। सभी क्रियाओं का वह अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही है, ज्ञायक ही है।

अभिप्राय की अपेक्षा से वह ज्ञायक यानी सर्वत्र निरालम्ब नियत ज्ञानसामान्यभावस्वरूप ही है। इसी से उसकी निर्जरा होती है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को अपने ज्ञायक भाव के अलावा अन्य किसी भी भाव का आलम्बन नहीं होता। इसी वजह से उसे निरालम्ब कहा गया है। सभी को वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करके यही पाना है, यह उपदेश है। अज्ञानी को संसार की कामनाएँ तो होती ही हैं, साथ ही धर्मक्षेत्र से जुड़ी हुई माँगें भी बनी रहती हैं–जैसे किसी को धर्म के नाम पर पुण्य अर्जित करके देवगति की इच्छा होती है, या किसी को महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेने की कामना होती है। इसके विपरीत, ज्ञानी के अभिप्राय में किसी भी प्रकार की माँग नहीं होती।

अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को जो उत्पन्न उदय का भोग है वह सदा वियोगबुद्धि (वैराग्यबुद्धि) से होता है तथा अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी आगामी उदय की आकांक्षा नहीं करता। अतः अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी सभी द्रव्यों के प्रति राग को त्यागनेवाला है। अभिप्राय की अपेक्षा से कर्मों के मध्य में रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता। जैसे सोना कीचड़ में गिरकर भी लिप्त नहीं होता। परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से अज्ञानी सभी द्रव्यों के प्रति रागी है। वह अभिप्राय की अपेक्षा से कर्मों के मध्य में रहकर कर्मरज से लिप्त रहता है, जैसे लोहा कीचड़ में।

ज्ञानी को अभिप्राय में विषयों की कामना नहीं होती। उसका एकमात्र लक्ष्य आत्मस्थिरता ही होता है, क्योंकि उसे मालूम है कि आत्मस्थिरता ही मुक्ति का मार्ग है। इसलिये वह उस पुरुष के जैसा है कि जो आजीविका के लिये राजा की सेवा नहीं करता तो राजा भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले भोग नहीं देता। ज्ञानी भी विषयसेवन के लिये, सुखबुद्धि से, इन्द्रियसुख पाने के लिये धर्म नहीं करता। अभिप्राय की अपेक्षा से इन्द्रियसुख की प्राप्ति उसका लक्ष्य ही नहीं होता। इसलिये कर्म भी उसे संसाररूपी दलदल में फँसानेवाले सुख नहीं देते और उसे पूर्व पुण्य के कारण जो भी इन्द्रियजन्य सुख की प्राप्ति होती है उसे भी वह ज्ञाताद्रष्टा रहकर रोग की औषधि के रूप में भोगता है।

अभिप्राय की अपेक्षा से जो जीव समस्त भावों के प्रति अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिसम्पन्न है, वास्तव में उसी को अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि मानना चाहिये। कई लोग कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामनेवाले को सिर्फ़ द्रव्यदृष्टि से ही देखता है। इसका खण्डन स्वयं आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने यहाँ कर दिया है। इससे समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि जीव सामनेवाले को द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियों से, जैसा है वैसा देखता है। इसी को आचार्यश्री ने यहाँ यथार्थदृष्टि कहा है।

सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये उसका यही अभिप्राय रहता है कि उसे अपनी शुद्धात्मा में स्थित हो जाना है। जैसी उसकी शुद्धात्मा है, वैसी ही शुद्धात्मा सिद्धों की है। इसलिये उसे आंशिक रूप से सिद्धसदृश आनन्द आता है। इसी को सिद्धों की भक्ति कहा गया है, क्योंकि यहाँ सिद्धों की अभेद भक्ति की बात की गयी है। भक्तिमार्ग का सिरमौर अभेद भक्ति ही है।

बिना आत्मानुभूति के सच्ची निर्जरा नहीं होती। जब कोई भी जीव आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करता है तब वह आत्मज्ञानरूपी विद्यारूपी रथ पर आरुढ़ होता है। इसलिये सर्वप्रथम सभी साधकों को आत्मप्राप्ति का उपाय करना चाहिये अर्थात् दर्शनमोह पर काम करना चाहिये, न कि जानकारीरूपी ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम पर या बाह्यचारित्ररूपी चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम पर। क्योंकि बिना आत्मानुभूति के ही हमारी भूतकाल की मुनिदीक्षा या आगम का अभ्यास हमें मोक्ष दिला नहीं सका। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानरूपी–विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षमार्ग के अनुकूल मनोरथ के मार्ग में भ्रमण करता है और जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला होता है।

बन्ध अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २३७-२४१ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २५२-२५६

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं ॥237॥

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥238॥

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबन्धो ॥239॥

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबन्धो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥240॥

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥241॥

भावानुवाद : *जैसे कोई पुरुष (अपने शरीर पर) तेलादि स्निग्ध पदार्थ लगाकर, अत्यन्त धूलि-बहुल स्थान में खड़े रहकर, शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़, तमाल, केला, बाँस, अशोक आदि वृक्षों का छेदन-भेदन करता है और सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है—इस तरह अनेक प्रकार के करणों से उपघात करते हुए उसे धूलि का बन्ध वास्तव में किस कारण से होता है? यह निश्चय से चिन्तन करें। उस पुरुष में तेलादि की चिकनाहट विद्यमान होती है, उसी से उसे धूल का बन्ध होता है; अन्य समस्त कायचेष्टाओं से नहीं— ऐसा निश्चयपूर्वक जानना चाहिये। इसी प्रकार बहुत प्रकार की चेष्टाएँ करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव, अपने उपयोग में रागादि करते हुए, कर्मरूपी रज से लिप्त होता है।*

टीका : यहाँ व्यायाम करते हुए पुरुष का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव को कर्मबन्ध कैसे होता है? उदाहरण में बताया गया है कि जैसे कोई पुरुष अपने शरीर पर तेलादि स्निग्ध पदार्थ लगाकर, अधिक धूलि–युक्त स्थान में खड़ा होकर, व्यायाम के रूप में तलवार अथवा अन्य शस्त्रों से ताड़, तमाल, केला, बाँस, अशोक आदि वृक्षों को काटता है, भेदता है, और सचेतन–अचेतनद्रव्यों का उपघात करता है। इस प्रकार की अनेक प्रवृत्तियाँ करता है। ऐसे में उसके शरीर पर प्रचुर मात्रा में धूल चिपक जाती है।

यदि यह विचार किया जाये कि उस पुरुष को धूल क्यों चिपक रही है? तो निश्चयपूर्वक यह ज्ञात होता है कि यह धूल तेलादि की चिकनाहट के कारण चिपक रही है, न कि उसकी क्रियाओं के कारण। अनन्तानुबँधी राग–द्वेषरूप चिकनाहट के कारण नये कर्मों का बन्ध होता है।

इसी दृष्टान्त से आचार्यश्री यह तात्त्विक निर्णय करते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव को जो कर्मबन्ध होता है, वह उसकी क्रियाओं के कारण नहीं होता, अपितु जब उसका उपयोग रागादिभावमय होता है, तब वह कर्मरज से लिप्त होता है। अज्ञानी का मैंपन पर्याय में ही होता है। इसलिये वह स्वयं को राग–द्वेषमय अनुभव करता है। अतः उसे अनन्तानुबँधी राग–द्वेषरूप चिकनाहट होती है—यह बताया गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी रागादि पर्यायों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ता नहीं। अतः अभिप्राय की अपेक्षा से उसे विविध प्रकार की क्रियाओं से कर्मबन्ध नहीं होता– ऐसा कहा जाता है।

उदाहरणार्थ, यदि सम्यग्दृष्टि जीव अर्थोपार्जन करता है, स्नान, भोजन, आहार–पान आदि शरीरसम्बन्धी क्रियाएँ करता है, और कभी आवश्यकता होने पर युद्ध भी करता है, तो भी उसके अभिप्राय में उन पर्यायों के साथ कर्ताभोक्ता भाव न होने से उसे अभिप्राय की अपेक्षा से कर्मबन्ध नहीं होता और पर्याय की अपेक्षा से जो भी बन्ध होता है, वह भी प्रगाढ़ नहीं होता। इसलिये वह जल्द ही छूट भी जाता है।

दूसरे, सम्यग्दृष्टि जीव का मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है और उस शुद्धात्मा में कोई बन्ध नहीं होता। इस अपेक्षा से भी इस ग्रन्थ में बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मबन्ध नहीं होता, निर्जरा ही होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २४२-२४६ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २५७-२६१

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ।।242।।

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताच्चित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ।।243।।

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबन्धो ।।244।।

जो सो अणेहभावो तम्हि णरे तेण तस्सऽरयबन्धो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ।।245।।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागादि ण लिप्पदि रयेण ।।246।।

भावानुवाद : *और जैसे वही पुरुष यदि समस्त तेलादि स्निग्ध पदार्थों को दूर कर दे, और फिर उसी धूलि-बहुल स्थान में शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करे तथा ताड़, तमाल, केला, बाँस, अशोक आदि वृक्षों का छेदन-भेदन करे, सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात करे-इस तरह नाना प्रकार के करणों से उपघात करता हुआ भी, उसे वास्तव में धूलि का बन्ध क्यों नहीं होता? उसका निश्चय से चिन्तन करो। उस पुरुष में जो तेलादि स्निग्धता नहीं है, उससे उसे धूलि का बन्ध निश्चय से नहीं होता है। अन्य समस्त कायिक चेष्टाओं से धूलि का बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार, बहुत प्रकार के योगों में वर्तता हुआ सम्यग्दृष्टि, (अपने) उपयोग में रागादि न करता हुआ, कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता।*

टीका : उपरोक्त गाथाओं में वर्णित पुरुष जब अपने शरीर से तेलादि चिकने पदार्थों को दूर कर देता है, तब वही क्रिया करते हुए भी वह धूल से लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार, मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यग्दृष्टि बनता है तो उसे अपनी पर्याय में मैंपन नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव के उपयोग में रागादि नहीं होते। इसलिये वह कर्म नहीं बाँधता।

यह बात सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय की अपेक्षा से कही गयी है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में अब न कुछ ग्रहण करना शेष है और न ही कुछ त्यागना शेष है। अतः वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी रागादि पर्यायों का कर्ता नहीं होता। इस कारण से वह कर्मरज से लिप्त नहीं होता—यह निश्चय कथन है।

सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धनिश्चयनय प्रकट हुआ है। उसका मैंपन उसी भाव में है और उस भाव में कोई रागादि विद्यमान नहीं हैं। उसमें सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभाव ही है। इस अपेक्षा से कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव के उपयोग में रागादि नहीं होते और रागादि से होनेवाला बन्ध भी नहीं होता।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उपयोग का रागादि से एकत्व होना ही कर्मबन्ध के विषचक्र को जारी रखता है। सम्यग्दृष्टि की पर्याय में रागादि अवश्य होते हैं, और उनसे उसे कर्मबन्ध भी होता है – परन्तु वे स्विच ऑफ़ किये हुए पंखे के समान होते हैं। ऐसा पंखा थोड़ी देर तक घूमता तो है, लेकिन स्विच ऑफ़ होने के कारण शीघ्र ही थम जाता है।

उसी प्रकार, सम्यग्दृष्टि का रागादि और कर्मबन्ध (अनन्त पुद्गल परावर्तन काल की तुलना में) अब मात्र अल्पकाल के लिये ही शेष है, क्योंकि वह अधिकतम अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल में सिद्ध होनेवाला है और कर्मों से सर्वथा मुक्त होनेवाला है। यही बात इन गाथाओं से समझनी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २४७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २६२

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।247।।

भावानुवाद : *जो यह मानता है कि मैं परजीवों की हिंसा करता हूँ और परजीव मेरी हिंसा करते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। और जो इसके विपरीत (माननेवाला) है, वह ज्ञानी है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को मारने की वृत्ति नहीं होती। वह स्वयं को अनादि, अनन्त, ज्ञानस्वरूप जानता है और जानता

है कि कोई भी जीव उसकी, इस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा, की हिंसा नहीं कर सकता और न ही उस सामान्यभाव में परजीवों की हिंसा का भाव होता है, क्योंकि ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा द्रव्य है और हिंसा आदि के भाव पर्याय में ही होते हैं। अतः उसके अभिप्राय में भय का भी कोई स्थान नहीं होता। यहाँ यह बात ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से कही गयी है।

इसके विपरीत, अज्ञानी जीव के अभिप्राय में परजीवों को मारने की वृत्ति बनी रहती है, और वह यह भय भी रखता है कि अन्य जीव उसे मार सकते हैं। यहाँ आचार्यश्री ने यह सब ज्ञानी और अज्ञानी जीव के अभिप्राय की अपेक्षा से बताया है। यदि कोई इस कथन को ग़लत अर्थघटन के कारण वास्तविकता (व्यवहार) में लागू करके यह मान ले कि दो भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता, अतः न मैं किसी की हिंसा कर सकता हूँ, न कोई मेरी हिंसा कर सकता है; और ग़लत अर्थघटन के कारण इस मान्यता के आधार पर वह यथेच्छ हिंसा करता हुआ स्वयं को भ्रमवश अकर्ता मानता रहे, तो वह इस गाथा का यथार्थ अर्थ नहीं समझ पाया है।

यही इस शास्त्र के प्रति दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना है कि अनेक जीव इसके अर्थ को एकान्त से ग्रहण करते हैं, और निश्चयाभासी बन जाते हैं और उसी निश्चयाभासी एकान्त का उपदेश दूसरों को भी देते हैं।

यहाँ आचार्यश्री का कथन निश्चयनय से है। यदि कोई इसे सिर्फ़ एकान्त से ग्रहण करे और निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का निषेध कर दे, तो उसका यह अर्थघटन उसके दुःखमय संसार को और गहरा बना सकता है। इसी कारण, जैसा कि आचार्यश्री ने गाथा ५ में स्पष्ट किया है, साधक को इस ग्रन्थ से छल (भ्रम) ग्रहण नहीं करना चाहिये।

आचार्यश्री को यह पूर्वबोध था कि इस प्रकार की गाथाओं का कोई एकान्त से अर्थ ग्रहण कर सकता है। इसलिये उन्होंने ग्रन्थारम्भ में ही आगाह कर दिया।

यहाँ एक बात समझना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में आचार्यश्री 'शुद्धात्मा' को ही 'आत्मा' कहते हैं, क्योंकि शुद्धात्मा ही आत्मानुभूति का विषय है और इस ग्रन्थ में प्रायः उसी का वर्णन है। यहाँ भी हिंसा की बात उसी अपेक्षा से कही गयी है। शुद्धात्मा में सिर्फ़ उपादान की ही भूमिका होती है। अतः इस ग्रन्थ में अधिकांश बातें शुद्धात्मा—शुद्धनय अपेक्षा से कही गयी हैं। निमित्त की भूमिका पर्याय में आती है। इसलिये इस ग्रन्थ में निमित्त–सम्बन्धी बातों को गौण कर दिया गया है। यदि कोई साधक इस बात को अन्यथा ग्रहण कर के निमित्त को एकान्त से अकर्ता मानने लगे, तो वह जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा। अर्थात् वह पाखण्डी मत का ही समर्थक होगा।

अनादिकाल से जीव दूसरों की हिंसा करता आया है, और अन्य जीव उसकी हिंसा करते आये हैं। तब वह जीव अज्ञानवश कर्ताभोक्ताभाव में डूबा हुआ था। इसी कारण वह कर्ममुक्त नहीं हो सका है, बल्कि कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है। यह कथन निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से है। यदि कोई इस सम्बन्ध को नकारकर निमित्त को सर्वथा अकर्ता माने, तो वह एकान्तवादी कहलायेगा, क्योंकि ग़लत अर्थघटन के कारण ऐसा मान लेने से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का नाश नहीं होता।

इसलिये जब तक संसारी जीव का पर के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बना है, तब तक उसे हिंसा का दोष लगता है। परन्तु ज्ञानी के अभिप्राय में हिंसा का भाव न होने से, उसे हिंसा का दोष नहीं लगता—यह यहाँ निश्चयनय से कहा गया है। यदि कोई जीव बिना आत्मानुभूति के ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से ऐसा मानने लगे कि 'मैं परजीवों की हिंसा नहीं कर सकता हूँ और परजीव मेरी हिंसा नहीं कर सकते हैं' तो वह निश्चयाभासी ही कहलायेगा, जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा। अर्थात् वह पाखण्डी मत का ही समर्थक होगा।

वास्तविकता यह है कि ज्ञानी को भी, अपने गुणस्थानानुसार, हिंसा का दोष लगता है और उससे कर्मबन्ध भी होता है, परन्तु वह बन्ध अल्प होता है। ज्ञानी की स्थिति उस पंखे की भाँति होती है, जिसका स्विच ऑफ़ हो चुका है—घूम तो रहा है, लेकिन रुकने ही वाला है। इसी प्रकार, ज्ञानी का कर्मबन्ध भी अल्पकालीन होता है और वह उसे संसार में अधिक समय तक बाँध नहीं सकता। इस अपेक्षा से भी कहा जाता है कि ज्ञानी को कर्मबन्ध नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २४८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २६३

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥248॥

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २४९

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥249॥

भावानुवाद : *जिनवरों ने कहा है कि जीव का मरण उसकी आयु के क्षय पर होता है। तू परजीव के आयुकर्म को हरता नहीं है, तो उसे मार कैसे सकता है? जिनवरों ने बताया है कि जीवों का मरण आयु की समाप्ति पर होता है। परजीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं है, तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?*

टीका : यहाँ आचार्यश्री ने निश्चयनय से स्पष्ट किया है कि कोई भी जीव दूसरे जीव को मार नहीं सकता, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं और भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध कभी नहीं होता। अतः यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि जीव का मरण उसके आयुकर्म के क्षय से ही होता है—ऐसा जिनवरों का उपदेश है। कोई भी जीव दूसरे के आयुकर्म को हर नहीं सकता, तो वह उसे मारनेवाला कैसे हो सकता है? इसलिये निश्चयनय से न मैं किसी को मार सकता हूँ और न ही कोई मुझे मार सकता है। सबका मरण अपने आयुकर्म की समाप्ति से ही होता है। जो आयुकर्म है वह जीव के पुराने भावों का प्रतिबिम्ब ही है। इसलिये निश्चय से जीव के पुराने भाव ही वर्तमान आयु का कारण हैं।

अर्थात् निश्चयनय से कोई किसी की आयु हर ही नहीं सकता। परन्तु व्यवहारनय से आयुक्षय के अवसर पर कोई जीव दूसरे की मृत्यु का निमित्त बन सकता है। सम्पूर्ण जिनोपदेश निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि पर आधारित है। अतः इस गाथा का एकान्त से अर्थघटन नहीं करना चाहिये, क्योंकि समयसार ग्रन्थ आध्यात्मिक शास्त्र होने से इसमें ज़्यादातर बातें शुद्धात्मा की अपेक्षा से ही बतायी गयीं हैं।

इसी कारण आचार्यश्री ने पाँचवीं गाथा में ग्रन्थारम्भ में ही स्पष्ट रूप से कहा है कि इस ग्रन्थ में जो कुछ कहा जायेगा, उसे आत्मानुभूति से प्रमाणित करना। उससे छल (भ्रम) ग्रहण मत करना।

यह सावधानी इसलिये रखी गयी है कि कोई ज्ञानी, इस बात को यथार्थरूप से समझकर अपनी पर्याय में प्रकट होनेवाले विभावों से मुक्त होने का निरन्तर पुरुषार्थ करता रहे। और इस पुरुषार्थ में वह दूसरे जीवों की हिंसा का स्थूल रूप से भी त्याग करे और सूक्ष्म रूप से भी त्याग का गुणस्थानानुसार भाव धारण करे, क्योंकि इस गाथा में जो बात कही गयी है वह कर्ता–कर्म सम्बन्ध की अपेक्षा से कही गयी है, न कि निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से।

अतः यदि कोई इस कथन को एकान्त से समझे, और इसी आधार पर अनर्गल प्रलाप करे, तो वह जिनशासन का सबसे बड़ा शत्रु सिद्ध होगा। यदि कोई इस प्रकार की गाथाओं का एकान्तार्थ ग्रहण कर निश्चयाभासी बनता है, और उसी के अनुरूप उपदेश भी देता है, तो वह जिनशासन के प्रति महान अपराध करेगा। इसलिये सभी साधकों को इन गाथाओं का यथार्थ अर्थघटन समझने हेतु सर्वप्रथम वैराग्यादि योग्यताएँ अर्जित कर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त करनी चाहिये और आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५०

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।250।।

भावानुवाद : *जो यह मानता है कि 'मैं (परजीवों को) जीने देता हूँ और परजीव मुझे जीने देते हैं' वह मूढ़ तथा अज्ञानी है। जो इससे विपरीत मानता है वह ज्ञानी है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी के मैंपन के विषयरूप ज्ञानसामान्यभाव यानी शुद्धात्मा को न कोई मार सकता है और न ही उसे जीने के लिये औरों की अपेक्षा होती है। इस अपेक्षा से इस गाथा को समझना चाहिये।

दो द्रव्यों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् एक जीव उपादान के रूप में दूसरे जीव को न जीवन दे सकता है और न ही उसका जीवन ले सकता है। जीव दूसरे जीव के मरण में निमित्तमात्र बन सकता है परन्तु निमित्त सदैव दूसरे द्रव्य की पर्याय में असर करता है, द्रव्य में नहीं। इस ग्रन्थ में सभी बातें प्रायः द्रव्य की अपेक्षा से कही हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ का विषय ही शुद्धनय है। और शुद्धनय में पर्याय गौण होती है। इस अपेक्षा से भी यहाँ बताया गया है कि सभी जीव अपने आयुकर्म के अनुसार जीते हैं। एक जीव दूसरे जीव को न जीवन दे सकता है, न मृत्यु। यह ज्ञानी के अभिप्राय में होता है, क्योंकि ज्ञानी का मैंपन द्रव्य में होता है, पर्याय में नहीं।

अज्ञानी का मैंपन पर्याय में होता है, द्रव्य में नहीं। इसलिये उसकी मान्यता भी पर्याय के अनुसार होती है। इसलिये वह मानता है कि मैं अन्य जीवों को जीने देता हूँ, अन्य जीव मुझे जीने देते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि अज्ञानी कर्ता–कर्म सम्बन्ध और निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का आत्मानुभूतिपूर्वक अन्तर नहीं जानता, क्योंकि उसे द्रव्य की अनुभूति नहीं है। इसलिये वह अपने अभिप्राय में पर का कर्ता बनता है एवं अज्ञानवश पर को अपने दुःखादि का कर्ता मानता है। इसलिये उसे यहाँ मूढ़ व अज्ञानी कहा गया है।

बिना आत्मानुभूति के इस शास्त्र का अर्थघटन करनेवाले इसे एकान्त से ग्रहण करते हैं

और बताते हैं कि कोई भी जीव दूसरे जीव को मार ही नहीं सकता। दूसरे जीव की मृत्यु में उसके आयुकर्म को ही एकान्त से कारण मानते हैं। इसलिये वैसे जीव स्वच्छन्द परिणमन करते हैं और बिना झिझक के हिंसा भी करते रहते हैं। ऐसी ग़लत अर्थघटनवाली मान्यताओं से बचना चाहिये और सभी आत्मार्थी जनों को स्थूल हिंसा से भी बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २६४

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥251॥

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५२

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥252॥

भावानुवाद : *सर्वज्ञ भगवान बताते हैं कि जीव आयुकर्म के उदय से जीता है। तुम (परजीवों को) आयुकर्म तो देते नहीं, तो फिर (ऐसा क्यों मानते हो) कि तुमने जीवन दिया? सर्वज्ञ भगवान बताते हैं कि जीव आयुकर्म के उदय से जीता है। परजीव तुम्हें आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो फिर (ऐसा क्यों मानते हो) कि वे तुम्हें जीवन देते हैं?*

टीका : अनादिकाल से जीव कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध में रहा हुआ है। जब भी किसी कर्म का उदय होता है, तब अज्ञानवश जीव उसी के अनुसार अपने भाव करता है। और उन भावों के निमित्त से वह नये कर्मों का बन्ध करता है। इस प्रकार अनादिकाल से जीव कर्मचक्र में फँसा हुआ है।

जीव अपने जीवन काल में अगले जन्म की आयु का बन्ध करता है और उसी आयु के अनुसार उसका अगला जीवन निर्धारित होता है। यह सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

इस परिप्रेक्ष्य में आचार्यश्री यहाँ प्रश्न करते हैं—'जब तुम परजीवों को आयुकर्म नहीं देते, और परजीव तुम्हें आयुकर्म नहीं देते, तब तुम यह कैसे मान सकते हो कि 'तुम परजीवों को जीवन दे रहे हो (उन्हें जीने दे रहे हो)?' और यह कैसे मान सकते हो कि 'परजीव तुम्हें जीवन दे रहे हैं (तुम्हें जीने दे रहे हैं)'?'

अर्थात् उपादान की अपेक्षा से कोई भी अपनी आयु न तो दूसरे को दे सकता है, न ही कोई दूसरे की आयु ले सकता है। हाँ, एक जीव, दूसरे जीव की मृत्यु में निमित्त बन सकता है, परन्तु उसे आयु नहीं दे सकता।

यह शास्त्र मुख्यतः आत्मानुभूति का ही प्रकाशक है। अतः इसमें अधिकांश बातें उपादान की दृष्टि से ही कही गयी हैं। निमित्त को गौण रखा गया है। अर्थात् कर्ता–कर्म सम्बन्ध को मुख्य किया गया है और निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को गौण। अतः यहाँ निश्चय से बताया गया है कि कोई किसी को न जीवन दे सकता है, न उससे जीवन ले सकता है।

यदि कोई जीव बिना आत्मानुभूति के ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से ऐसा मानने लगे कि 'मैं परजीवों की हिंसा नहीं कर सकता हूँ और परजीव मेरी हिंसा नहीं कर सकते हैं' तो वह निश्चयाभासी ही कहलायेगा, जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा। अर्थात् वह पाखण्डी मत का ही समर्थक होगा।

आचार्यश्री को यह पूर्वानुमान था कि कई साधक इस शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करेंगे और उसे एकान्त रूप से ग्रहण करेंगे और छल (भ्रम) ग्रहण कर बैठेंगे। इसी आशंका से उन्होंने गाथा ५ में स्पष्ट शब्दों में निर्देश दिया है—'इस शास्त्र में कही गयी बातों को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करना, छल (भ्रम) मत ग्रहण करना।'

आज यह स्पष्ट दिख रहा है कि आचार्यश्री का यह सन्देह असत्य नहीं था। अतः सभी साधकों से प्रार्थना है कि वे इस शास्त्र को स्वच्छन्दता से ग्रहण न करें, अपितु वैराग्यादि योग्यताओं से पर की इच्छाओं से विरत होकर, आत्मसन्मुखता प्राप्त करें एवं आत्मानुभूति प्राप्त करके ही इसका यथार्थ अर्थघटन करें। क्योंकि प्रायः अज्ञानी इसका सही अर्थघटन नहीं कर पायेंगे। प्रायः अज्ञानी इसे एकान्तरूप से ग्रहण करता है तथा भ्रमवश एकान्त से ही मानता है और एकान्त से ही उपदेश भी देता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २६५

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद–सुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।253।।

भावानुवाद : *जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इसके विपरीत माननेवाला ज्ञानी है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को सुखी–दुःखी करने की वृत्ति नहीं होती। ज्ञानी की अपेक्षा से इस गाथा को समझना चाहिये।

अनादिकाल से जीव का कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। जब किसी भी कर्म का उदय होता है, तब अज्ञानवश जीव उसी के अनुसार शुभाशुभ भाव करता है; और उन भावों के निमित्त से नये शुभाशुभकर्मों का बन्ध होता है। उन शुभाशुभकर्मों के अनुसार ही उसे सुख–दुःख देनेवाले संयोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार, जीव स्वयं के ही किये हुए कर्मों के निमित्त से ही सुखी या दुःखी होता है। उसके सुख–दुःख के संयोगों में परजीव निमित्त अवश्य बन सकते हैं, परन्तु इस शास्त्र में प्रायः सभी बातें उपादान की अपेक्षा से ही कही गयी हैं। क्योंकि इस शास्त्र में प्रमुख रूप से द्रव्य की ही बात की गयी है, पर्याय की नहीं। निमित्त पर्याय में ही निमित्त बन सकता है, द्रव्य में नहीं।

इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि यदि कोई जीव अभिप्राय की अपेक्षा से यह मानता है कि 'मैं परजीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ', तो ऐसा माननेवाला मूढ़ है, अज्ञानी है। और ऐसा अभिप्राय की अपेक्षा से नहीं माननेवाला ही ज्ञानी कहलाता है। किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सिर्फ़ ऐसा बौद्धिकरूप से नहीं मानने से ही कोई ज्ञानी बन जायेगा। ज्ञानी होने के लिये तो आत्मानुभूति अनिवार्य है। और आत्मानुभूति के लिये आत्मसन्मुखता आवश्यक है, क्योंकि बिना आत्मसन्मुखता के आत्मानुभूति सम्भव ही नहीं। और आत्मसन्मुखता प्राप्त करने के लिये वैराग्यादि योग्यताएँ पाकर पर की इच्छाओं से विरत होना आवश्यक है; क्योंकि बिना वैराग्यादि योग्यता के जीव नियम से परसन्मुख होता है। और परसन्मुख जीव को आत्मानुभूति नहीं होती, क्योंकि परसन्मुख जीव बहिरात्मा होता है।

यदि कोई जीव बिना आत्मानुभूति के ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से ऐसा मानने लगे कि 'मैं परजीवों को सुखी–दुःखी नहीं कर सकता हूँ और परजीव मुझे सुखी–दुःखी नहीं कर सकते हैं' तो वह निश्चयाभासी ही कहलायेगा, जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा अर्थात् वह पाखण्डी मत का समर्थक होगा।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५४-२५६ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २६६-२६८

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद-सुहिदा कहं कदा ते ।।254।।

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं ।।255।।

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ।।256।।

भावानुवाद : *यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और तुम उनको कर्म तो देते नहीं फिर वे (तुम्हारे द्वारा) कैसे सुखी-दुःखी किये गये? यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और वे तुम्हें कर्म तो देते नहीं फिर तुम उनके द्वारा दुःखी कैसे किये गये? यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं और वे तुम्हें कर्म तो देते नहीं फिर तुम उनके द्वारा सुखी कैसे किये गये?*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को सुखी-दुःखी करने की वृत्ति नहीं होती। ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से इन गाथाओं को समझना चाहिये।

अनादिकाल से जीव का कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। जब कोई कर्म उदय में आते हैं, तब जीव अज्ञानवश उन कर्मों के अनुरूप शुभाशुभ भाव करता है और उन्हीं भावों के निमित्त से नवीन शुभाशुभकर्म बाँधता है। उन्हीं बँधे कर्मों के उदय के निमित्त से जीव को सुख-दुःख एवं जीवन-मरण की स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। न कोई परजीव किसी को कर्म दे सकता है, और न कोई जीव परजीवों से कर्म ले सकता है। इसलिये उपादान की अपेक्षा से न तो कोई जीव दूसरे को दुःखी कर सकता है और न सुखी कर सकता है। हाँ, परजीव सुख-दुःख के निमित्त अवश्य बन सकते हैं।

इस शास्त्र में प्रमुखतः उपादान की अपेक्षा से ही बात कही गयी है, निमित्त को गौण रखा गया है। इसी अपेक्षा से यहाँ निमित्त को गौण रखकर कहा गया है कि कोई भी जीव, दूसरे

को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता। यह बात कर्ता–कर्म सम्बन्ध की अपेक्षा से कही गयी है। यहाँ परद्रव्य के साथ होनेवाले निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को गौण कर दिया गया है और कर्मों के साथ के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को मुख्य किया गया है।

यहाँ जीव का कर्म के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है परन्तु जीव का कर्ता–कर्म सम्बन्ध अपने पुराने भावों से है जिसका निमित्त पाकर वे कर्म बँधे थे। यदि कोई इस कथन—न तो कोई जीव दूसरे को दुःखी कर सकता है और न सुखी कर सकता है—को एकान्त से समझे, और ग़लत अर्थघटन के कारण इसे ही परम सत्य मानकर 'मैं तो किसी को दुःखी नहीं कर सकता' तो फिर यत्नाचार (जयणा), अहिंसा इत्यादि के पालन की क्या ज़रूरत है? एवं 'मैं किसी को सुखी नहीं कर सकता' तो फिर दया–दान–सेवा–सहायता आदि की क्या आवश्यकता है? ग़लत अर्थघटन के कारण ऐसा मानकर यत्नाचार (जयणा)–अहिंसा–दया–दान–सेवा–सहायता आदि से निरपेक्ष व्यवहार करे, तो वह स्वयं अपना घोर अहित कर लेगा।

यही आशंका आचार्यश्री को थी। इसी लिये उन्होंने गाथा ५ में स्पष्ट रूप से बताया है कि इस शास्त्र को समझने के लिये आवश्यक योग्यता होनी चाहिये; क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि बिना आत्मानुभूति के इस शास्त्र का यथार्थ अर्थघटन सम्भव नहीं है। इसलिये उन्होंने पूर्व में ही सावधान किया कि इस शास्त्र से ग़लत अर्थ ग्रहण कर अपना संसार न बढ़ायें, अर्थात् इस शास्त्र से छल (भ्रम) ग्रहण न करें। अनादिकाल से हमें स्वयं के अतिरिक्त किसी और ने नहीं छला है। अतः अब अनादि की कहानी नहीं दोहरानी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५७–२५८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २६९–२७०

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।।257।।

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।।258।।

भावानुवाद : *जो मरता है और जो दुःखी होता है, वह सब कर्मोदय से होता है। इसलिये 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' ऐसा तुम्हारा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है? जो नहीं मरता है और दुःखी नहीं होता है, वह भी कर्मोदय से ही होता है। इसलिये 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया' ऐसा तुम्हारा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है?*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को सुखी–दुःखी करने की वृत्ति नहीं होती। ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से इन गाथाओं को समझना चाहिये।

अनादिकाल से जीव कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाये हुए है। जब किसी भी कर्म का उदय होता है, तब जीव अज्ञानवश उन कर्मों के अनुसार अपने शुभाशुभ भाव करता है। और उन भावों के निमित्त से नये शुभाशुभकर्म बँधते हैं। उन्हीं के उदय के निमित्त से जीव को सुख–दुःख और जीवन–मृत्यु प्राप्त होते हैं। कोई अन्य जीव उसे कर्म दे नहीं सकता। न ही वह किसी अन्य जीव को कर्म दे सकता है। इसलिये सभी जीव अपने–अपने कर्मों के अनुसार सुख–दुःख तथा आयु पाते हैं।

यह बात उपादान की अपेक्षा से बतायी गयी है। निमित्त को यहाँ गौण किया गया है। इसलिये यहाँ बताया है कि ग़लत अर्थघटन के कारण सिर्फ़ कर्ता–कर्म सम्बन्ध को ही मानकर यदि कोई यह सोचता है कि 'मैंने दूसरे को मारा, या दुःखी किया अथवा मैंने दूसरे को नहीं मारा, दुःखी नहीं किया' तो ऐसा अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि उपादान रूप से दो द्रव्यों का सम्बन्ध कर्ता–कर्म रूप से नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं और भिन्न द्रव्यों में एक दूसरे का उपादान बनने की शक्ति नहीं होती। अर्थात् दो भिन्न द्रव्य एक–दूसरे को उपादानरूप से नहीं परिणमाते।

यहाँ आचार्यश्री ने जो जीव और कर्मों का सम्बन्ध बताया है, वह कर्ता–कर्म सम्बन्ध न होकर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। यहाँ निर्दिष्ट यह है कि जो कर्म बँधे हैं वे भी जीवों के पूर्व में किये गये भावों के निमित्त से ही बँधे हैं। इसलिये हम इस बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जीवों के सुखी–दुःखी होने का और मृत्यु का उपादान रूप से सम्बन्ध जीव के अपने पूर्वकृत भावों से है। इस अपेक्षा से जीव के वर्तमान भावों के साथ जीव के पूर्वकृत भावों का कारण–कार्य सम्बन्ध है। इसलिये आचार्यश्री ने यहाँ उपादान के प्रतिबिम्ब के रूप में जीव के पूर्वकृत भावों को दर्शानेवाले कर्मों को कारण बताया है।

यहाँ कोई ग़लत अर्थघटन के कारण एकान्त से यह समझकर कि 'मैं किसी को सुख–दुःख और जीवन–मृत्यु नहीं दे सकता', हिंसा का आचरण करता है तो यह उसकी सरासर ग़लत समझ होगी। यदि कोई इसे इस प्रकार ग़लत समझे तो आचार्यश्री ने पूर्व में ही सावधान

किया है कि इस शास्त्र से ग़लत अर्थ ग्रहण कर अपना संसार न बढ़ायें, अर्थात् इस शास्त्र से छल (भ्रम) ग्रहण न करें। अनादिकाल से हमें स्वयं के अतिरिक्त किसी और ने नहीं छला है। अतः अब अनादि की कहानी नहीं दोहरानी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २५९-२६२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २७१-२७४

एसा दु जा मदी दे दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बन्धदे कम्मं ।।259।।

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबन्धगं वा पुण्णस्स व बन्धगं होदि ।।260।।

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबन्धगं वा पुण्णस्स व बन्धगं होदि ।।261।।

अज्झवसिदेण बन्धो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बन्धसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।।262।।

भावानुवाद : *तुम्हारी यह मति कि मैं जीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ, तुम्हारी यही मूढ़मति शुभाशुभकर्मों को बाँधती है। 'जीवों को मैं सुखी-दुःखी करता हूँ' ऐसा जो तुम्हारा अध्यवसान है, वही पाप अथवा पुण्य का बन्धक होता है। 'जीवों को मैं मारता अथवा जीने देता हूँ' ऐसा जो तुम्हारा अध्यवसान है, वही पाप अथवा पुण्य का बन्धक होता है। जीवों को मारो या न मारो, कर्मबन्ध अध्यवसान से ही होता है। यही निश्चयनय से जीवों के (कर्म) बन्ध का संक्षेप है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को सुखी-दुःखी करने की वृत्ति नहीं होती और पर्याय में जो भी सुखी-दुःखी करने के अध्यवसान होते है उसका ज्ञानी

निश्चय से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से इन गाथाओं को समझना चाहिये।

अनादिकाल से जीव कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाये हुए हैं। जब किसी भी कर्म का उदय होता है, तब जीव अज्ञानवश उन कर्मों के अनुसार अपने शुभाशुभ भाव करता है। और उन भावों के निमित्त से नये शुभाशुभकर्म बँधते हैं। उन्हीं के उदय के निमित्त से जीव को सुख–दुःख और जीवन–मृत्यु प्राप्त होते हैं। कोई अन्य जीव उसे कर्म दे नहीं सकता। न ही वह किसी अन्य जीव को कर्म दे सकता है। इसलिये सभी जीव अपने–अपने कर्मों के अनुसार सुख–दुःख तथा आयु पाते हैं। परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से यह मति कि 'मैं दूसरे जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ', यह अज्ञानी की मूढ़मति ही शुभाशुभकर्मों को बाँधती है। 'जीवों को मैं सुखी–दुःखी करता हूँ' ऐसा जो अज्ञानी का कर्ताभोक्ता भावसहित का अध्यवसान है, वही पाप अथवा पुण्य का बन्धक होता है। 'जीवों को मैं मारता अथवा जीने देता हूँ' ऐसा जो अज्ञानी का कर्ताभोक्ताभावसहित का अध्यवसान है, वही पाप अथवा पुण्य का बन्धक होता है। जीवों को मारो या न मारो, कर्मबन्ध अध्यवसान (मारने के भाव) से ही होता है।

यहाँ आचार्यश्री बता रहे हैं कि यदि अभिप्राय की अपेक्षा से तेरी यह बुद्धि है कि 'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, या मैं जीवों को मारता हूँ या जीने देता हूँ', तो अज्ञानी जीवों का यह अभिप्राय ही उन्हें शुभाशुभकर्मों का बन्ध कराता है। यहाँ आचार्यश्री ने अभिप्राय की अपेक्षा से बताया है कि सिर्फ़ अज्ञानी जीवों के अभिप्राय में ही पर के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध होने की मूढ़मति होती है। ज्ञानी को पर के साथ कोई भी कर्ता–कर्म सम्बन्ध होने का अभिप्राय नहीं होता। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का यह अध्यवसान नहीं होता। अतः निश्चयनय से ज्ञानी को बन्ध नहीं होता। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। शुद्धात्मा में कोई विशेषभाव नहीं होते। इसलिये ज्ञानी को निश्चयनय से अध्यवसान नहीं होता। इस अपेक्षा से ज्ञानी को कर्मबन्ध नहीं होता। जबकि अज्ञानी के अभिप्राय में ये सभी अध्यवसान होने के कारण और इन सभी अध्यवसानों में ही उसका मैंपन होने के कारण कर्मबन्ध होता है। निश्चयनय से जीवों के कर्मबन्ध का यही संक्षेप में स्पष्टीकरण है।

यहाँ कोई यदि ग़लत अर्थघटन के कारण एकान्त से यह समझकर कि 'मैं किसी को सुख–दुःख और जीवन–मृत्यु नहीं दे सकता', हिंसा का आचरण करता हो तो यह उसकी सरासर ग़लत समझ होगी। यदि कोई इसे इस प्रकार ग़लत समझे तो आचार्यश्री ने पूर्व में ही सावधान

किया है कि इस शास्त्र से ग़लत अर्थ ग्रहण कर अपना संसार न बढ़ायें, अर्थात् इस शास्त्र से छल (भ्रम) ग्रहण न करें। अनादिकाल से हमें स्वयं के अतिरिक्त किसी और ने नहीं छला है। अतः अब अनादि की कहानी नहीं दोहरानी चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २६३-२६५ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २७५-२७७

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ।।263।।

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ।।264।।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बन्धो अज्झवसाणेण बन्धोत्थि ।।265।।

भावानुवाद : *इसी प्रकार असत्य में, चोरी में, अब्रह्मचर्य में और परिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है उससे पाप का बन्ध होता है। और इसी प्रकार सत्य में, अचौर्य में, ब्रह्मचर्य में, और अपरिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य का बन्ध होता है और जीवों को जो अध्यवसान होता है, वह वस्तु के आलम्बन से होता है। तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से ही बन्ध होता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। शुद्धात्मा में कोई भी विशेषभाव नहीं होता। इसलिये ज्ञानी को निश्चय से अध्यवसान नहीं होते। अतः ज्ञानी को निश्चयनय से कर्मबन्ध नहीं होता।

अज्ञानी का पर्याय में मैंपन होता है, क्योंकि उसे द्रव्य की अनुभूति नहीं होती। अध्यवसान पर्याय में ही होते हैं। इसलिये यहाँ अज्ञानी के अध्यवसानों की बात कही गयी है, यह समझना चाहिये। अज्ञानी जब असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का अध्यवसान करता है अर्थात् उसके बारे में चिन्तन, मनन और विचार करता है, तब उसे पाप का बन्ध होता है। और अज्ञानी

जब सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अध्यवसान करता है, तब उसके निमित्त से उसे पुण्य का बन्ध होता है। ज्ञानी को भी पर्यायअपेक्षा से गुणस्थान के अनुसार भाव होते हैं और उन भावों के अनुरूप कर्मबन्ध भी होता है। परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को अध्यवसान नहीं होते और कर्मबन्ध भी नहीं होता।

विशेष यह है कि जीवों को जो पाप या पुण्य का बन्ध होता है, वह अध्यवसान के निमित्त से ही होता है। कोई वस्तु या व्यक्ति के निमित्त से बन्ध नहीं होता। अर्थात् कर्मबन्ध का नियम से अध्यवसान के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, कोई वस्तु या व्यक्ति से नहीं। ज्ञानी को भी अध्यवसान से ही कर्मबन्ध होता है पर उसे अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय में कर्ताभोक्ता भाव नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा भाव ही होता है। इस अपेक्षा से ज्ञानी को कर्मबन्ध नहीं होता—ऐसा कहा जाता है।

'अध्यवसान से ही बन्ध होता है' इसे ग़लत अर्थघटन के कारण न मानकर निश्चयाभासवश स्वयं को अबन्धस्वरूप मान लेने से कोई ज्ञानी नहीं बन जायेगा। ज्ञानी बनने के लिये तो आत्मानुभूति आवश्यक है। इसलिये इन गाथाओं का किसी को भी अन्यथा अर्थघटन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ग़लत अर्थघटन उस जीव के लिये और उसके उपदेश सुननेवालों के लिये अनन्त संसार बढ़ानेवाला ही होगा। इसलिये इससे बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २६६–२६७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २७८–२७९

दुक्खिद–सुहिदे जीवे करेमि बँधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ।।266।।

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ।।267।।

भावानुवाद : *'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ', ऐसी तुम्हारी जो मूढ़मति है, वह निरर्थक है, मिथ्या ही है। यदि अध्यवसान के निमित्त से जीव कर्म से बँधते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित जीव के कर्म छूटते हैं तो तुम क्या करते हो? (अर्थात् बाँधने–छोड़ने के अध्यवसान से ही जीव कर्म से बँधते हैं। अतः ज्ञानी बनने से ही कर्म छूटते हैं।)*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। यह शुद्धात्मा निर्विकल्प होती है। इसलिये आत्मानुभूति को निर्विकल्प बताया गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अध्यवसान विकल्प के रूप में ही होते हैं। इसलिये ज्ञानी को निश्चयनय से अध्यवसान नहीं होते। अर्थात् मोक्षमार्ग में स्थित जीव को निश्चय से अध्यवसान नहीं होते। इसलिये वह कालक्रम से मुक्त हो जाता है। इसी लिये यहाँ कहा गया है कि मोक्षमार्ग में स्थित जीव के कर्म छूटते हैं।

जबकि अज्ञानी जीव को कई विकल्प होते हैं। जैसे—'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ', इत्यादि। अज्ञानी जीव का मैंपन विकल्परूपी पर्याय में ही होता है। इसे ही यहाँ अध्यवसान बताया गया है। ऐसे विकल्प में मैंपन और मेरापन अज्ञानी जीव की मूढ़मति का ही फल है तथा यह मोक्षमार्ग न होने से उसे निरर्थक और मिथ्या बताया गया है। निश्चय से मोक्षमार्ग आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता ही है। इसलिये आगे आचार्यश्री कहते हैं कि यदि जीव अध्यवसान के निमित्त से ही कर्म बाँधता है और मोक्षमार्ग में स्थित जीव कालक्रम से मुक्त होता है तो तुम यह बाँधने–छोड़ने इत्यादि का अध्यवसान कर के क्या पाना चाहते हो? यदि तुम्हें मुक्त होना है तो सर्वप्रथम आत्मानुभूति की प्राप्ति के पुरुषार्थ में लगो।

साधकों को 'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ', इत्यादि के विकल्पों को धर्म नहीं समझना चाहिये, क्योंकि धर्म में प्रवेश तो आत्मानुभूति से ही होता है। प्रथम आत्मप्राप्ति, तदनन्तर आत्मस्थिरता, यही सत्यधर्म है; यही मोक्ष का मार्ग है। यदि कोई इस गाथा का ग़लत अर्थघटन कर बिना आत्मानुभूति के ऐसा समझता है कि मैं किसी को सुखी–दुःखी नहीं करता हूँ, बाँधता नहीं हूँ, छुड़ाता नहीं हूँ तो वह अपना अनन्त अहित कर रहा है। यह बातें ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से बतायी गयी हैं। इसलिये अज्ञानी को ऐसा मानना या बोलना अनन्त दुःखमय संसार का कारण बनता है। इसलिये इससे बचना चाहिये। ज्ञानी के अभिप्राय में 'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ' ये भाव नहीं होते, परन्तु पर्याय में तो ज्ञानी भी अपने गुणस्थान के अनुसार शुभाशुभ भाव करता है।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २८०-२८४

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।

वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।

मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।

सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।

कायेण च वाचा वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते त्ती ।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।

भावानुवाद : *यदि जीव अपने कर्म से दुःखी होते हैं तो 'मैं जीवों को काया के द्वारा दुःखी करता हूँ'—इस प्रकार की तुम्हारी जो मति है, वह सब मिथ्या है। यदि जीव अपने कर्म से दुःखी होते हैं तो 'मैं जीवों को वचन के द्वारा दुःखी करता हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी जो मति है, वह सब मिथ्या है। यदि जीव अपने कर्म से दुःखी होते हैं तो 'मैं जीवों को मन के द्वारा दुःखी करता हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी जो मति है, वह सब मिथ्या है। यदि जीव अपने कर्म से दुःखी होते हैं तो 'मैं जीवों को शस्त्रों के द्वारा दुःखी करता हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी जो मति है, वह सब मिथ्या है। यदि जीव अपने कर्म से सुखी होते हैं तो 'मैं जीवों को मन, वचन, काया के द्वारा सुखी करता हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी जो मति है, वह सब मिथ्या है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को सुखी-दुःखी करने की वृत्ति नहीं होती और पर्याय में जो भी सुखी-दुःखी करने के भाव होते है उसका ज्ञानी निश्चय से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से इन गाथाओं को समझना चाहिये।

अनादिकाल से जीव कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाये हुए है। जब किसी भी कर्म का उदय होता है, तब जीव अज्ञानवश उन कर्मों के अनुसार अपने शुभाशुभ भाव करता है। और उन भावों के निमित्त से नये शुभाशुभकर्म बँधते हैं। जब तक जीव आत्मानुभूति प्राप्त कर आत्मज्ञानी नहीं बनता, तब तक वह कर्मों के चंगुल से मुक्त नहीं होता।

आत्मज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये निश्चयनय से ज्ञानी कर्म से मुक्त और नवीन कर्मबन्धन से भी मुक्त कहलाता है। अज्ञानी का मैंपन आत्मविकल्परूपी पर्याय में ही होता है। उसी को यहाँ मति कहा गया है, और इस मूढ़मति को ही मिथ्या कहा गया है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि यदि जीव अपने कर्मों से ही दुःखी होते हैं तो 'मैं जीवों को अपने मन, वचन, काया अथवा शस्त्रों के द्वारा दुःखी करता हूँ' इस प्रकार की तुम्हारी जो मति है, वह मिथ्या है।

यहाँ आचार्यश्री ने यह बात उपादान की अपेक्षा से की है। उपादान की अपेक्षा से एक जीव दूसरे जीव को सुखी–दुःखी नहीं कर सकता। तथापि आत्मानुभूतिरहित होने के कारण अज्ञानी का कर्ता–कर्म सम्बन्ध का ज्ञान सम्यक् नहीं होता। इसलिये उसे ये सभी अध्यवसान होते हैं, जो मोक्षमार्ग में निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्या कहे गये हैं। यहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को गौण रखा गया है। इसलिये किसी को भी उसे अन्यथा समझकर अपना अनन्त संसार नहीं बढ़ाना चाहिये। यहाँ जीव का कर्म के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है परन्तु जीव का कर्ता–कर्म सम्बन्ध अपने पुराने भावों से है, जिसका निमित्त पाकर वे कर्म बँधे थे। इसलिये उन भावों के प्रतिबिम्ब के रूप में आचार्यश्री ने कर्म को सुख–दुःख का कारण माना है।

इसी प्रकार आगे आचार्यश्री कहते हैं कि यदि जीव कर्मों के निमित्त से सुखी होते हैं तो अभिप्राय की अपेक्षा से 'मैं उनको मन–वचन–काया से सुखी करता हूँ' ऐसे विकल्प भी मिथ्या हैं, क्योंकि ज्ञानी के अभिप्राय में ऐसे विकल्प नहीं होते यानी ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से इन भावों का कर्ताभोक्ता नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २६८–२७० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २८५–२८७

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरिय–णेरइए ।
देव–मणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ।।268।।

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोग–लोगं च ।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ।।269।।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ।।270।।

भावानुवाद : *जीव अध्यवसान से तिर्यंच, नारकी, देवता और मनुष्य इन सभी पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप रूप (अपने) को करता है। और इसी प्रकार जीव अध्यवसान से धर्म, अधर्म, जीव, अजीव, लोक, अलोक इत्यादि रूप अपने को करता है। जिनके ये तथा ऐसे और भी अध्यवसान नहीं होते, वे मुनि शुभाशुभकर्मों से लिप्त नहीं होते।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में पर्यायों के प्रति और अध्यवसानों के प्रति सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा भाव ही होता है, कर्ताभोक्ता भाव नहीं होता। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि वैसे मुनि शुभाशुभकर्मों से लिप्त नहीं होते।

ज्ञानी का 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये निश्चयनय से ज्ञानी को कोई भी अध्यवसान नहीं होते। इस अपेक्षा से ज्ञानी कर्मबन्ध से लिप्त नहीं होता। मुनि छठवें एवं सातवें गुणस्थानों में झूलते रहते हैं। इसलिये वे भी ज्ञानी ही होते हैं। इस अपेक्षा से कहा गया है कि मुनि को भी कोई अध्यवसान नहीं होता। इसलिये निश्चयनय से मुनि शुभ–अशुभकर्मों से लिप्त नहीं होते।

जबकि अज्ञानी को अनेक प्रकार के अध्यवसान होते हैं, और उनके निमित्त से उसे तिर्यंच, नरक, देव या मनुष्य गति प्राप्त होती है। तथा वह स्वयं भी अनेक प्रकार के पुण्य–पापरूपी अध्यवसान करता है। वह धर्म–अधर्म, जीव–अजीव तथा लोक–अलोक के विषय में विविध प्रकार से विकल्प (अध्यवसान) करता हुआ स्वयं को अध्यवसान की अपेक्षा से उस रूप में करता है। ये सभी विकल्प ज्ञानी को निश्चयनय से नहीं होते। इसलिये ज्ञानी को निश्चयनय से बन्ध नहीं होता।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २८८

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ।।

भावानुवाद : *जब तक हृदय में संकल्प-विकल्प हैं, तब तक आत्मस्वरूपमय ऋद्धि (स्वात्मानुभूति) प्रकट नहीं होती। तब तक जीव शुभाशुभजनक कर्म करता है।*

टीका : ज्ञानी का 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। वह भाव सामान्यभाव होने से उसमें कोई विकल्प नहीं होते। इस अपेक्षा से (निश्चयनय से) ज्ञानी को शुभाशुभजनक कर्म नहीं बँधते। परन्तु जब तक जीव अज्ञानी है, तब तक उसका मैंपन पर्याय में ही होता है। उसको वे संकल्पविकल्परूपी पर्यायरूपी अध्यवसान होते रहते हैं और उसे उसके निमित्त से शुभाशुभजनक कर्मबन्ध भी होता है। इसलिये जो साधक मुक्त होना चाहता है, उसे सर्वप्रथम आत्मानुभूति के लक्ष्य से वैराग्यादि योग्यता और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है।

जब तक अभिप्राय की अपेक्षा से हृदय में पर की आसक्ति या मूर्छा के संकल्प-विकल्प हैं, तब तक आत्मस्वभावमय ऋद्धि (स्वात्मानुभूति) प्रकट नहीं होती। यहाँ बहुत ही स्पष्ट बताया गया है कि जब तक आत्मानुभूति नहीं होती, तब तक जीव शुभाशुभजनक कर्म करता रहता है। इसलिये कोई अज्ञानी ग़लत अर्थघटन के कारण अन्य रूप से यह न माने कि जब हम अपने को बौद्धिकरूप से भी शुद्धात्मा मान लेते हैं तो हम कर्मबन्ध से बच जाते हैं यानी कर्मबन्ध नहीं होता। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण ऐसी ग़लत मान्यता से स्वच्छन्द वर्तते हैं और स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानते हैं। इसी को निश्चयाभास कहते हैं, जिससे सभी साधकों को बचना चाहिये। क्योंकि इससे तो उनका अनन्त दुःखमय संसार ही बढ़ेगा।

ग़लत अर्थघटन के कारण अनेक लोग संकल्प-विकल्प को शून्य करने के प्रयास में लग जाते हैं, जैसे कुछ लोग निर्विचार होने का अभ्यास करने लगते हैं और उसी को निर्विकल्पता मान लेते हैं। परन्तु उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मात्र संकल्प-विकल्प को शून्य कर देने से 'पर' के प्रति आसक्ति या मूर्छा समाप्त नहीं होती। साथ ही, वे यह भी समझ नहीं पाते कि निर्विचारिता पर्याय है और निर्विकल्पता आत्मानुभूति है। अतः सर्वप्रथम अनित्य आदि बारह भावनाओं के माध्यम से पर-पदार्थ या पर-व्यक्ति के प्रति होनेवाली आसक्ति या मूर्छा का निरसन

करना आवश्यक है। इसके पश्चात् संकल्प-विकल्प स्वतः ही शान्त हो जाते हैं और साधक आत्मसन्मुख भी हो जाता है। तब उसे आत्मानुभूति हो सकती है जो द्रव्यस्वरूप शुद्धात्मा होने के कारण स्वभावतः ही निर्विकल्प होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २७१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २८९

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ।।271।।

भावानुवाद : *बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति तथा विज्ञान, ये सभी एकरूप ही हैं। ये सब चित्त या भाव या परिणाम हैं।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उस शुद्धात्मा में कोई भी विशेषभाव नहीं होता। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि विशेषभावों को जानता है परन्तु उनका महिमामण्डन नहीं करता, उनके कारण अपने को बड़ा नहीं मानता।

इस गाथा में दर्शाये हुए बुद्धि, व्यवसाय, मति तथा विज्ञान, ये सभी एकरूप ही हैं, वे सब चित्त, भाव या परिणाम होने से विशेषभाव हैं। इसलिये उनको यहाँ चित्त या भाव या परिणाम स्वरूप बताया है। अर्थात् वे सभी आत्मा की पर्यायें हैं, आत्मानुभूति में सभी पर्याय गौण होती हैं। इसलिये ये सभी आत्मानुभूति में नहीं होतीं। इसलिये कोई यदि अपनी प्रज्ञा, समझ, ग्रहण शक्ति, धारणा शक्ति, क्षयोपशम, बुद्धि इत्यादि पर गर्व करता है, उसी को साध्य मानकर चलता है तो जो शुद्धात्मानुभूति साध्य है वह छूट जायेगी। इसलिये यह समझना है कि ये सभी साधन हैं, साध्य नहीं। और ये सभी आत्मा की पर्यायें हैं। पर्याय अपेक्षा से ये सभी एकरूप ही हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २७२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २९०

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।272।।

भावानुवाद : *इस प्रकार व्यवहारनय का निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध होता है। पुनः निश्चयनयाश्रित (शुद्धात्मा में मैंपन करनेवाला) मुनि निर्वाण को प्राप्त होता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उसी को आचार्यश्री ने गाथा १४ में शुद्धनय कहा है। गाथा १४ में आचार्यश्री बताते हैं कि जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष रूप से अनुभव करता है उसे शुद्धनय जानो। उस आत्मानुभूति में व्यवहारनय न होने से उसका निषेध हो जाता है।

इससे स्पष्ट होता है कि शुद्धनय की उत्पत्ति आत्मानुभूति से चतुर्थ गुणस्थान में ही होती है। इससे यहाँ जो निश्चयाश्रित बताया गया है वह चतुर्थादि गुणस्थान रूप बताया गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, उसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है जिसमें कोई भी भेदरूपी या उपचाररूपी व्यवहार नहीं होता।

इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ निश्चयनय को शब्दों से आश्रित करने का आशय नहीं है, क्योंकि कई लोग भ्रमवश ग़लत अर्थघटन करके निश्चयनयाश्रित से यह अर्थ निकालते हैं कि निश्चयनय को जीवन में प्रमुखता देनी चाहिये। यह बात तो ज्ञानी के लिये सही है परन्तु अज्ञानी को जब तक आत्मानुभूति नहीं होती, तब तक वह अज्ञानी शुद्धनिश्चयनय को प्राप्त ही नहीं कर पाता और वह निश्चयनय का आश्रय ही नहीं ले सकता। इसलिये बिना आत्मानुभूति के उस जीव का ज्ञान प्रमाण ही नहीं होता।

इसी कारण से आचार्यश्री ने गाथा १२ में बताया है कि परमभाव को देखनेवाला (आत्मानुभूति करनेवाला) ज्ञानी शुद्धात्मा दर्शानेवाले शुद्धनय के उपदेश का पात्र है। अपरम भाव में स्थित अज्ञानी व्यवहारनय के उपदेश का पात्र है। अतः बिना आत्मानुभूति के जो निश्चयनय को शब्दों से ही ग्रहण करता है वह निश्चयाभासी बन सकता है।

इस गाथा में आचार्यश्री का यह आशय नहीं है कि लोग बिना आत्मानुभूति के निश्चयनय का आश्रय लें। आचार्यश्री यहाँ बताते हैं कि जो निश्चयनयप्राप्त जीव अपनी शुद्धात्मा का बार-बार अनुभव करता रहेगा और उसी में स्थिर रहने का प्रयास करता रहेगा वह निश्चयनयाश्रित है। एवं निश्चयनयाश्रित मुनि निर्वाण प्राप्त करता है।

निश्चयनय की अनुभूति में कोई भी विकल्प नहीं होता, कोई भी भेद नहीं होता। क्योंकि आत्मानुभूति अभेद और निर्विकल्प होती है। व्यवहारनय विकल्पसहित और भेदसहित है इसलिये व्यवहारनय आत्मानुभूति में मौजूद नहीं होता। इसलिये स्वयमेव आत्मानुभूति में व्यवहारनय का

निरोध हो जाता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध होता है। यह सहज रूप से होनेवाली प्रक्रिया है।

यदि कोई बिना निश्चयनय की प्राप्ति के व्यवहार का निषेध करेगा तो वह त्रिशंकु की तरह कहीं का नहीं रहेगा। क्योंकि निश्चयनय तो मिला ही नहीं और व्यवहारनय छोड़ दिया। ऐसे जीव प्रायः निश्चयाभासी हो जाते हैं। इसलिये आचार्यश्री ने गाथा ५ में कहा है कि इस ग्रन्थ को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाण करना, इससे छल (भ्रम) मत ग्रहण करना। उन्हें भी आशंका थी कि यदि लोग बिना आत्मानुभूति के इस ग्रन्थ को अन्यथा समझेंगे तो उनके भवचक्र बढ़ जायेंगे।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २७३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २९१

वद-समिदी-गुत्तीओ सील-तवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ।।273।।

भावानुवाद : *जिणवरप्रणीत व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि होते हैं।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उस जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहते हैं। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। उस जीव को साधनाक्रम में आगे अपने गुणस्थानानुसार व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप इत्यादि होते हैं। इसलिये जिनवरों ने इनका उपदेश दिया है।

कई लोग इसका विपरीत अर्थ करके ऐसी व्यवहाराभासवाली समझ बना लेते हैं कि सिर्फ़ व्रत, समिति, इत्यादि पालना ही मोक्षमार्ग है। व्रतादि पालने का निषेध नहीं है परन्तु उसे सार्थक करने के लिये उसके अनुरूप गुणस्थानप्राप्ति अत्यन्त ज़रूरी है, क्योंकि सिर्फ़ व्रतादि पालने से ही आत्मा, ज्ञानी बन जायेगी—यह ज़रूरी नहीं है। क्योंकि अभव्य जीव भी इन्हें पालकर नौवें ग्रैवेयक नामक स्वर्ग तक जा सकते हैं। बिना आत्मानुभूति के बाह्य व्रतादि का पालन जीव को मोक्ष दिलाने के लिये समर्थ नहीं है।

ज्ञातव्य है कि आचार्यश्री ने अभव्य जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है। इसी प्रकार से यदि कोई अज्ञानी भी ग़लत अर्थघटन के कारण बिना आत्मानुभूति के बाह्य व्रतादि पालकर स्वयं को

मोक्षमार्गस्थित मानता है तो उसे भी आचार्यश्री ने यहाँ मिथ्यादृष्टि ही बताया है। तात्पर्य यह है कि व्रतादि पालो या न पालो परन्तु सर्वप्रथम सभी जीवों को एकमात्र आत्मानुभूति का ही लक्ष्य होना चाहिये, क्योंकि बिना आत्मानुभूति के किसी का भी मोक्ष नहीं होता। यही इस गाथा का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २७४–२७५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २९२–२९३

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ।।274।।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ।।275।।

भावानुवाद : *जो अभव्य जीव है, वह शास्त्रों का अध्ययन तो करता है, किन्तु मोक्ष में श्रद्धा नहीं रखता। ऐसे ज्ञान में श्रद्धा न करनेवाला जीव (शास्त्र) अध्ययन तो करता है परन्तु ज्ञान के प्रति अश्रद्धावाले को शास्त्रपाठ गुण नहीं करता। वह सिर्फ़ भोग के निमित्त बननेवाले धर्म में ही श्रद्धा करता है, उसी की प्रतीति करता है, उसी में रुचि रखता है, और पुनः उसी का स्पर्श (आचरण) करता है। परन्तु कर्मक्षय के निमित्त (लक्ष्य) से नहीं करता।*

टीका : यहाँ आचार्यश्री अभव्य जीव की बात कर रहे हैं, परन्तु यही कथन मोहाधीन अज्ञानी जीव पर भी समान रूप से लागू होता है। अभव्य जीव और मोहाधीन अज्ञानी जीव– दोनों ही शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी, उनके यथार्थ अर्थ का निर्णय न कर पाने के कारण, अभिप्राय में न तो मोक्ष में श्रद्धा करते हैं, न ही मोक्षमार्ग को समझ पाते हैं। फलतः उन्हें शास्त्रपठन से वह लाभ नहीं प्राप्त होता, जो वास्तव में होना चाहिये। अर्थात्, जिस उद्देश्य से शास्त्रों की रचना हुई है ऐसा दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्ग उनके लिये सुलभ नहीं होता। उसे प्रथम तो सम्यग्दर्शन ही प्राप्त नहीं होता।

अभव्य जीव उस सच्चे मोक्षमार्ग की प्राप्ति कभी नहीं कर सकता, जबकि मोहाधीन अज्ञानी जीव यदि वैराग्यादि योग्यताओं की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करे और वैराग्यादि योग्यतापूर्वक पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख बने, तो उसे आत्मप्राप्ति यानी आत्मानुभूति सम्भव है। यही महत्त्वपूर्ण भेद है अभव्य और मोहाधीन अज्ञानी जीव में। इसी लिये समस्त जीवों को

वैराग्यादि योग्यतापूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। तभी उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, अर्थात् ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति और श्रद्धा होगी।

अभव्य जीव के अभिप्राय में मोक्ष के प्रति श्रद्धा नहीं होती और अज्ञानवश वह अपने को देहरूप ही मानता है। इसलिये उसकी श्रद्धा, प्रतीति और रुचि उसी धर्म में होती है, जो उसे इन्द्रियभोग की सामग्री प्रदान करे। वह उसी प्रकार का धर्म पालता है, क्योंकि उसका अभिप्राय इन्द्रियसुख की प्राप्ति होता है। अभव्य और मोहाधीन अज्ञानी दोनों ही जीवों को बाह्य पदार्थों के प्रति प्रबल सुखबुद्धि होती है। अतः उनका ध्येय भी उन्हीं की प्राप्ति होता है। इसी अपेक्षा से आचार्यश्री यहाँ स्पष्ट करते हैं कि अभव्य जीव संसाररसिकता के कारण सिर्फ़ उस धर्म में श्रद्धा करता है, प्रतीति करता है, रुचि रखता है और सिर्फ़ उसी धर्म का आचरण करता है जो कर्मक्षय यानी मोक्ष का निमित्त नहीं, अपितु भोग का साधन हो। संसाररसिकता के कारण उसे इस भोग प्रदान करनेवाले शरीर से भी मुक्ति की आकांक्षा नहीं होती। इसलिये वह ऐसा धर्म नहीं पालता, जो कर्मक्षय का निमित्त बने। उसका ध्येय यही होता है कि अधिकाधिक पुण्य की प्राप्ति हो, क्योंकि वह जानता है कि पुण्य से ही भोगसामग्री मिलती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २७६-२७७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २९४-२९५

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो ।।276।।

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ।।277।।

भावानुवाद : व्यवहारनय का कथन है कि आचारांगादि शास्त्र ज्ञान हैं, जीवादि तत्त्वों (के श्रद्धान) को दर्शन जानना, और षड्जीवनिकाय (की रक्षा) चारित्र है। निश्चय से मेरी आत्मा ही ज्ञान है, मेरी आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरी आत्मा ही प्रत्याख्यान है, और मेरी आत्मा ही संवर और योग है।

टीका : ज्ञानी जीव की आत्मानुभूति ही उसके लिये सब कुछ है, क्योंकि ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति में सभी गुण समाहित हैं, वही उसका विश्व है। निश्चयनय अर्थात् शुद्धनय अभेद होता है। ज्ञानी शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप होता है। शुद्धात्मा में सभी गुण आ जाते हैं। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है।

आत्मानुभूति में पर्याय गौण होती है। इसलिये आचार्यश्री गाथा २ में कहते हैं कि जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित हो रहा है, उसे स्वसमय जानो। उस गाथा में आचार्यश्री अभेद द्रव्य की ही बात कर रहे हैं, पर्याय की नहीं। गाथा ७ में आचार्यश्री यही बात दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हैं। वे बताते हैं कि ज्ञानी को दर्शन–ज्ञान–चारित्र ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं। निश्चय से ज्ञानी को न ज्ञान है, न दर्शन है और न ही चारित्र है। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। वही भाव आचार्यश्री इन गाथाओं में भी व्यक्त कर रहे हैं।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसा जीव जब गुणश्रेणीवाली निर्जरा करते हुए गुणस्थानारोहण करता है, तब वह आचारांगादि शास्त्रों का पाठी भी बनता है, जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता एवं श्रद्धा करनेवाला भी बनता है, और षड्जीवनिकाय की रक्षा करनेवाला साधु भी बनता है। ये सभी मोक्षमार्ग में सहज ही आनेवाले गुणस्थानों में सहज होनेवाले आचार हैं।

परन्तु जब कोई अज्ञानी इन बाह्य आचरणों को देखता है, तब उसे अज्ञानवश यही लगता है कि आचारांगादि शास्त्र ज्ञान हैं, जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान ही दर्शन है, और षड्जीवनिकाय की रक्षा ही चारित्र है। अज्ञानी को बाह्य आचरण तो दिखता है परन्तु अज्ञानवश ज्ञानी के भीतर की आत्मानुभूतिरूप चालक बल (driving force) का पता नहीं होता। इसलिये वह अज्ञानवश इन बाह्य आचरणों को ही दर्शन–ज्ञान–चारित्र मानता है। इसलिये आचार्यश्री इसे व्यवहारनय कहते हैं, चूँकि यह नियम नहीं है कि इनकी उपस्थिति के कारण जीव ज्ञानी हो ही जायेगा।

वास्तव में दर्शन–ज्ञान–चारित्र का, प्रत्याख्यान का और संवर तथा योग का सीधा सम्बन्ध आत्मानुभूति और आत्मस्थिरता से है, बाह्य आचरण से नहीं। यहाँ आचार्यश्री का अभिप्राय यह है कि बाह्य आचरण मोक्ष दिलाने के लिये समर्थ नहीं है। उनका ज़ोर आत्मानुभूति और आत्मस्थिरता पाने पर है, क्योंकि बिना आत्मानुभूति और आत्मस्थिरता के हमने अनादिकाल से कई बार बाह्य आचाररूप चारित्र ग्रहण किया लेकिन फिर भी हम अभी तक इस दुःखमय संसार में भटक रहे हैं। आचार्यश्री का उद्देश्य हमें इस दुःखमय संसार से मुक्त कराने का है। और उसके लिये आचार्यश्री सभी को आत्मानुभूति पाने को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २७८-२७९ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३००-३०१

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।278।।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।।279।।

भावानुवाद : *जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादि के रूप में (लालिमा के रूप में) स्वयं नहीं परिणमता परन्तु अन्य रत्तादि (लाल रंग के) द्रव्यों से लाल रंग का किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी शुद्ध होने से रागादि के रूप में स्वयं नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी किया जाता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। उस जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहते हैं। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। उस शुद्धात्मा में रागादि कोई भी पर्याय नहीं होती, इस अपेक्षा से यहाँ आचार्यश्री बताते है कि ज्ञानी शुद्ध होने से रागादि के रूप में स्वयं नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी किया जाता है। यहाँ आचार्यश्री उदाहरण देकर ज्ञानी के रागरूप परिणमन को समझा रहे हैं।

जैसे स्फटिकमणि शुद्ध यानी पारदर्शी होता है परन्तु उसके बाज़ू में जिस रंग का द्रव्य होता है, उस रंग की छाया स्फटिक पर पड़ने से वह उस रंग का दिखायी देता है। वह बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि स्फटिकमणि शुद्ध होने से स्वयं लाल नहीं होता परन्तु बाज़ू में रखे लाल रंग के द्रव्य के कारण स्फटिकमणि लाल किया जाता है, अर्थात् लाल दीखता है।

वैसे ही ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से शुद्ध होता है। इसी अपेक्षा से कहा जाता है कि ज्ञानी को न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ छोड़ना बचा है। फिर भी ज्ञानी अपने गुणस्थानानुसार राग-द्वेष करते दिखते हैं। उसमें निमित्तकारण कर्मों के उदय के रूप में पुराने रागादि दोष होते हैं। उन कर्मों के निमित्त से वह रागादि के रूप में किया जाता है।

वास्तव में ज्ञानी के अभिप्राय में रागादि नहीं होते, इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि वह स्वयं शुद्ध होने से रागादि के रूप में स्वयं नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों से रागी होता है। अर्थात् ज्ञानी का रागादि से एकत्व नहीं होता यानी उसके अभिप्राय में राग नहीं होता, क्योंकि रागादि पर्याय आत्मानुभूति में गौण हो जाती है। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २८०-२८२ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३०२-३०४

ण य राग-दोस-मोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥280॥

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बन्धदि पुणो वि ॥281॥

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बन्धदे चेदा ॥282॥

भावानुवाद : *ज्ञानी राग, द्वेष, मोह या कषायभाव को ख़ुद अपने में नहीं करता। इसलिये वह उन भावों का कारक (कर्ता) नहीं है। राग-द्वेष और कषायकर्मों के होने पर जो भाव होते हैं, उनके अनुरूप परिणत होता हुआ (अज्ञानी) रागादि को पुनः पुनः बाँधता है। राग-द्वेष और कषायकर्मों के होने पर जो भाव होते हैं, उनके अनुरूप परिणत हुई आत्मा रागादि को बाँधती है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं होता। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी राग, द्वेष, मोह, कषायभाव को अपने आप नहीं करता परन्तु पिछली गाथा में बताये उदाहरण के अनुसार अन्य द्रव्यों के निमित्त से वह रागादि के रूप में में परिणमता दीखता है।

इसलिये उसके अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को रागादि का अकर्ता बताया गया है। जबकि अज्ञानी जीव के राग-द्वेष और कषायकर्मों के उदय के निमित्त से जो राग-द्वेषादि भाव

होते हैं उन राग-द्वेषादि भावों के निमित्त से वह जीव रागादि कर्मों से पुनः पुनः बँधता है। यह अज्ञानी जीव की अपेक्षा से है, क्योंकि अज्ञानी जीव का मैंपन अपनी और शरीररूपी पुद्गल की पर्याय में होने से वह अपने राग-द्वेषादि का कर्ता होता है।

जबकि ज्ञानी अपने राग-द्वेष का कर्ता नहीं होता। इसलिये उसे पुनः पुनः रागादि कर्मों का बन्ध नहीं होता। इसलिये अगली गाथा में आचार्यश्री कहते हैं कि राग, द्वेष, कषायादि कर्मों के निमित्त से जो आत्मा अपने को उस भाव के अनुरूप कर लेती है यानी रागादि से एकत्व कर लेती है वह रागादि से बँधती है। परन्तु ज्ञानी का रागादि से एकत्व नहीं होता, वह रागादि का ज्ञाताद्रष्टा मात्र होता है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी रागादि से पुनः पुनः नहीं बँधता।

यहाँ विशेष यह है कि ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से रागादि का अकर्ता होने पर भी वह कर्मों के उदय से अपनी पर्याय में रागादि के रूप में परिणमता है। तब वह आकुल न होते हुए भी उससे मुक्त होने के उपाय/साधना भी करता रहता है।

इसके विपरीत, भ्रमवश स्वयं को ज्ञानी माननेवाला निश्चयाभासी जब अपनी पर्याय में रागादि उत्पन्न होते हुए जानता है, तब वह मूढ़मति उन रागादि का कृत्रिमता से सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा बनने की कोशिश करता है और उस ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। लेकिन उसका सम्यक् उपाय नहीं कर पाता। वह अपने आप को भ्रमवश रागादि का अकर्ता मानता तो है लेकिन वह रागादि का कर्ता है और पुनः पुनः रागादि से बँधता भी रहता है। इस प्रकार वह अपना दुःखमय संसार हरा-भरा रखता है। यही विडम्बना है बिना अनुभूति के शास्त्रों से छल (भ्रम) ग्रहण करने की।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २८३-२८५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३०५-३०७

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं ।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ।।283।।

अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणं पि ।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ।।284।।

जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो ।।285।।

भावानुवाद : *जैसे अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है, वैसे ही अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का होता है—यह जानें। इस (ग्रन्थ के) उपदेश से आत्मा अकारक कही गयी है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यसम्बन्धी और भावसम्बन्धी। उसी प्रकार, अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार के (द्रव्यसम्बन्धी और भावसम्बन्धी) होते हैं। इस (ग्रन्थ के) उपदेश से आत्मा को अकारक कहा गया है। जब तक आत्मा द्रव्य और भाव का अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करती रहती है, तब तक वह कर्ता होती है—ऐसा जानना चाहिये।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं होता। ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति ही निश्चय से प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हैं। अतः अज्ञानी को निश्चय से प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं होता।

अनादिकाल से जीव का कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध और निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बना हुआ है। इसलिये कर्मों के उदय के निमित्त से जीव रागादिभाव करता है और उन भावों के निमित्त से नये कर्म बँधते हैं। अनादिकाल से जीव इस प्रकार कर्मों के चंगुल में अपने अज्ञानवश फँसा हुआ है। इसलिये जब तक जीव अज्ञानी है, तब तक वह अपने पुराने पापों की अनुमोदना करता रहता है, स्वदोष का बचाव भी करता रहता है और उन्हें सही ठहराने का प्रयास भी करता रहता है। इसी को आचार्यश्री ने यहाँ अप्रतिक्रमण कहा है।

जीव को अनादि से चार संज्ञाओं के संस्कार दृढ़ होते हैं। अज्ञानी इन संस्कारों के वश में होकर भविष्य में भी इनको पाने की चाह रखता है और उसकी योजना भी बनाता रहता है। इसे यहाँ अप्रत्याख्यान बताया गया है। इन अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के २–२ प्रकार हैं। एक द्रव्य अप्रतिक्रमण एवं द्रव्य अप्रत्याख्यान और दूसरे भाव अप्रतिक्रमण और भाव अप्रत्याख्यान। उनमें से जो भाव अप्रतिक्रमण और भाव अप्रत्याख्यान हैं, वे जीव के भाव हैं। द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान अजीव हैं अर्थात् शरीरादि से जुड़े हुए हैं।

ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। अर्थात् वह उसका अकारक यानी अकर्ता कहा जाता है। यही इस ग्रन्थ का मुख्य उपदेश है। इसलिये अज्ञानी जीव

जब तक द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान को एकत्व रूप से करता रहता है, तब तक वह उसका कर्ता होता है। क्योंकि अज्ञानी का मैंपन आत्मा की पर्याय और शरीररूपी पुद्गल की पर्याय में ही होता है। इसलिये अज्ञानी कर्ता बनता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानकर्ता नहीं होता, फिर भी अज्ञानी अज्ञानवश अपने अभिप्राय में उसका कर्ता बनता है। और जब तक अज्ञानी अज्ञानवश इन भावों का कर्ता बना रहता है यानी अज्ञानवश अभिप्राय में पर का कर्तृत्व रहता है, तब तक वह पुनः पुनः कर्मों का बन्ध करता रहता है, और कर्मों के चंगुल से छूट नहीं पाता। इसलिये यहाँ बताया गया है कि जब तक आत्मा, द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करती है, तब तक वह अज्ञानी है और उनकी कर्ता बनती है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २८६-२८७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २९६, २९८

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ।।286।।

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ।।287।।

भावानुवाद : *अधःकर्म आदि जो यह पुद्गलद्रव्य के दोष हैं, जो कि सदा परद्रव्य के गुण हैं, उन्हें ज्ञानी कैसे कर सकता है? अधःकर्म और उद्देशिक ऐसा वह पुद्गलमय द्रव्य है, जो सदा ही अचेतन कहा गया है—वह मेरी (चेतन) आत्मा से कृत कैसे हो सकता है?*

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा २९७, २९९

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमणा परस्स गुणा ।।

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम करविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ।।

भावानुवाद : अधःकर्म आदि जो यह पुद्गलद्रव्य के दोष हैं, जो कि अन्य व्यक्ति द्वारा किये गये परद्रव्य के गुण हैं, उनका ज्ञानी कैसे अनुमोदन कर सकता है? अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलमय द्रव्य हैं, जो सदा ही अचेतन कहे गये हैं। वे मेरे (चेतन आत्मा) द्वारा कृत कैसे हो सकते हैं?

टीका : यहाँ आहार से जुड़े अध:कर्म आदि दोषों को और उद्देशिक आहार को भी दोषपूर्ण बताया गया है। यह अध:कर्म आदि दोष द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार के होते हैं। परन्तु यहाँ ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति की अपेक्षा से उन्हें पुद्गलद्रव्य के दोष बताया गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का कर्ता नहीं होता। अभिप्राय में उसका स्व–स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है।

आत्मानुभूति में अधःकर्मादि दोष न होने से अधःकर्मादि दोषों को परद्रव्य के गुण कहा गया है और ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से उनका अकर्ता कहा गया है। इसी अपेक्षा से अधःकर्म को अचेतन भी बताया गया है। इसलिये निश्चय से ज्ञानी उनका कर्ता कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। आगे बताते है कि वे निश्चय से ज्ञानी द्वारा अनुमोदित या कराये गये भी कैसे हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते। यह बात ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से बतायी गयी है। यही इन गाथाओं का सार है।

बन्ध अधिकार का उपसंहार

अज्ञान के कारण जीव रागादि पर्याय में जो मैंपन करता है, वही तेल के लेप की तरह कर्म बन्ध का कारण है। अज्ञानी जीव अज्ञानवश अभिप्राय की अपेक्षा से पर का कर्ता बनकर कर्म बाँधता है। इसलिये जिसे अभिप्राय में पर का अकर्ता बनना है उसे यथाशीघ्र आत्मानुभूति प्राप्त करनी चाहिये, न कि अपने को बिना आत्मानुभूति के भी भ्रमवश बौद्धिकरूप से अकर्ता और कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा मानना चाहिये। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से परम अकर्ता–अभोक्ता होता है, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये उसे अभिप्राय की अपेक्षा से बन्ध नहीं होता।

जो अभिप्राय में यह मानता है कि मैं परजीवों की हिंसा करता हूँ और परजीव मेरी हिंसा करते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। और जो इसके विपरीत माननेवाला है, वह ज्ञानी है। सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को मारने की वृत्ति नहीं होती। वह स्वयं को अनादि, अनन्त, ज्ञानस्वरूप जानता है और जानता है कि कोई भी जीव उसकी, इस ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा, की हिंसा नहीं कर सकता और न ही उस भाव में परजीवों की हिंसा का भी भाव होता है, क्योंकि ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा द्रव्य है और हिंसा आदि के भाव पर्याय में ही होते हैं। अतः उसके अभिप्राय में भय का भी कोई स्थान नहीं होता। यह बात ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से कही गयी है। यदि कोई इस कथन को ग़लत अर्थघटन के कारण वास्तविकता (व्यवहार) में लागू करके यह मान ले कि दो भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता, अतः न मैं किसी की हिंसा कर सकता हूँ, न कोई मेरी हिंसा कर सकता है, और ग़लत अर्थघटन के कारण इस मान्यता के आधार पर वह यथेच्छ हिंसा करता हुआ स्वयं को भ्रमवश अकर्ता मानता रहे, तो वह इस अधिकार का यथार्थ अर्थ नहीं समझ पाया है।

अनादिकाल से जीव दूसरों की हिंसा करता आया है, और अन्य जीव उसकी हिंसा करते आये हैं। तब वह जीव अज्ञानवश कर्ताभोक्ताभाव में डूबा हुआ था। इसी कारण से वह कर्ममुक्त नहीं हो पाया और कर्मों के विषचक्र में फँसा हुआ है। यह कथन निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से है। यदि कोई इस सम्बन्ध को नकारकर निमित्त को सर्वथा अकर्ता माने, तो वह एकान्तवादी कहलायेगा, क्योंकि ग़लत अर्थघटन के कारण ऐसा मान लेने से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का नाश नहीं होता।

निश्चयनय से कोई किसी की आयु हर ही नहीं सकता। परन्तु व्यवहारनय से आयुक्षय के अवसर पर कोई जीव दूसरे की मृत्यु का निमित्त बन सकता है। सम्पूर्ण जिनोपदेश निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि पर आधारित है। अतः इस कथन के अभिप्राय को एकान्त से नहीं समझना चाहिये।

सर्वज्ञ भगवान बताते हैं कि जीव आयुकर्म के उदय से जीता है। तुम परजीवों को आयुकर्म तो देते नहीं, तो फिर ऐसा क्यों मानते हो कि तुमने जीवन दिया? सर्वज्ञ भगवान बताते हैं कि जीव आयुकर्म के उदय से जीता है। परजीव तुम्हें आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो फिर ऐसा क्यों मानते हो कि वे तुम्हें जीवन देते हैं? उपादान की अपेक्षा से कोई भी अपनी आयु न तो दूसरे को दे सकता है, न ही कोई दूसरे की आयु ले सकता है। हाँ, एक जीव, दूसरे जीव की मृत्यु में निमित्त बन सकता है, परन्तु उसे आयु नहीं दे सकता।

यह शास्त्र मुख्यतः आत्मानुभूति का ही प्रकाशक है। अतः इसमें अधिकांश बातें उपादान की दृष्टि से ही कही गयी हैं। निमित्त को गौण रखा गया है। अर्थात् कर्ता–कर्म सम्बन्ध को मुख्य किया गया है और निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को गौण। अतः यहाँ निश्चय से बताया गया है कि कोई किसी को न जीवन दे सकता है, न उससे जीवन ले सकता है। यदि कोई जीव बिना आत्मानुभूति के ग़लत अर्थघटन के कारण बौद्धिकरूप से ऐसा मानने लगे कि 'मैं परजीवों की हिंसा नहीं कर सकता हूँ और परजीव मेरी हिंसा नहीं कर सकते हैं' तो वह निश्चयाभासी ही कहलायेगा, जिनशासनबाह्य ही कहलायेगा। अर्थात् वह पाखण्डी मत का ही समर्थक होगा।

जो मरता है और जो दुःखी होता है, वह सब कर्मोदय से होता है। इसलिये 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' – ऐसा तुम्हारा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है? जो नहीं मरता है और दुःखी नहीं होता है, वह भी कर्मोदय से ही होता है। इसलिये 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया'—ऐसा तुम्हारा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में न कुछ ग्रहण

करना शेष रहता है, न कुछ त्यागना। इसलिये उसके अभिप्राय में परजीवों को सुखी–दुःखी करने की वृत्ति नहीं होती। इस अपेक्षा से इसको समझना चाहिये।

यह बात उपादान की अपेक्षा से बतायी गयी है। निमित्त को यहाँ गौण किया गया है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि ग़लत अर्थघटन के कारण सिर्फ़ कर्ता–कर्म सम्बन्ध को ही मानकर यदि कोई यह सोचता है कि 'मैंने दूसरे को मारा, या दुःखी किया अथवा मैंने दूसरे को नहीं मारा, दुःखी नहीं किया' तो ऐसा अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि उपादान रूप से दो द्रव्यों का सम्बन्ध कर्ता–कर्म रूप से नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं और भिन्न द्रव्यों में एक दूसरे का उपादान बनने की शक्ति नहीं होती। अर्थात् दो भिन्न द्रव्य एक–दूसरे को उपादानरूप से नहीं परिणमाते।

यहाँ कोई यदि ग़लत अर्थघटन के कारण एकान्त से यह समझकर कि 'मैं किसी को सुख–दुःख और जीवन–मृत्यु नहीं दे सकता', हिंसा का आचरण करता हो तो यह सरासर ग़लत समझ होगी। यदि कोई इसे इस प्रकार ग़लत समझे तो आचार्यश्री ने पूर्व में ही सावधान किया है कि इस शास्त्र से ग़लत अर्थ ग्रहण कर अपना संसार न बढ़ायें, अर्थात् इस शास्त्र से छल (भ्रम) ग्रहण न करें। अनादिकाल से हमें अपने अलावा किसी और ने नहीं छला है। अतः अब अनादि की कहानी नहीं दोहरानी चाहिये।

जीवों को जो पाप या पुण्य का बन्ध होता है, वह अध्यवसान के निमित्त से ही होता है। कोई वस्तु या व्यक्ति के निमित्त से बन्ध नहीं होता। अर्थात् कर्मबन्ध का नियम से अध्यवसान के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, कोई वस्तु या व्यक्ति से नहीं। ज्ञानी को भी अध्यवसान से ही कर्मबन्ध होता है पर उसे अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का कर्ताभोक्ता भाव नहीं होता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा भाव ही होता है। इस अपेक्षा से ज्ञानी को कर्मबन्ध नहीं होता—ऐसा कहा जाता है।

साधकों को 'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ', इत्यादि विकल्पों को धर्म नहीं समझना चाहिये, क्योंकि धर्म में प्रवेश तो आत्मानुभूति से ही होता है। प्रथम आत्मप्राप्ति, तदनन्तर आत्मस्थिरता, यही सत्यधर्म है; यही मोक्ष का मार्ग है। ज्ञानी के अभिप्राय में ये सब नहीं होते। यदि कोई इस कथन का ग़लत अर्थघटन कर बिना आत्मानुभूति के ऐसा समझता है कि मैं किसी को सुखी–दुःखी नहीं करता हूँ, बाँधता नहीं हूँ, छुड़ाता नहीं हूँ तो वह अपना अनन्त अहित कर रहा है। ये बातें ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से बतायी गयी

हैं। इसलिये अज्ञानी को ऐसा मानना या बोलना अनन्त दुःखमय संसार का कारण बनता है। इसलिये इससे बचना चाहिये। ज्ञानी के अभिप्राय में 'मैं जीवों को सुखी–दुःखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ' ये भाव नहीं होते, परन्तु पर्याय में तो ज्ञानी भी अपने गुणस्थान के अनुसार शुभाशुभ भाव करता है।

जब तक अभिप्राय की अपेक्षा से हृदय में पर की आसक्ति या मूर्छा के संकल्प–विकल्प हैं, तब तक आत्मस्वभावमय ऋद्धि (स्वात्मानुभूति) प्रकट नहीं होती। तब तक जीव शुभाशुभजनक कर्म करता है। यहाँ बहुत ही स्पष्ट बताया गया है कि जब तक आत्मानुभूति नहीं होती, तब तक जीव शुभाशुभजनक कर्म करता रहता है। इसलिये कोई अज्ञानी ग़लत अर्थघटन के कारण अन्य रूप से यह न माने कि जब हम अपने को बौद्धिकरूप से भी शुद्धात्मा मान लेते हैं तो हम कर्मबन्ध से बच जाते हैं यानी हमें कर्मबन्ध नहीं होता। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण ऐसी ग़लत मान्यता से स्वच्छन्द वर्तते हैं और स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। इसी को निश्चयाभास कहते हैं, जिससे सभी साधकों को बचना चाहिये। क्योंकि इससे तो उनका अनन्त दुःखमय संसार ही बढ़ेगा।

ग़लत अर्थघटन के कारण अनेक लोग संकल्प–विकल्प को शून्य करने के प्रयास में लग जाते हैं, जैसे कुछ लोग निर्विचार होने का अभ्यास करने लगते हैं और उसी को निर्विकल्पता मान लेते हैं। परन्तु उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मात्र संकल्प–विकल्प को शून्य कर देने से 'पर' के प्रति आसक्ति या मूर्छा समाप्त नहीं होती। साथ ही, वे यह भी समझ नहीं पाते कि निर्विचारिता पर्याय है और निर्विकल्पता आत्मानुभूति है। अतः सर्वप्रथम अनित्य आदि बारह भावनाओं के माध्यम से पर–पदार्थ या पर–व्यक्ति के प्रति होनेवाली आसक्ति या मूर्छा का निरसन करना आवश्यक है। इसके पश्चात् संकल्प–विकल्प स्वतः ही शान्त हो जाते हैं और साधक आत्मसन्मुख भी हो जाता है। तब उसे आत्मानुभूति हो सकती है जो द्रव्यस्वरूप शुद्धात्मा होने के कारण स्वभावतः ही निर्विकल्प होती है।

निश्चयनय की अनुभूति में कोई भी विकल्प नहीं होता, कोई भी भेद नहीं होता। क्योंकि आत्मानुभूति अभेद और निर्विकल्प होती है। व्यवहारनय विकल्प सहित और भेदसहित है इसलिये व्यवहारनय आत्मानुभूति में नहीं होता। इसलिये स्वयमेव आत्मानुभूति में व्यवहारनय का निरोध हो जाता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध होता है। यह सहज होनेवाली प्रक्रिया है।

जिनवरप्रणीत व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव को साधना क्रम में अपने गुणस्थानानुसार व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप इत्यादि होते हैं। इसलिये जिनवरों ने इनका उपदेश दिया है। कई लोग इसका विपरीत अर्थ करके ऐसी व्यवहाराभासवाली समझ बना लेते हैं कि सिर्फ़ व्रत, समिति, इत्यादि पालना ही मोक्षमार्ग है। बाह्य व्रतादि को सार्थक करने के लिये उसके अनुरूप गुणस्थानप्राप्ति अत्यन्त ज़रूरी है, क्योंकि सिर्फ़ बाह्य व्रतादि पालने से ही आत्मा, ज्ञानी बन जायेगी – यह नियम नहीं है। क्योंकि अभव्य जीव भी इन्हें पालकर नौवें ग्रैवेयक नामक स्वर्ग तक जा सकते हैं।

जो अभव्य और दुर्भव्य जीव हैं, वह शास्त्रों का अध्ययन तो करते हैं, किन्तु अभिप्राय में मोक्ष की श्रद्धा नहीं कर पाते। ऐसे ज्ञान स्वरूप मोक्ष में श्रद्धा न करनेवाले जीव शास्त्र का अध्ययन तो करते हैं परन्तु ज्ञान स्वरूप मोक्ष की अश्रद्धावाले को शास्त्रपाठ गुण नहीं करता। ऐसे लोग सिर्फ़ भोग के निमित्त बननेवाले धर्म में ही श्रद्धा करते हैं, उसी की प्रतीति करते हैं, उसी में रुचि रखते हैं, और पुनः उसी का आचरण करते हैं। परन्तु कर्मक्षय के लक्ष्य से धर्म नहीं करते। उनको मोक्ष में श्रद्धा नहीं होती और अज्ञानवश वे अपने को देहरूप ही मानते हैं। इसलिये उनकी श्रद्धा, प्रतीति और रुचि उसी धर्म में होती है, जो उन्हें इन्द्रियभोग की सामग्री प्रदान करे। वे उसी प्रकार का धर्म पालते हैं, क्योंकि उनका अभिप्राय इन्द्रियसुख की प्राप्ति होता है।

व्यवहारनय का कथन है कि आचारांगादि शास्त्र ज्ञान हैं, जीवादि तत्त्वों (के श्रद्धान) को दर्शन जानना, और षड्जीव निकाय (की रक्षा) चारित्र है। निश्चय से मेरी आत्मा ही ज्ञान है, मेरी आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरी आत्मा ही प्रत्याख्यान है, और मेरी आत्मा ही संवर और योग है। ज्ञानी जीव की आत्मानुभूति ही उसके लिये सब कुछ है, क्योंकि ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति में सभी गुण समाहित हैं, वही उसका विश्व है। निश्चयनय अर्थात् शुद्धनय अभेद होता है। ज्ञानी शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप होता है। शुद्धात्मा में ज्ञान–दर्शन आदि सभी गुण आ जाते हैं।

जैसे स्फटिकमणि शुद्ध यानी पारदर्शी होता है परन्तु उसके बाज़ू में जिस रंग का द्रव्य होता है, उस रंग की छाया स्फटिक पर पड़ने से वह स्फटिकमणि उस रंग का दिखायी देता है। यही बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि स्फटिकमणि शुद्ध होने से स्वयं लाल नहीं होता परन्तु बाज़ू में रखे लाल रंग के द्रव्य के कारण स्फटिकमणि लाल हो जाता है, अर्थात् लाल दीखती है। वैसे ही ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा

से शुद्ध होता है। इसी अपेक्षा से कहा जाता है कि ज्ञानी को न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ छोड़ना बचा है। फिर भी ज्ञानी अपने गुणस्थानानुसार राग–द्वेष करते दिखते हैं। उसमें निमित्तकारण कर्मों के उदय के रूप में पुराने रागादि दोष होते हैं। उन कर्मों के निमित्त से वह रागादि के रूप में किया जाता है।

अज्ञानी अपने राग–द्वेष का कर्ता होता है। जबकि ज्ञानी अपने राग–द्वेष का कर्ता नहीं होता। इसलिये उसे पुनः पुनः रागादि कर्मों का बन्ध नहीं होता। इसलिये आचार्यश्री कहते हैं कि राग, द्वेष, कषायादि कर्मों के निमित्त से जो आत्मा अपने को उस भाव के अनुरूप कर लेती है यानी रागादि से एकत्व कर लेती है वह रागादि से बँधती है। परन्तु ज्ञानी का रागादि से एकत्व नहीं होता, वह रागादि का ज्ञाताद्रष्टा मात्र होता है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी रागादि से पुनः पुनः नहीं बँधता।

दो द्रव्यों के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् एक जीव उपादान के रूप में दूसरे जीव को न जीवन दे सकता है और न ही उसका जीवन ले सकता है तथा न दूसरों को सुखी–दुःखी कर सकता है और न ही दूसरे उसे सुखी–दुःखी कर सकते हैं। जीव दूसरे जीव के मरण में या सुख–दुःख में निमित्त मात्र बन सकता है परन्तु निमित्त सदैव दूसरे द्रव्य की पर्याय में असर करता है, द्रव्य में नहीं। इस ग्रन्थ में सभी बातें प्रायः द्रव्य की अपेक्षा से कही गयी हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ का विषय ही शुद्धनय है। और शुद्धनय में पर्याय गौण होती है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि सभी जीव अपने कर्म के अनुसार फल पाते हैं। यह कथन ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से है, क्योंकि ज्ञानी का मैंपन द्रव्य में होता है, पर्याय में नहीं।

इस प्रकार इस शास्त्र को उसकी अपेक्षासहित समझना आवश्यक है।

मोक्ष अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २८८-२९० - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३०८-३१०

जह णाम को वि पुरिसो बन्धणयम्मि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥288॥

जदि ण वि कुव्वदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बन्धणवसो सं ।
कालेण दु बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥289॥

इय कम्मबन्धणाणं पदेसठिदिपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो ॥290॥

भावानुवाद : *जैसे दीर्घकाल से बन्धन में बँधा हुआ कोई पुरुष उस बन्धन के तीव्र-मन्द स्वभाव और उसके काल को जानता है किन्तु जब तक वह उस बन्धन को स्वयं नहीं काटता तब तक उससे मुक्त नहीं होता। बन्धन में रहता हुआ वह नर बहुत काल तक भी उससे मुक्त नहीं होता। इसी प्रकार जीव कर्मबन्धनों के प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभाग को जानता हुआ भी (स्वयमेव कर्मबन्ध से) मुक्त नहीं होता। किन्तु जब वह स्वयं शुद्ध होता है, तब वह मुक्त होता है।*

टीका : जब किसी पुरुष को किसी ने रस्सी से कसकर बाँध रखा है, तब वह बँधा हुआ पुरुष उस बन्धन की तीव्रता या मन्दता को महसूस कर सकता है। उसे यह भी पता होता है कि वह कब से बँधा हुआ है। इस उदाहरण से आचार्यश्री जीव के कर्मबन्ध को समझा रहे हैं। उदाहरण सर्वथा लागू नहीं होता, क्योंकि उदाहरण में बन्धन की शुरुआत ज्ञात है, परन्तु जीव अनादिकाल से कर्मों से बँधा हुआ है। उसके कर्मबन्धन की कोई शुरुआत नहीं है।

रस्सी से कसकर बँधा हुआ पुरुष अपने आप नहीं छूटता, उस बन्धन को काटना अथवा कटवाना पड़ता है। परन्तु आत्मा और कर्म का बन्धन अन्य कोई नहीं काट सकता। स्वयं को काटना पड़ता है। और यदि वह बन्धन नहीं काटता तो वह पुरुष बहुत काल तक उस बन्धन से मुक्त नहीं होता।

इस उदाहरण से आचार्यश्री बता रहे हैं कि जीव और कर्मबन्ध के प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभाग को सिर्फ़ जान लेने से जीव कर्म से मुक्त नहीं होगा। कर्मों की स्थिति आदि की विस्तृत बौद्धिक जानकारी पा लेने से यदि कोई यह माने कि 'मैंने कर्मों को समझ लिया या कर्मबन्ध को जान लिया तो मेरी मुक्ति हो जायेगी', ऐसे मत को यहाँ आचार्यश्री निरस्त कर रहे हैं। दूसरे, नियतिवादी, कालवादी विचारधाराओं के मत को भी वे निरस्त कर रहे हैं।

कई लोग समझते हैं कि अपना काल आने पर जीव अपने आप मुक्त हो जायेगा। उनको आचार्यश्री बता रहे हैं कि जब तक जीव स्वयं शुद्ध नहीं होता, तब तक वह कर्मों से मुक्त नहीं होता। वह शुद्धि दो प्रकार से है :–

१. जब जीव वैराग्यादि योग्यताओंसहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है, तब उसका एकत्व और ममत्व अभिप्राय में सिर्फ़ शुद्धात्मा में स्थापित होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इस अपेक्षा से अर्थात् अभिप्राय के हिसाब से सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों से मुक्त होता है, क्योंकि उसे शुद्धात्मा का उपयोग या लब्धिरूप से अनुभव बना रहता है। यह प्रथम प्रकार की शुद्धि हुई। यह आंशिक शुद्धि है।

२. जब सम्यग्दृष्टि जीव बार–बार आत्मानुभूति करते हुए आत्मस्थिरता प्राप्त करता है, तब वह क्षपकश्रेणी चढ़ता है और केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त कर वह आयुक्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार वह कर्मों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। यह द्वितीय प्रकार की शुद्धि है। यह पूर्ण शुद्धि है।

आचार्यश्री परोक्ष रूप से इन शुद्धियों को प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २९१-२९३ -
आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३११, ३१२, ३१५

जह बँधे चिंतंतो बन्धणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बँधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ।।291।।

जह बँधे छेत्तूण य बन्धणबद्धो दु पावदि विमोक्खं ।
तह बँधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ।।292।।

बन्धाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च ।
बँधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ।।293।।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३१३-३१४

जह बँधे भेत्तूण य बन्धणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।
तह बँधे भेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ।।

जह बँधे मुत्तूण य बन्धणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।
तह बँधे मुत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ।।

भावानुवाद : *जिस प्रकार बन्धनों से बँधा हुआ पुरुष उस बन्धन का (सिर्फ़) चिन्तन करने से मुक्ति को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी बन्धनों का (सिर्फ़) चिन्तन करने से मुक्ति नहीं पाता। जैसे बन्धनों से बँधा पुरुष उन बन्धनों को छेदकर मुक्त होता है, उसी प्रकार जीव भी बन्धनों को छेदकर मोक्ष पाता है। बन्धनों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को (अनुभवपूर्वक) जानकर बन्धनों के प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।*

भावानुवाद : *जैसे बन्धनों से बँधा पुरुष उन बन्धनों को भेदकर मुक्त होता है, उसी प्रकार जीव भी बन्धनों को भेदकर मोक्ष पाता है। जैसे बन्धनों से बँधा पुरुष उन बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है, उसी प्रकार जीव भी बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है।*

टीका : यहाँ आचार्यश्री यह बता रहे हैं कि सिर्फ़ बन्धन का चिन्तनात्मक विचार करने से ही बँधा हुआ जीव बन्धनों से मुक्त नहीं हो जायेगा, इसी प्रकार कोई भी साधक कर्मबन्ध के प्रकारों का चिन्तन करने से कर्ममुक्त नहीं हो जाता। आगे बताते हैं कि बन्धनों से बँधा हुआ

पुरुष बन्धनों को काटकर या भेदकर ही बन्धनों से मुक्त होता है। इसी प्रकार कर्मों के बन्धनों को काटना ही जीव के लिये आवश्यक है, उसके बिना वह कर्ममुक्त नहीं हो पायेगा।

आगे आचार्यश्री कर्मबन्ध से मुक्ति का उपाय बताते हैं—बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धनों के प्रति जो विरक्त होता है, वही कर्मों से मुक्त होता है। यहाँ जो बन्धनों के स्वभाव को जानने की बात कही गयी है, वह आस्रव के द्वार को समझने की बात है। क्योंकि कर्मबन्ध आस्रवपूर्वक ही होता है। बिना आस्रव के बन्ध नहीं होता। आस्रव चार प्रकार के हैं :– मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये आस्रव इसी क्रम से जाते हैं। इसलिये जिसे भी बन्धों के स्वभाव को जानना हो, उसे मिथ्यात्वादि आस्रवों के कारणों को जानना पड़ेगा और मिथ्यात्वादि अपनी वृत्तियों को पहचानना पड़ेगा। और धर्मध्यानादि साधनाओं से इन बहिर्मुखी वृत्तियों को निरस्त करना पड़ेगा।

आगे आचार्यश्री ने आत्मा के स्वभाव को जानने की बात कही है। आत्मा का स्वभाव है जानना–देखना। यहाँ आत्मा के विशेषस्वभाव की बात नहीं है पर ज्ञानसामान्यभावरूप ज्ञायक स्वभाव की बात है। आत्मा के ज्ञानसामान्यभावरूप ज्ञायक स्वभाव को जानने की एक ही विधि है और वह है आत्मानुभूति। कई लोग ग़लत अर्थघटन करने के कारण आत्मा के स्वभाव को बौद्धिकरूप से जान लेते है, आत्मा के स्वभाव को अनुभूतिपूर्वक जानना है यह नहीं समझने के कारण वे ख़ुद को छलते हैं और अपना दुःखमय संसार बढ़ाते हैं। वैसे जीव यहाँ बताये गये आत्मा के स्वभाव को कोरी बौद्धिक जानकारी के रूप में जान लेते हैं और दूसरों को उसका उपदेश भी देते हैं। परन्तु बिना आत्मानुभूति के आत्मा के ज्ञानसामान्यभावरूप ज्ञायक स्वभाव की कोरी बौद्धिक जानकारी कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि हमने कई बार नौ पूर्व तक का अभ्यास किया है, परन्तु अब तक हम कर्ममुक्त नहीं हुए।

आचार्यश्री बन्धनों के प्रति विरक्त होने को कह रहे हैं। बन्धनों से विरक्त होना अर्थात् कर्मबन्ध के जो मिथ्यात्वादि कारण हैं उनको उकसानेवाली अपनी ग़लत वृत्तियों से विरक्त होना। अर्थात् अपनी ग़लत वृत्तियों से छुटकारा पाना। यही तो मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है। कई लोग बिना आत्मानुभूति के ही आत्मस्वभाव की कोरी बौद्धिक जानकारी को दृढ़ करने को ही पुरुषार्थ मानते हैं परन्तु वह सिर्फ़ बौद्धिक और मानसिक पुरुषार्थ होता है। उससे ग़लत वृत्तियों में कोई बदलाव नहीं होता।

फिर भी कई लोगों का बिना आत्मानुभूति के ही आत्मस्वभाव की कोरी बौद्धिक जानकारी को दृढ़ करने का ही आग्रह बना रहता है और वे मानते हैं की जानकारीरूपी आत्मस्वभाव दृढ़ करने से वृत्तियाँ अपने आप बदल जायेंगी। उन्हें यह पता होना चाहिये कि आत्मस्वभाव की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान से ही होती है। उसके पहले अज्ञानी जीवों की अपने आत्मस्वभाव के प्रति श्रद्धा आकाशकुसुम अथवा गधे के सींग के प्रति श्रद्धा के समान होती है। अज्ञानी जीव को द्रव्य का अनुभव न होने से वह अपनी पर्याय में ही, जो उस पर्याय में नहीं है, वैसी अपने आत्मस्वभाव की कल्पना बौद्धिकरूप से करके भ्रमवश स्वयं को वैसा शुद्ध ही मान लेता है और उस ख़ुशफ़हमी में ही रहता है। इसलिये सभी साधकों को ऐसे ग़लत अर्थघटनों से बचना चाहिये। यही बात आचार्यश्री ने गाथा ५ में कही है, जिसमें उन्होंने ख़ुद को छलने से मना किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २९४-२९७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३१६-३१९

जीवो बन्धो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ।।294।।

जीवो बन्धो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बन्धो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ।।295।।

किह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ।।296।।

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ।।297।।

भावानुवाद : *जीव तथा बन्ध नियत स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं (पृथक् किये जाते हैं)। प्रज्ञारूपी छैनी से छेदे जाने पर वे नानापन को प्राप्त होते हैं (अलग हो जाते हैं)। इस प्रकार जीव और बन्ध अपने नियत स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं। वहाँ बन्ध को छेदना (छोड़ना) चाहिये और शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये। वह (शुद्ध) आत्मा कैसे ग्रहण की जाये? प्रज्ञा के द्वारा (शुद्ध) आत्मा को ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया, वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये। प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो चेतनस्वरूप है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं—ऐसा जानना चाहिये।*

टीका : जीव तथा बन्ध उपरोक्त गाथा में बताये अनुसार नियत (अपने–अपने) स्वलक्षणों के द्वारा पृथक् किये जाते हैं। यहाँ जीव का स्वलक्षण ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा है और बन्ध का स्वलक्षण मिथ्यात्वादि जीव के भाव हैं। अर्थात् एक द्रव्यस्वरूप है और दूसरा पर्यायस्वरूप है। इन्हें प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा पृथक् करने पर अर्थात् अपना उपयोग ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा की अनुभूति में लगने से वे (शुद्धात्मा और बन्धरूपी भाव) भिन्न हो जाते हैं। अर्थात् भेदज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार जीव तथा बन्ध के नियत स्वलक्षणों से पृथक् होने के बाद यानी आत्मानुभूति करके बन्ध को छोड़ना चाहिये और शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये। आगे भी शुद्धात्मा की बार–बार अनुभूति करते रहना चाहिये। उससे गुणश्रेणीवाली निर्जरा भी होगी और गुणस्थानारोहण भी होगा। इस प्रकार जीव की आध्यात्मिक प्रगति के साथ बन्ध क्रमशः छूटता जायेगा। यही विधि है बन्ध को छोड़ने की।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यहाँ जो शुद्धात्मा बतायी गयी है उसे कैसे ग्रहण करें? उसको ग्रहण करने की विधि बहुत ही सरल है परन्तु परसन्मुख बहिरात्मा जीव के लिये बहुत ही कठिन है। क्योंकि उपयोग को शुद्धात्मा में लगाना है, अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति करनी है। वह इस प्रकार करनी है कि जैसे शुद्धात्मा को ग्रहण किया तो बन्धरूप भाव अपने आप गौण हो जाते हैं। जैसे जीव और बन्ध को प्रज्ञा के द्वारा नियत स्वलक्षणों से पृथक् किया, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये। यह उपदेश वाक्य इसलिये बताया गया है कि प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये। वास्तव में जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसका उपयोग सहज ही शुद्धात्मा से एकत्व कर लेता है। अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति कर लेता है।

आगे आचार्यश्री बताते हैं कि शुद्धात्मा को प्रज्ञा के द्वारा किस प्रकार ग्रहण किया जाता है। जो जाननेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, अन्य सभी भाव मुझसे पर हैं। यही सम्यग्दर्शन की विधि है। जब जीव यह अनुभव करता है कि जाननेवाला मैं हूँ, अर्थात् 'ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा मैं हूँ' तब ज्ञेय रूप से विद्यमान सभी रागादिभावों के ऊपर जीव का उपयोग न होने से वे भाव गौण हो जाते हैं। अर्थात् आत्मानुभूतिरूपी शुद्धात्मा में वे रागादिभाव नहीं होते। इस

अपेक्षा से आत्मानुभूति को निर्विकल्प और नयातीत कहा जाता है। यही इन गाथाओं का सार है। परन्तु वैराग्यादि योग्यता के बिना, पर की इच्छाओं से विरत हुए बिना, जीव आत्मसन्मुखता प्राप्त नहीं कर पाता और बिना आत्मसन्मुखता के यह विधि कार्य ही नहीं करती। इसलिये बिना आत्मसन्मुखता के बार-बार इस विधि को करनेवाला भ्रम से निश्चयाभासी बन जाता है।

फिर भी कई लोगों का बिना आत्मानुभूति के ही आत्मस्वभाव की कोरी बौद्धिक जानकारी को दृढ़ करने का ही आग्रह बना रहता है और वे भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा मान लेते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। उन्हें यह पता होना चाहिये कि शुद्धात्मा की अनुभूति के रूप में प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान से ही होती है। उसके पहले अज्ञानी जीवों की शुद्धात्मा के प्रति श्रद्धा आकाशकुसुम अथवा गधे के सींग के प्रति श्रद्धा के समान होती है। अज्ञानी जीव को शुद्धात्मा की अनुभूति न होने से वह अपनी पर्याय में ही बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा की कल्पना करके भ्रमवश स्वयं को वैसा शुद्ध ही मान लेता है, जो उस पर्याय में नहीं है। इसलिये सभी साधकों को ऐसे ग़लत अर्थघटनों से बचना चाहिये। यही बात आचार्यश्री ने गाथा ५ में कही है, जिसमें उन्होंने ख़ुद को छलने से मना किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा २९८-३०० -
आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२०, ३२१, ३२३

पण्णाए घेत्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥298॥

पण्णाए घेत्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥299॥

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥300॥

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२२

पण्णाए घित्तव्वो उवलद्धो जो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥

भावानुवाद : *(आत्मा को) प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि 'जो देखनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ। शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं'—ऐसा जानना चाहिये। प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि 'जो जाननेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ। शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं'—ऐसा जानना चाहिये। सभी भावों को पर जानकर स्वयं को शुद्ध जानता हुआ कौन ज्ञानी ऐसा वचन कहेगा कि यह भाव मेरा है?*

भावानुवाद : *प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि 'जो (शुद्ध) उपलब्ध है वह निश्चय से मैं हूँ। शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं'—ऐसा जानना चाहिये।*

टीका : जीव का लक्षण है जानना–देखना। जीव चेतन है अन्य पाँच द्रव्य अचेतन हैं। उनमें से कोई भी द्रव्य जानने–देखने का काम नहीं करता। सिर्फ़ जीव ही जानने–देखने का कार्य करता है। इसलिये जानने–देखने को जीव का लक्षण बताया गया है। जानना–देखना ही जीव की पहचान है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि जीव को ग्रहण करने की विधि उसके जानने–देखने के लक्षण से ही है। जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति करता है, तब उसके अनुभव में ज्ञानसामान्यभावरूपी एवं दर्शनसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा ही आती है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अभिप्राय की अपेक्षा से तब उस जीव का मैंपन और मेरापन, एकत्व और ममत्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये 'शेष जो भी भाव हैं वे मुझसे पर हैं' ऐसा वह अभिप्राय में जानता है।

इन गाथाओं में सम्यग्दर्शन की विधि बतायी गयी है। परन्तु जब कोई जीव बिना वैराग्यादि योग्यता के, बिना पर की इच्छाओं से विरत हुए बिना, आत्मसन्मुख हुए 'जो देखनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं' इन शब्दों के द्वारा बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा को ग्रहण करने की कोशिश करता है तो वह जीव बहिरात्मा होने के कारण शुद्धात्मा को ग्रहण नहीं कर पाता। परन्तु ऐसा बार–बार करने से वह भ्रमयुक्त हो सकता है। और भ्रम से अपनी आत्मा को मात्र ज्ञानसामान्यभावरूप जानने–देखनेवाली मानने लगता है तथा जीवनभर के लिये उसी ख़ुशफ़हमी में रह सकता है। इसलिये यह सम्यग्दर्शन की विधि वैराग्यादि योग्यताओंसहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख हुए जीव को ही कार्यकारी होती है। इसलिये सभी साधकों को वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करनी चाहिये और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने

का प्रयास करना चाहिये। यह बात गाथा १८७ में बताते हुए आचार्यश्रीने साधक को परोक्ष रूप से इच्छारहित होने को कहा है।

अभिप्राय में ज्ञानी का स्व-स्वामित्व सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से अन्य सभी भाव उसके लिये पर हैं, पराये हैं। अतः उसके अभिप्राय में परभावों में मैंपन या मेरापन नहीं होता। इसलिये निश्चय से वह कभी पर को अपना नहीं कहेगा। इसी लिये आगे आचार्यश्री कहते हैं कि सभी भावों को पर जानकर स्वयं को शुद्ध जानता हुआ कौन ज्ञानी ऐसा वचन कहेगा कि 'यह भाव मेरा है'? यदि वह व्यवहार से पर को अपना कहता है तो भी उसके अभिप्राय में पर का स्वामित्व नहीं होता। अपनी पर्याय में उत्पन्न रागादि ज्ञानी को रोगरूप प्रतीत होते हैं। अतः ज्ञानी उन्हें टालने का भी प्रयास करता है। परन्तु भ्रमवश स्वयं को मात्र ज्ञानसामान्यभावरूपी जानने-देखनेवाला माननेवाला अज्ञानी निश्चयाभासी मूढ़ बनकर कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा बना रहता है और उसी ख़ुशफ़हमी में रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३०१-३०३ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२४-३२६

थेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो दु संकिदो भमदि ।
मा बज्झेऽज्जं केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो ।।301।।

जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि ।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ।।302।।

एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोऽहं ण बज्झामि ।।303।।

भावानुवाद : *जो पुरुष चोरी आदि के अपराध करता है, वह लोक में घूमता हुआ 'मुझे कोई चोर समझकर पकड़ न ले' इस प्रकार शंकित होकर घूमता है। जो पुरुष अपराध नहीं करता वह लोक में नि:शंक घूमता है, क्योंकि उसे बँधने की चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार अपराधी आत्मा 'मैं अपराधी हूँ, इसलिये मैं बँधूँगा' इस प्रकार शंकित होता है। और यदि अपराधरहित हो तो 'मैं नहीं बँधूँगा' इस प्रकार नि:शंक रहता है।*

टीका : यदि कोई जीव चोरी आदि अपराध करता है, तब तो उसे सदैव यही शंका बनी रहेगी कि 'मुझे कोई चोर समझकर पकड़ न ले।' परन्तु जो जीव कोई भी अपराध नहीं करता वह लोक में निःशंक होकर घूमता है, क्योंकि उसे डर नहीं होता।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता प्राप्त कर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का अभिप्राय की अपेक्षा से मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। अतः उसे अभिप्राय की अपेक्षा से न कुछ ग्रहण करना शेष है और न ही कुछ त्यागना शेष है। इस प्रकार ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि सदा अभिप्राय की अपेक्षा से निरपराध होता है, क्योंकि शुद्धात्मा निरपराध सामान्यभाव है। इस अपेक्षा से कहा गया है कि ज्ञानी को 'मैं अपराधी हूँ, इसलिये मैं बँधूँगा' यह भाव नहीं होता। इसलिये ज्ञानी निःशंक होता है। चूँकि उसका अभिप्राय अबन्धस्वरूप है, उसे अभिप्राय की अपेक्षा से कोई कर्मबन्ध ही नहीं है। इसलिये उसे अपने अभिप्राय में कर्मों से बँधने की शंका नहीं होती।

अज्ञानी का मैंपन आत्मा की रागादि पर्याय और शरीररूप पुद्गल की पर्याय में होता है, इस प्रकार उसका मैंपन पर में होता है। इसलिये वह हिंसा आदि अपराध करे या न करे फिर भी पर में मैंपन और मेरापन करने के कारण अपराधी ही है। इसलिये उसके व्यक्त या अव्यक्त डर बना रहता है कि 'मैं अपराधी हूँ, इसलिये (कर्मों से) बँधूँगा।' परन्तु निश्चयाभास के कारण भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा माननेवाला अज्ञानी ऐसा विचार नहीं करता और स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानकर ख़ुशफ़हमी में ही रहता है।

यहाँ आचार्यश्री ने परोक्षरूप से सभी को ज्ञानी बनने की प्रेरणा दी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३०४-३०५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२७, ३३९

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥304॥

जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥305॥

भावानुवाद : *संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये एकार्थवाची शब्द हैं। जो आत्मा निश्चय से राध-रहित है, वह अपराधी है। जो आत्मा निरपराध है, वह नि:शंक होती है। जो स्वयं को इस प्रकार (अनुभवपूर्वक शुद्धात्मा) जानता है, वह नित्य आराधना में रहता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहा गया है। अतः वह उसी शुद्धात्मा को बारम्बार अनुभव करते हुए गुणश्रेणीवाली निर्जरा करता है और गुणस्थानारोहण करते हुए क्षपकश्रेणी चढ़ता है और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है। आगे आयु का अन्त होने पर वह सिद्ध बनता है। यही मोक्ष की आराधना है।

सम्यग्दर्शन, विरति, केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि को संसिद्धि अर्थात् उपलब्धि बताया है। राध यानी आराधना बताया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव के लिये निश्चय से आत्मस्थिरता ही आराधना है। सिद्धपद यानी आराधना का अन्तिम फल। साधित और आराधित यानी प्राप्त फल। इन सभी को मोक्षमार्ग की अपेक्षा से एकार्थवाची बताया गया है। जो आत्मा राधरहित है अर्थात् आत्मानुभूति रहित है, वह आत्मा अपराधी है यानी मिथ्यात्वी जीव अपराधी है।

जो आत्मा निरपराध है अर्थात् जो ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि है वह इन सभी आराधनाओं और उपलब्धियों के केन्द्र में रहे शुद्धात्मा की अपेक्षा से निरपराध है। इसलिये वह आत्मा नि:शंक होती है।

ज्ञानी की आराधना – ज्ञानी सदैव उपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन करता हुआ अपने को आत्मानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मा जानता हुआ नित्य शुद्धात्मा में स्थिरता पाने के पुरुषार्थ रूपी आराधना में रहता है यानी ज्ञानी के अभिप्राय में नित्य आत्मस्थिरता का ही भाव रहता है। यही मोक्षमार्ग है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३०६-३०७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२८-३२९

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ।।306।।

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुम्भो ।।307।।

भावानुवाद : *प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि ये आठ प्रकार के विष्कुम्भ हैं। अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, अशुद्धि ये आठ प्रकार के अमृतकुम्भ हैं।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहा है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। उसके अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष है और न कुछ त्यागना शेष है। ऐसी परिस्थिति में उस जीव को अपने अभिप्राय में प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा और गर्हा के भाव नहीं होते, और न ही शुद्धि के भाव होते हैं। क्योंकि वह अपने अभिप्राय की अपेक्षा से स्वयं ही शुद्धात्मा है। यदि किसी जीव को अभिप्राय की अपेक्षा से ये सभी करने योग्य लगें तो उस जीव को अज्ञानी समझना चाहिये। क्योंकि अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी सिर्फ़ शुद्धात्मा ही है और शुद्धात्मा में इन सब का कर्तृत्व नहीं होता।

दूसरे, ये सभी भाव विकल्प होने से विशेषभाव हैं। इस अपेक्षा से भी ये सभी भाव आत्मानुभूतिस्वरूप निर्विकल्प ज्ञानसामान्यभाव में नहीं होते। और ज्ञानी के लिये आत्मस्थिरता ही परम धर्म है, क्योंकि उसी से उसका मोक्ष होगा। इस कारण से भी इन सभी भावों को विष्कुम्भ कहा है।

इन सभी भावों के आगे 'अ' लगाकर इनका निषेध किया गया है, क्योंकि निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का निषेध होता है और आत्मानुभूति तो निश्चयनयस्वरूप शुद्धनय है। यह बात गाथा १४ में पहले ही स्पष्ट की गयी है। इसलिये शुद्धनय की अपेक्षा से इन सभी का निषेधयुक्त भाव यानी शुद्धात्मा अमृतकुम्भ है।

व्यवहारनय से जब साधु छठवें और सातवें गुणस्थानों के बीच में झूलता रहता है, तब इन प्रतिक्रमणादि सभी का विकल्प उसको छठवें गुणस्थान में रोक लेता है। सातवें गुणस्थान में जाने में ये सभी भाव विकल्पात्मक होने से प्रतिबन्धक हैं। इस अपेक्षा से भी इन्हें यहाँ विष्कुम्भ कहा है। सातवें गुणस्थान और उससे ऊपर के गुणस्थानों में ये सभी विकल्प नहीं होते। इस अपेक्षा से भी इन सभी के निषेध को अमृतकुम्भ कहा गया है।

उपदेश सदा मोक्षमार्ग में ऊपर चढ़ने का ही होता है, नीचे गिरने का कभी नहीं होता। इसलिये किसी भी जीव को इन गाथाओं से छल (भ्रम) ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्यथा वे अपना अनन्त दुःखमय संसार ही बढ़ायेंगे, जो आचार्यश्री का मन्तव्य ही नहीं है।

प्रतिक्रमण – किये हुए दोषरूपी अतिक्रमण एवं आक्रमण से पीछे हटना और उसके लिये प्रायश्चित्तपूर्वक क्षमा माँगना ।

प्रतिसरण – संवेगपूर्वक आराधना में प्रवृत्त होना ।

परिहार – निर्वेदपूर्वक मिथ्यात्वादि दोषों का निवारण करना ।

धारणा – चार भावना, बारह भावना, धर्मध्यान आदि से चित्त का स्थिरीकरण करना ।

निवृत्ति – सांसारिक इच्छाओं से और विषय–कषायों के प्रति मूर्च्छा से चित्त का निवारण करना।

निन्दा – आत्मसाक्षी से स्वकीय दोषों की निन्दा करना ।

गर्हा – गुरुसाक्षी से स्वकीय दोषों की निन्दा करना ।

शुद्धि – स्वकीय राग–द्वेष आदि दोषों का पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्तपूर्वक आत्मशुद्धि करना ।

मोक्ष अधिकार का उपसंहार

सिर्फ़ कर्मबन्धन की तीव्रता, मन्दता, काल, प्रकृति आदि को जान लेने से ही जीव बन्ध से मुक्त नहीं हो जाता। उस बन्धन को काटना पड़ता है। बन्ध को काटने के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। उसके लिये वैराग्यादि योग्यता पाकर पर में सुखेच्छा का नाश करके आत्मसन्मुखता पाना आवश्यक है। तभी यहाँ बताया गया तरीक़ा काम करता है, अन्यथा बिना योग्यताओं के कोई जीव इस तरीक़े का बार–बार बौद्धिकरूप से प्रयोग करता है तो उसे निश्चयाभास हो सकता है। इसलिये सभी साधकों को सर्वप्रथम वैराग्यादि योग्यता पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये।

कई लोग समझते हैं कि अपना काल आने पर जीव अपने आप मुक्त हो जायेगा। उनको आचार्यश्री बता रहे हैं कि जब तक जीव स्वयं शुद्ध नहीं होता, तब तक वह कर्मों से मुक्त नहीं होता। वह शुद्धि दो प्रकार से है :–

१. जब जीव वैराग्यादि योग्यताओंसहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, उसका मैंपन सिर्फ़ सामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है, तब उसका एकत्व और ममत्व अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ शुद्धात्मा में स्थापित होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इस अपेक्षा से अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों से मुक्त होता है, क्योंकि उसे शुद्धात्मा का उपयोग या लब्धिरूप से अनुभव बना रहता है। यह प्रथम प्रकार की शुद्धि हुई। यह आंशिक शुद्धि है।

२. जब सम्यग्दृष्टि जीव बार–बार आत्मानुभूति करते हुए आत्मस्थिरता प्राप्त करता है, तब वह क्षपकश्रेणी चढ़ता है और केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त कर वह आयुक्षय होने पर मोक्ष

प्राप्त करता है। इस प्रकार वह कर्मों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। यह द्वितीय प्रकार की शुद्धि है। यह पूर्ण शुद्धि है। आचार्यश्री परोक्ष रूप से इन शुद्धियों को प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहे हैं।

आगे आचार्यश्री कर्मबन्ध से मुक्ति का उपाय बताते हैं—बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धनों के प्रति जो विरक्त होता है, वही कर्मों से मुक्त होता है। यहाँ जो बन्धनों के स्वभाव को जानने की बात कही है, वह आस्रव के द्वार को समझने की बात है। क्योंकि कर्मबन्ध आस्रवपूर्वक ही होता है। बिना आस्रव के बन्ध नहीं होता। आस्रव चार प्रकार के हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये आस्रव इसी क्रम से जाते हैं। इसलिये जिसे भी बन्धों के स्वभाव को जानना हो, उसे मिथ्यात्वादि आस्रवों के कारणों को जानना पड़ेगा और मिथ्यात्वादि अपनी वृत्तियों को पहचानना पड़ेगा। और धर्मध्यानादि साधनाओं से इन बहिर्मुखी वृत्तियों को निरस्त करना पड़ेगा।

यहाँ आचार्यश्री ने आत्मा के स्वभाव को जानने की बात कही है। आत्मा का स्वभाव है जानना–देखना। यहाँ आत्मा के विशेषस्वभाव की बात नहीं है पर ज्ञानसामान्यभावरूप ज्ञायक स्वभाव की बात है। आत्मा के ज्ञानसामान्यभावरूप ज्ञायक स्वभाव को जानने की एक ही विधि है और वह है आत्मानुभूति। कई लोग ग़लत अर्थघटन करने के कारण आत्मा के स्वभाव को बौद्धिकरूप से जान लेते हैं, आत्मा के स्वभाव को अनुभूतिपूर्वक जानना है यह समझ न होने से वे ख़ुद को छलते हैं और अपना दुःखमय संसार बढ़ाते हैं। वैसे लोग यहाँ बताये गये आत्मा के स्वभाव को कोरी बौद्धिक जानकारी के रूप में जान लेते हैं और दूसरों को उसका उपदेश भी देते हैं। परन्तु बिना आत्मानुभूति के आत्मा के ज्ञानसामान्यभावरूप ज्ञायक स्वभाव या यानी शुद्धात्मा की कोरी बौद्धिक जानकारी कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि हमने कई बार नौ पूर्व तक का अभ्यास किया है, परन्तु अब तक हम कर्ममुक्त नहीं हुए।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यहाँ जो शुद्धात्मा बतायी गयी है उसे कैसे ग्रहण करें? उसको ग्रहण करने की विधि बहुत ही सरल है परन्तु परसन्मुख बहिरात्मा जीव के लिये बहुत ही कठिन है। क्योंकि उपयोग को शुद्धात्मा में लगाना है, अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति करनी है। वह इस प्रकार करनी है कि जैसे शुद्धात्मा को ग्रहण किया तो बन्धरूप भाव अपने आप गौण हो जाते

हैं। जैसे जीव और बन्ध को प्रज्ञा के द्वारा नियत स्वलक्षणों से पृथक् किया, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये। यह उपदेश वाक्य इसलिये बताया गया है कि प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये। वास्तव में जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसका उपयोग सहज ही शुद्धात्मा से एकत्व कर लेता है। अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति कर लेता है।

परन्तु जब कोई जीव बिना वैराग्यादि योग्यता के, बिना पर की इच्छाओं से विरत होकर, बिना आत्मसन्मुख हुए 'जो देखनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ। शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं' इस शब्दों के द्वारा बौद्धिकरूप से शुद्धात्मा को ग्रहण करने की कोशिश करता है तो वह जीव बहिरात्मा होने के कारण शुद्धात्मा को ग्रहण नहीं कर पाता। परन्तु ऐसा बार-बार करने से वह भ्रमयुक्त हो सकता है। और भ्रम से स्वयं को मात्र ज्ञानसामान्यभावरूप जानने-देखनेवाला मानने लगता है तथा जीवनभर के लिये उसी ख़ुशफ़हमी में रह सकता है। इसलिये यह सम्यग्दर्शन की विधि वैराग्यादि योग्यताओं सहित पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख हुए जीव को ही कार्यकारी होती है। इसलिये सभी साधकों को वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करनी चाहिये और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये। यह बात गाथा १८७ में बताते हुए आचार्यश्री साधक को परोक्ष रूप से इच्छारहित होने को कह रहे हैं।

ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि सदा अभिप्राय की अपेक्षा से निरपराध होता है, क्योंकि शुद्धात्मा निरपराध सामान्यभाव है। इस अपेक्षा से कहा गया है कि ज्ञानी को 'मैं अपराधी हूँ, इसलिये मैं बँधूँगा' यह भाव नहीं होता। इसलिये ज्ञानी नि:शंक होता है। चूँकि उसका अभिप्राय अबन्धस्वरूप है, उसे अभिप्राय की अपेक्षा से कोई कर्मबन्ध ही नहीं है, इसलिये उसे अपने अभिप्राय में कर्मों से बँधने की शंका नहीं होती। अज्ञानी का मैंपन आत्मा की रागादि पर्याय और शरीररूप पुद्गल की पर्याय में होता है, इस प्रकार उसका मैंपन पर में होता है। इसलिये वह हिंसा आदि अपराध करे या न करे फिर भी पर में मैंपन और मेरापन करने के कारण अपराधी ही है। इसलिये उसके व्यक्त या अव्यक्त डर बना रहता है कि 'मैं अपराधी हूँ, इसलिये (कर्मों से) बँधूँगा।' परन्तु निश्चयाभास के कारण भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा माननेवाला अज्ञानी ऐसा विचार नहीं करता और स्वयं को भ्रमवश शुद्धात्मा मानकर ख़ुशफ़हमी में ही रहता है।

इस अधिकार में सम्यग्दर्शन, विरति, केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि को संसिद्धि अर्थात् उपलब्धि बताया है। राध यानी आराधना बताया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव के लिये निश्चय से आत्मस्थिरता ही आराधना है। सिद्धपद यानी आराधना का अन्तिम फल। साधित और आराधित यानी प्राप्त फल। इन सभी को मोक्षमार्ग की अपेक्षा से एकार्थवाची बताया गया है। जो आत्मा राधरहित है अर्थात् आत्मानुभूति रहित है, वह आत्मा अपराधी है यानी मिथ्यात्वी जीव अपराधी है।

निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। उसके अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना शेष है और न कुछ त्यागना शेष है। ऐसी परिस्थिति में उस जीव को अपने अभिप्राय में प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा और गर्हा के भाव नहीं होते, और न ही शुद्धि के भाव होते हैं। क्योंकि वह अपने अभिप्राय की अपेक्षा से स्वयं ही शुद्धात्मा है। यदि किसी जीव को अभिप्राय की अपेक्षा से ये सभी करने योग्य लगें तो उस जीव को अज्ञानी समझना चाहिये। क्योंकि अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी सिर्फ़ शुद्धात्मा ही है और शुद्धात्मा में इन सब का कर्तृत्व नहीं होता।

दूसरे, ये सभी भाव विकल्प होने से विशेषभाव हैं। इस अपेक्षा से भी ये सभी भाव आत्मानुभूतिस्वरूप निर्विकल्प ज्ञानसामान्यभाव में नहीं होते। और ज्ञानी के लिये आत्मस्थिरता ही परम धर्म है, क्योंकि उसी से उसका मोक्ष होगा। इस कारण से भी इन सभी भावों को विष्कुम्भ कहा गया है।

इन सभी भावों के आगे 'अ' लगाकर इनका निषेध किया गया है, क्योंकि निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का निषेध होता है और आत्मानुभूति निश्चयनय अर्थात् शुद्धनयरूप है। यह बात गाथा १४ में पहले ही स्पष्ट की गयी है। इसलिये शुद्धनय की अपेक्षा से इन सभी का निषेधयुक्त भाव यानी शुद्धात्मा अमृतकुम्भ है।

व्यवहारनय से जब साधु छठवें और सातवें गुणस्थानों के बीच में झूलता रहता है, तब इन प्रतिक्रमणादि सभी का विकल्प उसको छठवें गुणस्थान में रोक लेता है। सातवें गुणस्थान में जाने में ये सभी भाव विकल्पात्मक होने से प्रतिबन्धक हैं। इस अपेक्षा से भी इन्हें यहाँ विष्कुम्भ कहा गया है। सातवें गुणस्थान और उससे ऊपर के गुणस्थानों में ये सभी विकल्प नहीं होते। इस अपेक्षा से भी इन सभी के निषेध को अमृतकुम्भ कहा गया है।

उपदेश सदा मोक्षमार्ग में ऊपर चढ़ने का ही होता है, नीचे गिरने का कभी नहीं होता! इसलिये किसी भी जीव को ऐसी गाथाओं से छल (भ्रम) ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्यथा वे अपना अनन्त दुःखमय संसार ही बढ़ायेंगे, जो आचार्यश्री का मन्तव्य ही नहीं है।

ज्ञानी की आराधना – ज्ञानी सदैव उपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन करता हुआ अपने को आत्मानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मा जानता हुआ नित्य शुद्धात्मा में स्थिरता पाने के पुरुषार्थरूपी आराधना में लगा रहता है यानी ज्ञानी के अभिप्राय में नित्य आत्मस्थिरता का ही भाव रहता है। यही मोक्षमार्ग है।



सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३०८-३११ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३३०-३३३

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयमणण्णमिह ॥308॥

जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥309॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण सो होदि ॥310॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा ॥311॥

भावानुवाद : *जो द्रव्य की और गुणों की (पर्यायें) उत्पन्न होती हैं उनसे (द्रव्य और गुणों को) अनन्य जानो। जैसे जगत में कड़ा आदि (आभूषणों से) पर्यायों से स्वर्ण अनन्य है, उसी प्रकार। जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये गये हैं, उन परिणामों से जीव और अजीव को अनन्य जानो। आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुई है। इसलिये वह किसी का कार्य (यानी किसी की उत्पन्न की हुई) नहीं है, और न ही किसी को उत्पन्न करती है। इसलिये (किसी की उत्पत्ति में) कारण भी नहीं है। नियम से (आत्मा) कर्म के आश्रय (निमित्त) से कर्ता होती है और कर्ता (आत्मा) के आश्रय (निमित्त) से कर्म उत्पन्न होते हैं। अन्य किसी प्रकार से इनकी सिद्धि नहीं दिखती।*

टीका : सभी द्रव्य अपने परिणाम के रूप से स्वयं परिणमते हैं। अपेक्षा से द्रव्य की विशेषताओं को गुण कहा जाता है। इसलिये द्रव्य की पर्यायों में रही विशेषताओं को उन गुणों की पर्याय कहा जाता है। उपादान अपने परिणाम के रूप में स्वयं परिणमन करता है। अतः द्रव्यों और गुणों की पर्यायों को उन द्रव्यों और गुणों से अभिन्न समझना चाहिये।

आचार्यश्री ने इसी बात को समझाने के लिये स्वर्ण के कड़े का उदाहरण दिया है। स्वर्ण का कड़ा स्वर्ण से अनन्य, अभिन्न होता है, स्वर्ण के कड़े और स्वर्ण को कोई अलग नहीं कर सकता। स्वर्ण के त्रिकाल रूप और वर्तमान रूप का अन्तर समझाने के लिये द्रव्य और पर्याय का भेद किया गया है, वास्तव में ऐसा कोई भेद नहीं है।

इसी तर्ज़ पर यदि कोई द्रव्य और पर्याय को भिन्न समझता हो या उनमें क्षेत्रभेद मानता हो, या उन्हें चक्की के दो पाटों (नीचे द्रव्य और ऊपरवाला जो घूमता है वह पर्याय) की तरह भिन्न, या सीलिंग फ़ैन के डण्डे को द्रव्य और उसके पंखों को पर्याय इस तरह भिन्न मानता हो; या फिर यह मानता हो कि अपरिणामी में से कोई पर्याय निकलती है और वापिस उसी में चली जाती है; ऐसा मानता हो तो यहाँ आचार्यश्री ने इन सभी मतों को निरस्त कर दिया हैं। इसलिये सभी सुधीजनों को द्रव्य–पर्यायरूपी वस्तुव्यवस्था को यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

इसी बात को आगे और स्पष्ट किया गया है। जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्रों में बताये गये हैं उन परिणामों को उस जीव या अजीव से अभिन्न जानो। इस बात के सम्बन्ध में तो कुछ लोग यह बताते हैं कि जीव और अजीव दो द्रव्य भिन्न होने से उनको उनके परिणामों से अभिन्न बताया गया है। परन्तु ऐसे लोग 'उन परिणामों को उस जीव या अजीव से अभिन्न जानो' यह बात जीवद्रव्य में लागू नहीं करते एवं जीव के द्रव्य और पर्याय में क्षेत्रभेद आदि मानते हैं। ऐसे मत को यहाँ निरस्त कर दिया गया है।

सब द्रव्य स्वयंसिद्ध यानी स्वयम्भू और परिणामी हैं। इसलिये किसी भी द्रव्य को न अन्य द्रव्य ने उत्पन्न किया है और न ही वह अन्य द्रव्य का कार्य करता है। इसलिये आत्मा किसी अन्य द्रव्य का कार्य नहीं है। और न ही आत्मा किसी अन्य द्रव्य को उत्पन्न करती है। इसलिये आत्मा न अन्य द्रव्य का कार्य है और न ही अन्य द्रव्य का कारण है। अर्थात् आत्मा का या किसी भी अन्य द्रव्य का दूसरे द्रव्यों के साथ कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है। आत्मा अपने उपादान से अन्य द्रव्यों का कार्य नहीं करती। और न ही कोई अन्य द्रव्य उपादान से आत्मा का कार्य करता है।

कोई कहेगा कि इससे तो संसार का ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि यदि कर्मबन्ध आदि की व्यवस्था नहीं होगी तो सभी जीव कर्मों के अभाव में मुक्त हो जायेंगे! आचार्यश्री इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि नियम से कर्म के निमित्त से जीव राग–द्वेष करता है और उनका कर्ता बनता है। जीव के उन राग–द्वेषरूपी परिणामों के निमित्त से पुद्गलवर्गणा कर्मरूप से परिणमन करती है। इस प्रकार जब तक दोनों के बीच निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, तब तक दोनों एक दूसरे के परिणामों में निमित्त बनते हैं। इसी कारण से संसार का अस्तित्व है, बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था है।

इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण एकान्त से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को उड़ाकर या न मानते हुए किसी को भी छल (भ्रम) ग्रहण करके अपना अनन्त दुःखमय संसार नहीं बढ़ाना चाहिये। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३१२–३१३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३३४–३३५

चेदा दु पयडिअट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ।
पयडी वि चेयदयट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ॥३१२॥

एवं बन्धो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥३१३॥

भावानुवाद : *चेतन अर्थात् आत्मा प्रकृति के निमित्त से (परिणाम के रूप में) उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। प्रकृति (कर्म के रूप में) भी आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार एक दूसरे के निमित्त से आत्मा तथा प्रकृति दोनों का बन्ध होता है। इसी से संसार उत्पन्न होता है।*

टीका : अनादिकाल से जीव कर्मों के चंगुल में फँसकर कर्मों के उदय के निमित्त से राग–द्वेषादि परिणाम करता है। उन राग–द्वेषादि परिणामों के निमित्त से पुद्गल वर्गणा कर्म के रूप में परिणमन करती है। इन गाथाओं में यही बात बतायी गयी है कि प्रकृति यानी कर्मों के निमित्त से आत्मा के राग–द्वेषरूपी परिणाम उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं। प्रकृति भी अर्थात् पुद्गलवर्गणाएँ भी आत्मा के परिणाम के निमित्त से कर्मों के रूप में उत्पन्न तथा नष्ट होती हैं। इस प्रकार परस्पर निमित्त से दोनों का बन्ध (सम्बन्ध) होता है। इससे ही जीव का संसार उत्पन्न होता है। आत्मा

और प्रकृति आपस में दोनों की पर्यायों में ही निमित्त की भूमिका अदा करती हैं। द्रव्य में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं लगता, क्योंकि द्रव्य तीनों कालों में सदैव अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। वह कभी किसी दूसरे रूप में परिवर्तित नहीं होता।

कई लोग इस शास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को एकान्तवश मानते ही नहीं। वे एकान्त से ऐसा प्रचार करते रहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। यह बात उपादान की अपेक्षा से सच होने पर भी निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से ग़लत है। इसलिये साधक को दो द्रव्यों के सम्बन्ध को यथार्थ रूप से समझकर ग़लत निमित्तों से बचते हुए अपनी धर्मसाधना करनी चाहिये। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३१४–३१५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३३६–३३७

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुंचदि ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ ।।314।।

जदा विमुंचदे चेदा कम्मफलमणंतयं ।
तदा विमुत्तो हवदि जाणगो पस्सगो मुणी ।।315।।

भावानुवाद : *जब तक यह आत्मा प्रकृति के निमित्त (से उपजना–नष्ट होना) नहीं छोड़ती, तब तक वह अज्ञायक अर्थात् अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है। जब आत्मा अनन्त कर्मों के फल को छोड़ती है, तब वह मुक्त होती है, ज्ञायक होती है, दर्शक होती है, मुनि होती है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। इस वजह से यहाँ

बताये अनुसार ज्ञानी को आत्मानुभूति में विशेषभाव का ग्रहण नहीं होता, अर्थात् त्याग हो जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये, इस अपेक्षा से ज्ञानी मुक्त कहा गया है। क्योंकि ज्ञायक स्वरूप शुद्धात्मा मुक्त है जिस में ज्ञानी का मैंपन है।

इसलिये यहाँ बताया गया है कि जब आत्मा अनन्त कर्मफल छोड़ देती है और अभिप्राय की अपेक्षा से मुक्त हो जाती है, तब सिर्फ़ ज्ञायक और दर्शक है, अर्थात् ज्ञाताद्रष्टा है। ऐसा जीव निश्चय से मुनि है। क्योंकि उसे अभिप्राय में न कुछ ग्रहण करना बचा है न कुछ छोड़ना बचा है। यही बात आचार्यश्री ने दूसरे शब्दों में गाथा २ में कही है कि जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है उसे निश्चय से स्वसमय जानो। अर्थात् दोनों गाथाओं में आचार्यश्री निश्चय चारित्र यानी निश्चय मुनि की बात कर रहे हैं, जिसे कुछ लोग ग़लती से छठवें गुणस्थानवाला चारित्र या मुनि समझ लेते हैं। दोनों गाथाओं में चतुर्थादि सभी गुणस्थानों की बात है।

जबकि अज्ञानी जीव में पर का कर्तापन जीवित है अर्थात् वह अज्ञानवश पर का कर्ता बनता है, क्योंकि उसका मैंपन पर्याय में होता है। इसलिये वह पुद्गलकर्मों के निमित्त से अनन्तानुबँधी राग–द्वेष करता है। और उस राग–द्वेष के निमित्त से उसे कर्मबन्ध होता है। उसका मैंपन कर्मों के निमित्त से हुए राग–द्वेष और शरीर इत्यादि से होता है। जब तक अज्ञान का भाव बना रहता है, तब तक वह जीव अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी ही कहलाता है। चाहे वह प्रव्रज्या क्यों न धारण कर ले, निश्चयनय से वह अज्ञानी और असंयत ही है।

यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से सभी साधकों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहे हैं। यहाँ भ्रमवश स्वयं को बौद्धिकरूप से ज्ञायक मानने की बात नहीं हो रही है। ज्ञायकस्वरूप आत्मा की अनुभूति करके स्वयं को ज्ञायक जानने की बात है। इस आशंका के कारण ही आचार्यश्री ने गाथा ५ में इस शास्त्र से छल (भ्रम) न ग्रहण करने को कहा है। बिना आत्मानुभूति प्राप्त किये इस शास्त्र का समीचीन अर्थघटन करना कठिन है। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३१६-३१९ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३३८, ३४०-३४२

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥316॥

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥317॥

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणादि ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेदगो तेण सो होदि ॥318॥

ण वि कुव्वदि ण वि वेददि णाणी कम्माइं बहुप्पयाराइं ।
जाणदि पुण कम्मफलं बन्धं पुण्णं च पावं च ॥319॥

भावानुवाद : *अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ कर्मफल का वेदन करता है और ज्ञानी उदय में आये कर्मफल को जानता है, उसका वेदन नहीं करता। शास्त्रों को बहुत अच्छे से पढ़कर भी अभव्य जीव प्रकृति (कर्मों) को नहीं छोड़ता। जैसे मीठे दूध को पीकर भी सर्प निर्विष नहीं होता। निर्वेद को प्राप्त ज्ञानी मीठे-कड़वे अनेक प्रकार के कर्मफल को जानता है। इसलिये वह अवेदक है। ज्ञानी बहुत प्रकार के कर्मों को न तो करता है और न ही वेदता है किन्तु पुण्य और पाप रूप कर्मबन्ध को और कर्मफल को जानता है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। तब ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी बनता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। ऐसे जीव का मैंपन और मेरापन अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये ऐसा जीव अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का कर्ता नहीं बनता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है। यही बात अलग-अलग ढंग से इन गाथाओं में बतायी गयी है।

अज्ञानी जीव का मैंपन और मेरापन अपनी पर्याय और शरीररूपी पुद्गल की पर्याय में ही होता है। इसलिये उसे प्रकृति के स्वभाव में स्थित बताया गया है। दूसरे, अज्ञानी जीव कर्मधारा

(कर्ताभाव) और कर्मफलधारा (भोक्ताभाव) में स्थित होता है। इस अपेक्षा से भी उसे प्रकृति के स्वभाव में स्थित बताया गया है। अर्थात् ऐसा जीव कर्मफल को एकत्व रूप से भोगता है। जबकि ज्ञानी कर्मफल को पृथक् जानते हुए अभिप्राय की अपेक्षा से उसका सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानधारा में स्थित होता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी उदय में आये कर्मफल को जानता है, उसका वेदन नहीं करता।

आचार्यश्री बताते हैं कि अभव्यजीव बहुत अच्छे से शास्त्रों को पढ़कर भी उस रूप अपना परिणाम न कर पाने से या उसका ग़लत अर्थघटन करने की वजह से प्रकृति को नहीं छोड़ता अर्थात् वह अपने को उस प्रकृति का कर्ताभोक्ता मानता है और अज्ञानी ही बना रहता है। जैसे मीठे दूध को पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते, वैसे ही शास्त्रों को बहुत अच्छे से पढ़कर भी अभव्यजीव ज्ञानी नहीं बनता। जब तक कोई जीव मोहाधीन अज्ञानी है उस पर भी यह बात लागू होती है।

निर्वेद को प्राप्त ज्ञानी मीठे–कटु, अच्छे–बुरे अनेक कर्मफलों को अपनी पर्याय में उत्पन्न होते जानकर भी अपने अभिप्राय की अपेक्षा से विचलित नहीं होता, क्योंकि वह उन कर्मफलों का कर्ताभोक्ता नहीं बनता। वह अभिप्राय में उन कर्मफलों का ज्ञाताद्रष्टा मात्र होता है। इसलिये वह अभिप्राय में कर्मफलों का अवेदक है, उन्हें अपना मूलभूत स्वरूप समझकर वह उनका वेदन नहीं करता। ज्ञानी का मैंपन द्रव्य में होने से अभिप्राय की अपेक्षा से वह सिर्फ़ द्रव्य का ही वेदन करता है, पर्याय का वेदन नहीं करता। अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा ही है।

ज्ञानी के अभिप्राय की अपेक्षा से मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होने से वह अपने परिणामों का भी अभिप्राय की अपेक्षा से कर्ताभोक्ता नहीं बनता, सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये यहाँ बताया गया है कि ज्ञानी बहुत प्रकार के कर्मों को न तो करता है और न ही भोगता है। किन्तु वह अभिप्राय की अपेक्षा से पुण्य और पाप रूपी कर्मबन्धनों में निमित्त बननेवाले अपने भावों को, कर्मफल के निमित्त से होते अपने भावों को और कर्मफल के निमित्त से मिलनेवाले अपने संयोगों को सिर्फ़ जानता ही है। अभिप्राय की अपेक्षा से वह उनका ज्ञाताद्रष्टा मात्र ही होता है।

कई अज्ञानी लोग इन गाथाओं का अन्यथा अर्थघटन करके बिना आत्मानुभूति के या तो

स्वयं को कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा मानने लगते हैं या फिर कृत्रिम ज्ञाताद्रष्टापन का ध्यान अर्थात् अभ्यास करने लगते हैं। जबकि वे अज्ञानी होने से इन सभी भावों के कर्ताभोक्ता होते हैं। ऐसे जीवों को आचार्यश्री ने यहाँ प्रकृति के स्वभाव में स्थित बताया है। आगे यह भी बताया है कि ऐसे जीव बहुत अच्छी तरह से शास्त्रों का अभ्यास करके भी उनके सम्यक् अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकते परन्तु उनसे छल (भ्रम) ग्रहण करके वे अपने लिये उन शास्त्रों को शस्त्र बना लेते हैं, अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते हैं। इसलिये आचार्यश्री आगे बताते हैं कि निर्वेदप्राप्त ज्ञानी को ही यह बात समझ में आती है। इस प्रकार आचार्यश्री परोक्ष रूप से मोक्षमार्ग में निर्वेद यानी वैराग्यादि योग्यता का महत्त्व बता रहे हैं, क्योंकि बिना निर्वेद के आत्मानुभूति नहीं होती। निर्वेद से ही पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता होती है, अन्यथा वह बहिरात्मा ही होता है। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३२० – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३४३

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बन्ध-मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥320॥

भावानुवाद : *जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को मात्र देखते हैं, उनके कर्ताभोक्ता नहीं होते) उसी प्रकार ज्ञान अकारक और अवेदक है। अतः वह बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को जानता ही है। (उनका कर्ताभोक्ता नहीं होता।)*

टीका : जब नेत्र किसी भी दृश्य को देखते हैं, तब वे उसे न तो स्पर्श करते हैं, न भोगते हैं, और न उसमें कोई परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार नेत्र दृश्य पदार्थों के कर्ताभोक्ता नहीं होते, सिर्फ़ द्रष्टा होते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी भी अभिप्राय की अपेक्षा से परपदार्थों को सिर्फ़ जानता ही है, उनका कर्ताभोक्ता नहीं होता। परन्तु जीव अनादि से अज्ञानवश उस ज्ञान के द्वारा ही ऐसे भाव करता है कि वह अपने अभिप्राय की अपेक्षा से पर का कर्ताभोक्ता बन जाता है।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह

अभिप्राय की अपेक्षा से अपने परिणामों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, उनका कर्ताभोक्ता नहीं। ऐसे ज्ञानी को ही यहाँ नेत्र की उपमा दी गयी है।

नेत्र की भाँति ज्ञानी भी अभिप्राय की अपेक्षा से अपने परिणाम और परद्रव्यों का अकारक तथा अवेदक है। और वह बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को सिर्फ़ जानता ही है, उनका कर्ताभोक्ता नहीं होता।

अज्ञानी पर्यायदृष्टि होने से कर्ता होता है, ज्ञाताद्रष्टा नहीं। फिर भी यदि कोई अज्ञानी स्वयं को कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा मानता है या कृत्रिमता से ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान अथवा अभ्यास करता है तो उसकी ऐसी साधना उसे भ्रम में ले जायेगी। क्योंकि अज्ञानी अपने अभिप्राय के कारण अपना और पर का कर्ताभोक्ता होता है, ज्ञाताद्रष्टा नहीं। इसी लिये आचार्यश्री ने इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाणित करने को कहा है। अन्यथा वह जीव शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके स्वयं ही अपने द्वारा छला जाता है। इससे सभी को बचना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३२१-३२३ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३४४-३४६

लोगस्स कुणदि विण्हू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काये ॥321॥

लोग-समणाणमेयं सिद्धंतं जदि ण दीसदि विसेसो ।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि ॥322॥

एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोग-समणाण दोण्हं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोगे ॥323॥

भावानुवाद : *लोक के मत में देव-नारकी-तिर्यंच-मनुष्य प्राणियों का कर्ता विष्णु है, और यदि श्रमणों के मन्तव्यों में भी छह काय के जीवों की कर्ता आत्मा हो, तो लोक और श्रमणों का एक ही सिद्धान्त हुआ। उनमें कोई अन्तर दिखायी नहीं देता, क्योंकि लोक के मत में विष्णु कर्ता है और श्रमणों के मत में आत्मा कर्ता है। (इसलिये परकर्तृत्व की मान्यता से दोनों समान हुए)। इस प्रकार सदा देव, मनुष्य और असुरयुक्त लोक को करते हुए (विष्णु या आत्मा को कर्ता मानते हुए) ऐसे उन लोक और श्रमण दोनों का ही कोई मोक्ष दिखायी नहीं देता।*

टीका : लोगों के मत में विष्णु इस जगत के कर्ता हैं अर्थात् देव–नारकी–तिर्यंच–मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाते हैं। वैसे ही यदि श्रमणों का मन्तव्य भी ऐसा ही है कि छह काय के जीवों की कर्ता आत्मा ही है, तो लोक और श्रमणों का मन्तव्य एक हो गया।

यदि निश्चय से यह मन्तव्य है कि एक जीव दूसरे जीव का कर्ता है, उसे जन्म देता है, जीने देता है, सुख–दुःख देता है, मारता–पीटता है, नष्ट करता है, तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादान कर्ता बन जायेगा। वस्तुतः उपादानरूप से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कोई कार्य नहीं करता। सभी द्रव्य उपादानरूप से अपना–अपना कार्य स्वयं करते हैं। यहाँ भी उपादान की अपेक्षा से ही यह बात बतायी गयी है। उपादान की अपेक्षा से सब द्रव्य अपनी–अपनी पर्याय को करते हैं, उसमें दूसरे द्रव्य की उपादान के रूप में कोई भी भूमिका नहीं होती।

अर्थात् जीव अपना परिणमन करता है और पुद्गल अपना परिणमन करता है। श्रमणों की पूर्वोक्त मान्यता निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण बनती है। परन्तु निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध न नित्य होता है और न ही कर्ता–कर्म सम्बन्ध होता है यानी दोनों द्रव्य एक दूसरे को उपादानरूप से नहीं परिणमाते।

इसलिये उपादानरूप से जिनकी मान्यता है कि विष्णु देव–नारकी–तिर्यंच–मनुष्य प्राणियों का पालन करते हैं, वैसे ही यदि श्रमण भी यही मानें कि उपादान रूप से आत्मा छहकायिक जीवों को करती है, तो दोनों को यानी लोक और श्रमणों को समान रूप से अज्ञानी समझना पड़ेगा। इसलिये आचार्यश्री यहाँ कहते हैं कि ऐसे लोक और श्रमण दोनों का मोक्ष होता दिखायी नहीं देता। अर्थात्, अज्ञानी का मोक्ष नहीं होता—ऐसा वे बता रहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३२४–३२७ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३४७–३५०

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था ।
जाणंति णिच्छयेण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ।।324।।

जह को वि णरो जंपदि अम्हाणं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ।।325।।

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ।।326।।

तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्हं एदाण कत्तिववसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं ।।327।।

भावानुवाद : *ज्ञानीजन व्यवहारनय से परद्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु वे निश्चयनय से यह जानते हैं कि 'परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है'। कोई मनुष्य 'मेरा गाँव, मेरा नगर, मेरा राष्ट्र' ऐसा कहता है किन्तु वे उसके नहीं हैं। मोहवश वह आत्मा 'मेरे हैं' ऐसा कहता है। इसी प्रकार जो ज्ञानी भी परद्रव्य मेरा है ऐसा जानता हुआ परद्रव्य में निजत्व करता है वह निस्सन्देह मिथ्यादृष्टि होता है। तत्त्वज्ञ (ज्ञानी) 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर इन दोनों (लोक और श्रमण) के परद्रव्य कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए यह जानते हैं कि 'यह व्यवसाय सम्यग्दर्शनरहित नरों का है'।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहा जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी के अभिप्राय में परमाणुमात्र के प्रति भी मेरेपन की भावना नहीं होती। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से परद्रव्य को अपना नहीं मानता। इस अपेक्षा से इन गाथाओं को समझना चाहिये।

परन्तु जब ज्ञानी व्यवहार भाषा का उपयोग करता है, तब वह व्यवहारनय से ऐसा कथन करता है कि 'परद्रव्य मेरा है'। परन्तु उसके अभिप्राय में यह बात नहीं होती। ज्ञानी व्यवहार से उसका व्यवस्थापन भी करता है। परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा से वह उन सभी कार्यों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है।

हालाँकि अज्ञानी का ज्ञान प्रमाण नहीं होता। उसके पास सच्चा व्यवहारनय भी नहीं है, क्योंकि उसका नय का ज्ञान नयाभास के रूप में होता है। इसलिये उसका न व्यवहारनय सम्यक् होता है, न निश्चयनय ही सम्यक् होता है।

जैसे कोई मोहवश ऐसा मानता है कि 'यह मेरा गाँव, मेरा नगर, मेरा राष्ट्र है' और ऐसा ही बोलता रहता है। उसकी यह मान्यता मोहवश है और यदि ज्ञानी भी परद्रव्य मेरा है ऐसा मानकर परद्रव्य को निजरूप करता है अर्थात् परद्रव्य से मैंपन और मेरापन करता है तो वह

भी निस्सन्देह मिथ्यादृष्टि ही हो जाता है। क्योंकि ऐसे पर में मैंपन करनेवाले ज्ञानी का सम्यग्दर्शन छूट जाता है—यह मानना पड़ेगा। क्योंकि सच्चे ज्ञानी के अभिप्राय में मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है।

इसलिये तत्त्वज्ञ अर्थात् ज्ञानी 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर उपरोक्त दोनों (लोक और श्रमण) के परद्रव्य कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए यह जानते हैं कि 'यह व्यवसाय सम्यग्दर्शनरहित नरों का है'। ऐसा जानकर यह निर्णय करता है कि वे दोनों सम्यग्दर्शन से रहित हैं। इससे पता चलता है कि सच्चे ज्ञानी को दूसरे के उपदेश या प्ररूपणा से यह ज्ञात होता है कि वह उपदेशक सम्यग्दर्शनरहित है या सम्यग्दर्शनसहित है। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३२८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३५५

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ।।328।।

आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३५६

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्ता ।।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३२९–३३१ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३५७–३५९

अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ।।329।।

अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं ।।330।।

अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ।।331।।

भावानुवाद : *यदि ऐसा माना जाये कि मिथ्यात्व नामक (पुद्गल) प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि कर देती है तो अचेतन प्रकृति (जीव के मिथ्यात्व) की कर्ता हो गयी।*

भावानुवाद : *यदि ऐसा माना जाये कि सम्यक्त्व (मोहनीय) नामक (पुद्गल) प्रकृति आत्मा को सम्यग्दृष्टि कर देती है तो अचेतन प्रकृति (जीव के सम्यक्त्व) की कर्ता हो गयी।*

भावानुवाद : *अथवा वह जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व का कर्ता है। ऐसा मानें तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा, जीव नहीं। अथवा यदि जीव और प्रकृति दोनों पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप करते हैं ऐसा मानें तो जो दोनों के द्वारा किया गया उसका फल भी दोनों भोगेंगे (ऐसा मानना पड़ेगा)। अथवा यदि पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है। ऐसा मानें तो पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्व भाव रूप सिद्ध होगा। क्या यह वास्तव में मिथ्या नहीं है?*

टीका : अनादिकाल से जीव और कर्मरूपी पुद्गल एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाये हुए हैं। इसका मुख्य कारण जीव का अज्ञान है, अर्थात् मिथ्यात्व है। अज्ञानवश जीव कर्मोदय के निमित्त से राग–द्वेषरूप परिणमन करता है और उन सब राग–द्वेषरूप परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणारूपी पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्मों के रूप में परिणमन करता है। यही अनादिकाल से जीव और कर्म के निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की कहानी है। यहाँ आचार्यश्री पहले यह बता रहे हैं कि आत्मा और पुद्गलकर्मवर्गणा के बीच कर्ता–सम्बन्ध नहीं होता और आगे यह बता दिया कि आत्मा तथा पुद्गलकर्मवर्गणा के बीच निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि बिना निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के पुद्गलद्रव्य मिथ्यात्वरूप नहीं परिणमता। मिथ्यात्व नहीं धारण करता है।

यदि कोई यह समझे कि मिथ्यात्वमोहनीयकर्म आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाते हैं, तो उसके मत में अचेतन मिथ्यात्वमोहनीय कर्मप्रकृति जीव के मिथ्यात्वभाव की कर्ता हो गयी। जबकि दो पृथक् द्रव्यों के बीच में कभी भी कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता। यानी मिथ्यात्व नामक प्रकृति जीव को उपादानरूप से कभी भी मिथ्यात्वरूप नहीं कर सकती। परन्तु मिथ्यात्वप्रकृति के उदय के निमित्त से जीव अपने परिणामों को मिथ्यात्वरूप से परिणमित करता है। इस प्रकार दोनों अपना–अपना कार्य अपने उपादान से ही करते हैं और एक–दूसरे के निमित्त बनते हैं। इसे ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। जब तक एक द्रव्य निमित्तकारणवश परिणमन करता है, तब तक ही उन दो द्रव्यों में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

यदि कोई यह समझे कि सम्यक्त्वमोहनीयकर्म आत्मा को सम्यग्दृष्टि बनाते हैं, तो उसके मत में अचेतन सम्यक्त्वमोहनीय कर्मप्रकृति जीव के सम्यक्त्व भाव की कर्ता हो गयी। जबकि दो पृथक् द्रव्यों के बीच में कभी भी कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता। यानी सम्यक्त्व नामक प्रकृति जीव को उपादानरूप से कभी भी सम्यक्त्व रूप नहीं कर सकती। परन्तु सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के निमित्त से जीव अपने परिणामों को सम्यक्त्व रूप से परिणमित करता है। इस प्रकार दोनों अपना–अपना कार्य अपने उपादान से ही करते हैं और एक–दूसरे के निमित्त बनते हैं। इसे ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। जब तक एक द्रव्य निमित्तकारणवश परिणमन करता है, तब तक ही उन दो द्रव्यों में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

अथवा कोई यह माने कि जीव पुद्गलकर्मवर्गणा को मिथ्यात्वरूप करता है तो पुद्गलद्रव्य को ही मिथ्यादृष्टि मानने का प्रसंग आयेगा, जीव को नहीं। वास्तव में मिथ्यात्वभाव से परिणमन जीव ही करता है, पुद्गल नहीं। अथवा यदि कोई ऐसा माने कि जीव और प्रकृति दोनों मिलकर पुद्गलकर्मवर्गणा को मिथ्यात्वभाव के रूप से परिणमन करवाते हैं, तो जो कार्य दोनों के द्वारा किया गया है उसका फल भी दोनों को भोगने का प्रसंग बनेगा। जबकि कर्मोदय का फल तो जीव ही भुगतता है, अजीव नहीं। दोनों द्रव्य अपना–अपना कार्य करते हैं। इसलिये दो द्रव्य मिलकर कभी एक कार्य नहीं करते। ऐसा हुआ तो द्विक्रियावाद का दोष आयेगा। क्योंकि एक तो द्रव्य का अपना कार्य और दूसरा मिलकर किया गया कार्य—इस प्रकार दो कार्य एक समय में करने का दोष आयेगा।

अथवा यदि ऐसा माना जाये कि मिथ्यात्व नामक पुद्गलद्रव्यरूप कर्मवर्गणा को मिथ्यात्वरूप से न तो प्रकृति करती है और न ही जीव करता है। अर्थात् दोनों में से कोई नहीं करता। यदि ऐसा मानें तो पुद्गलद्रव्य को सहज रूप से यानी अपने स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप मानना पड़ेगा। जबकि यह बात सरासर ग़लत है। क्योंकि पुद्गलद्रव्य स्वभावतः परमाणु, अणु, स्कन्ध, वर्गणा आदि के रूप में विद्यमान रहता है। कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य जीव के मिथ्यात्वभाव के निमित्त से ही जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाकर मिथ्यात्वमोहनीयकर्मरूप होता है, ऐसा समझना चाहिये।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३३२-३४४ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३६०-३७२

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।।332।।

कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव ।।333।।

कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च ।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ।।334।।

जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदित्ति जं किंचि ।
तम्हा दु सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा ।।335।।

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ।।336।।

तम्हा ण को वि जीवो अबंभयारी दु अम्ह उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं ।।337।।

जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी ।
एदेणत्थेणं किर भण्णदि परघादणामेत्ति ।।338।।

तम्हा ण को वि जीवोऽवघादगो अत्थि अम्ह उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणिदं ।।339।।

एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे ।।340।।

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ।।341।।

अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे ।।342।।

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं ।।343।।

अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं ।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ।।344।।

भावानुवाद : *कर्म (आत्मा को) अज्ञानी करते हैं, उसी तरह कर्म (आत्मा को) ज्ञानी करते हैं। कर्म सुलाते हैं और कर्म जगाते हैं, कर्म सुखी करते हैं और उसी प्रकार कर्म दुःखी करते हैं। कर्म मिथ्यात्व को प्राप्त करवाते हैं, कर्म असंयम को प्राप्त करवाते हैं, कर्म ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में भ्रमण कराते हैं। जो कुछ भी, जितना भी, शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही करते हैं। इसलिये कर्म करता है, कर्म देता है, कर्म हर लेता है, इस प्रकार जो कुछ भी करता है वह कर्म ही करता है। इसलिये (ऐसा मानने से) सभी जीव अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं। पुरुषवेद कर्म स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद कर्म पुरुष का अभिलाषी है। ऐसी यह आचार्य परम्परा से आयी श्रुति है। इसलिये हमारे उपदेश में तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है, ऐसा कहा गया है। और जो पर को मारता है अथवा पर के द्वारा मारा जाता है, वह प्रकृति है। इस अर्थ में उसे परघात नामकर्म कहा जाता है। इसलिये हमारे उपदेश में कोई भी जीव उपघातक (मारनेवाला) नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को मारता है—ऐसा कहा गया है। इस प्रकार ऐसा यह सांख्य मत का उपदेश है, उसे जो श्रमण प्ररूपित करते हैं उनके मत में प्रकृति ही करती है और आत्मा तो सबकी अकारक है—ऐसा सिद्ध होता है। अथवा यदि तुम यह मानते हो कि मेरी आत्मा अपनी आत्मा को करती है तो ऐसा जाननेवाला तुम्हारा यह मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि सिद्धान्त में आत्मा को नित्य एवं असंख्यात प्रदेशी बताया गया है। उससे वह हीन या अधिक नहीं किया जा सकता है। और विस्तार से भी जीव का जीवत्व निश्चय से लोकमात्र जानें। क्या वह उससे हीन या अधिक होता है? तो फिर आत्मा द्रव्य को कैसे कर सकती है? अथवा यदि ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित रहता है ऐसा माना जाये तो इससे भी आत्मा स्वयं अपनी आत्मा को नहीं करती, यह सिद्ध होगा।*

टीका : अनादिकाल से जीव और कर्मरूपी पुद्गल एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाये हुए हैं। इसका मुख्य कारण जीव का अज्ञान है अर्थात् मिथ्यात्व है। अज्ञानवश जीव कर्मोदय के निमित्त से राग-द्वेषरूप परिणमन करता है और उन सब राग-द्वेषरूप परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणारूपी पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्मों के रूप में परिणमन करता है। यही अनादिकाल से जीव और कर्म के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की कहानी है। यहाँ आचार्यश्री पहले यह बता रहे हैं कि आत्मा और पुद्गलकर्मवर्गणा के बीच कर्ता-सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि दोनों अपना-अपना कार्य स्वयं अपने उपादान से करते हैं। आत्मा और पुद्गलकर्मवर्गणा के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि बिना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के आत्मा ज्ञायकभावरूपी ज्ञानस्वभाव में ही स्थित हो जायेगा यानी संसार का ही अभाव हो जायेगा।

अज्ञानवश कई लोग जीव को अपरिणामी एवं एकान्त नित्य मानते हैं और जीव के परिणाम का कारण कर्म को मानते हैं। अर्थात् जीव के परिणाम और पुद्गलकर्म के बीच कर्ता-कर्म सम्बन्ध मानते हैं। वे जीव को त्रिकाल शुद्ध समझते हैं और जीव के अज्ञानादि परिणाम कर्मकृत मानते हैं। कई लोग ऐसे भी हैं, जो वस्तुव्यवस्था के ग़लत अर्थघटन के कारण द्रव्य और पर्याय के षट्कारकों को भिन्न मानते हैं। वे अज्ञानवश मानते हैं कि द्रव्य तो शुद्ध है परन्तु पर्याय अपने स्वतन्त्र षट्कारक से अज्ञानादि रूप से परिणमती है, क्योंकि उन्हें यह पता नहीं होता कि द्रव्य और पर्याय एक-अभेद वस्तु है और अभेद वस्तु के षट्कारक भी एक-अभेद ही होते हैं। ऐसी कई ग़लत धारणाओं को इन गाथाओं में निरस्त किया गया है।

यहाँ आचार्यश्री बताते हैं कि पुद्गलकर्म ही जीव को अज्ञानी करता है, जीव को ज्ञानी करता है, जीव को सुलाता-जगाता है, जीव को सुखी-दुःखी करता है, जीव को मिथ्यात्वी बनाता है, जीव को असंयमी बनाता है, जीव को ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक (तिर्यक्लोक) में नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण कराता है। उसके जीवन में जो कुछ भी, जितना भी, शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही कराते हैं। ऐसा माननेवाले जीव अज्ञानवश यही मानते हैं कि पुद्गलकर्म ही सब कुछ कराता है, सब कुछ देता है और सब हर लेता है। इस प्रकार जो कुछ भी करता है, वह कर्म ही करता है। परन्तु ऐसा होने पर सभी जीवों को अकारक (अकर्ता) ही मानना पड़ेगा।

आगे वे लोग अज्ञानवश यह मानते हैं कि पुरुषवेद कर्म स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद कर्म पुरुष का अभिलाषी है। ऐसी यह आचार्यपरम्परा से प्राप्त श्रुति है। अर्थात् ऐसी ही मान्यता

कई परम्पराओं में आयी है। इसलिये हमारे उपदेश में तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है। अर्थात् पुरुषवेद कर्म ही स्त्री की अभिलाषा कराता है और स्त्रीवेद कर्म ही पुरुष की अभिलाषा कराता है, ऐसा कहा गया है। कई लोग अज्ञानवश ऐसा भी मानते हैं कि जो पर को मारता है, वह प्रकृति द्वारा प्रेरित होकर ही मारता है। और जो पर के द्वारा मारा जाता है, वह भी परघात नामकर्म प्रकृति के द्वारा प्रेरित होकर मारा जाता है। इसलिये हमारे उपदेश में कोई भी जीव घात करनेवाला नहीं है, क्योंकि कर्म ही उसको प्रेरित करके घात करवाता है, ऐसा कहा जाता है। जैसे सांख्य मत कहता है कि पुरुष अकर्ता है और प्रकृति ही सब कुछ करवाती है। ऐसा उपदेश यदि कोई श्रमण देते हैं तो उनके मत से सभी कार्य प्रकृति ही करती है और आत्मा तो सबकी अकर्ता है, ऐसा मानना पड़ेगा।

अथवा यदि कोई अज्ञानवश यह मानता है कि मेरी आत्मा तो द्रव्यरूपी आत्मा को ही करती है, और पर्याय को प्रकृति करती है, या पर्याय को उसके स्वतन्त्र षट्कारक करते हैं। ऐसा माननेवाला को आचार्यश्री ने मिथ्यास्वभावी अर्थात् अज्ञानी कहा है, क्योंकि सिद्धान्त में आत्मा को नित्य एवं असंख्यात प्रदेशी बताया गया है। उसको हीन और अधिक नहीं किया जा सकता है और विस्तार से भी जीव का स्वरूप लोकमात्र होता है। क्योंकि जीव और लोक के असंख्यात प्रदेश संख्या की दृष्टि से समान होते हैं। इसलिये केवलीसमुद्घात के समय जीव लोकव्यापी होता है। अतः आत्मा के प्रदेश लोक के प्रदेश से हीन अथवा अधिक नहीं होते।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं को ज्ञायक मानते हुए अपने ज्ञानस्वभाव में अर्थात् अपने ज्ञानसामान्य में उपयोग या लब्धिरूप से स्थित रहता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपने परिणामों का कर्ता नहीं बनता, मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। तो फिर वह अपने परिणामों का कर्ता कैसे हो सकता है? नहीं होता। बल्कि ऐसा ज्ञानी भी कर्मों के उदय के निमित्त से और अपनी कमज़ोरी के कारण रागादि के रूप में में परिणमन करता है। उस परिणमन से वह आकुलित नहीं होता। परन्तु उसके इलाज के लिये यथायोग्य आराधना करता रहता है। और आगे आत्मस्थिरता

करता हुआ गुणश्रेणीवाली निर्जरा करते हुए क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है। वह अपनी आयु के अन्त में कर्मों से मुक्त होकर सिद्धत्व प्राप्त करता है। यही मोक्षमार्ग है।

ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से अपने परिणामों का अकर्ता होते हुए भी उसे अपनी कमज़ोरी समझकर आत्माराधनापूर्वक अपनी कमज़ोरी को मिटाने का पुरुषार्थ करता है। वह उसे न कर्मकृत मानता है और न ही अपने से भिन्न षट्कारक से उत्पन्न ही मानता है। वह उसका यथोचित उपाय करता है। इसलिये सभी को अपने परिणामों की ज़िम्मेदारी स्वयं लेकर उसे मोक्षमार्ग के अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यही सभी के लिये कर्तव्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३४५-३४८ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३५१-३५४

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥345॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥346॥

जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥347॥

अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥348॥

भावानुवाद : *क्योंकि जीव किन्हीं पर्यायों से नष्ट होता है और किन्हीं पर्यायों से नष्ट नहीं होता। इसलिये (जो भोगता है) वही कर्ता है। अथवा दूसरा ही कर्ता है ऐसा एकान्त नहीं है। क्योंकि जीव किन्हीं पर्यायों से नष्ट होता है और किन्हीं पर्यायों से नष्ट नहीं होता। इसलिये (जो करता है) वही भोगता है। अथवा दूसरा ही भोगता है ऐसा एकान्त नहीं है। और 'जो करता है वही नहीं भोगता' ऐसा जिसका सिद्धान्त है उस जीव को मिथ्यादृष्टि, अर्हत् के मत को न माननेवाला जानना चाहिये। 'दूसरा करता है और दूसरा भोगता है' ऐसा जिसका सिद्धान्त है उस जीव को मिथ्यादृष्टि, अर्हत् के मत को न माननेवाला जानना चाहिये।*

टीका : सभी द्रव्य स्वयंसिद्ध और परिणामी हैं। अर्थात् सभी जीव द्रव्यरूप से त्रिकाल रहते हुए अपने परिणामों की अपेक्षा से क्षणिक हैं। इसलिये जब कोई भी जीव रागादिक परिणाम करता है, तब उन रागादि परिणामों के निमित्त से उस जीव को कर्मबन्ध होता है। उन कर्मों के उदय के निमित्त से उस जीव को भविष्य में सुख-दुःख मिलता है, यही वस्तुव्यवस्था है। ऐसी वस्तुव्यवस्था नहीं समझनेवाले कई लोग अज्ञानवश यह मानते हैं कि जो जीव करता है वह जीव भोगता नहीं, कोई दूसरा ही जीव भोगता है। अथवा जो जीव भोगता है वह जीव करता नहीं, कोई अन्य जीव ही करता है। अथवा कोई अज्ञानवश ऐसा मानता है कि जो करता है वही नहीं भोगता, कोई दूसरा ही भोगता है, तो उस जीव को मिथ्यादृष्टि, अर्हत् के मत को न माननेवाला जानना चाहिये।

हम अपेक्षाभेद से यह कह सकते हैं कि जो पर्याय करती है वह पर्याय नहीं भोगती। और जो पर्याय भोगती है, उस पर्याय ने किया ही नहीं। इसलिये कहते हैं कि जो पर्याय करती है वह भोगती नहीं, क्योंकि भोगनेवाली पर्याय दूसरी होती है, भले द्रव्य वही होता है। इस प्रकार यह बात पर्यायअपेक्षा से सत्य हो सकती है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से नहीं।

परन्तु आचार्यश्री यहाँ जो कहते हैं कि जीव किसी पर्याय से नष्ट होता है और किसी पर्याय से नष्ट नहीं होता। यहाँ उन्होंने द्रव्य को भी अपेक्षा से पर्याय बताया है। क्योंकि द्रव्य वस्तु का अंश है, पूरी वस्तु नहीं। मतलब द्रव्य अंशी नहीं पर वस्तु का अंश है और वस्तु अंशी है। इस अपेक्षा से उसे (द्रव्य को) भी पर्याय बताया गया है। इस अपेक्षा से उन्होंने बताया है कि जीव किसी पर्याय (द्रव्य की अपेक्षा) से नष्ट नहीं होता। यही अनेकान्त है, यही अरिहंत का मत है, यही सिद्धान्त है। अज्ञानवश इस सिद्धान्त को नहीं माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, जिनमतबाह्य हैं।

आचार्यश्री आगे बताते हैं कि दूसरा करता है और दूसरा भोगता है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है वह जीव मिथ्यादृष्टि है, जिनमतबाह्य है। इन गाथाओं में आचार्यश्री ने अनेकान्त की स्थापना की है और एकान्त को पाखण्ड बताया है, मिथ्यादृष्टि और जिनमतबाह्य बताया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३४९-३५५ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३८०-३८६

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥349॥

जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥350॥

जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि ॥351॥

जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि ॥352॥

एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥353॥

जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो से ॥354॥

जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिदो होदि ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥355॥

भावानुवाद : *जैसे शिल्पी कुण्डल आदि कर्म करता है परन्तु वह तन्मय नहीं होता, वैसे ही जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गलकर्म करता है परन्तु तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी हथौड़ा आदि करणों के द्वारा (कर्म) करता है परन्तु वह तन्मय नहीं होता, वैसे ही जीव (मन-वचन-कायरूप) करणों से (कर्म) करता है परन्तु तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी करणों को ग्रहण करता है परन्तु वह तन्मय नहीं होता, वैसे ही जीव भी करणों को ग्रहण करता है परन्तु तन्मय नहीं होता। जैसे शिल्पी कुण्डल आदि कर्म के फल को भोगता है परन्तु वह तन्मय नहीं होता, वैसे ही जीव (पुण्य-पापादि पुद्गल) कर्मों के फल को भोगता है परन्तु तन्मय नहीं होता। इस प्रकार संक्षेप में व्यवहार का मत बताया है। अब परिणाम कृत जो होता है उसके निश्चयनय के वचन सुनो।*

जैसे शिल्पी चेष्टारूपी कर्म करता है और उससे अनन्य है वैसे ही जीव भी अपने कर्म (परिणाम) को करता है और उससे अनन्य है। जैसे शिल्पी चेष्टारूपी कर्म करता हुआ नित्य दुःखी होता है और उससे अनन्य है, वैसे ही चेष्टा करता हुआ जीव दुःखी होता है (और उससे अनन्य है)।

टीका : अनादिकाल से जीव के अज्ञान के कारण जीव और कर्म का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बना हुआ है। जब कर्मों का उदय होता है, तब जीव उसके निमित्त से रागादि परिणाम करता है। तब जीव उन रागादि परिणामों से अनन्य है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों अपने परिणाम तन्मय होकर करते हैं, परन्तु ज्ञानी को अपने अभिप्राय की अपेक्षा से कर्ताभोक्ता भाव नहीं होते और अज्ञानी को कर्ताभोक्ता भाव होते हैं। अतएव ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानधारा में स्थित होता है और अज्ञानी कर्मधारा और कर्मफलधारा में स्थित होता है।

जीव पौद्गलिक कर्मों से तन्मय नहीं है। इसलिये जीव उपादान रूप से पौद्गलिक कर्मों का कर्ता एवं उनके फल का भोक्ता नहीं है—यह निश्चयनय का कथन है। जीव निमित्त की अपेक्षा पौद्गलिक कर्मों का कर्ता एवं उनके फल का भोक्ता है—यह व्यवहारनय का कथन है। यही बात आचार्यश्री उदाहरण देकर समझा रहे हैं।

वे बताते हैं कि जैसे शिल्पी अर्थात् स्वर्णकार सोने से कुण्डलादि बनाते हैं परन्तु वे कुण्डलादि को तन्मय होकर नहीं बनाते। अर्थात् उपादानरूप से कुण्डलादि स्वर्ण का कार्य है, और स्वर्णकार उस कार्य का निमित्तकारण है। इसलिये वह स्वर्णकार कुण्डलादि से तन्मय नहीं होता। उपादान कार्य से तन्मय होता है, निमित्तकार्य से तन्मय नहीं होता।

इसलिये जब कोई कहता है कि स्वर्णकार ने कुण्डल बनाये, तो उसे व्यवहार कथन समझना चाहिये, क्योंकि निश्चय से कुण्डल स्वर्ण का कार्य है। उसी प्रकार जब कोई ऐसा कहता है कि जीव पुण्य–पापादि पुद्गलकर्म करता है, तब जीव उन कर्मों से तन्मय नहीं होता, क्योंकि जीव उनका निमित्तकारण है। और उनका निश्चय (उपादान) कारण पुद्गलकर्मवर्गणाएँ हैं। इसलिये 'जीव पुण्य–पापादि कर्म करता है' यह व्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय से कर्म की कर्ता पुद्गलकर्मवर्गणा ही है।

वैसे ही शिल्पी जब हथौड़ा आदि करणों (साधनों) के द्वारा कुण्डलादि कार्य करता है, तब वह हथौड़ा आदि करणों से जीव या कुण्डल आदि तन्मय नहीं होते, क्योंकि वह हथौड़ा आदि करणों से जीव और कुण्डल आदि के उपादान भिन्न हैं। उसी प्रकार जीव पौद्गलिक मन–वचन–काय रूप करणों के द्वारा कर्म करता है परन्तु पौद्गलिक मन–वचन–काय रूप करणों के साथ तन्मय नहीं होता, क्योंकि वह उन कारणों का सिर्फ़ निमित्तकारण ही है, उपादानकारण नहीं।

आगे आचार्यश्री बताते हैं कि जैसे शिल्पी हथौड़ा आदि करणों (साधनों) को ग्रहण करता है परन्तु वह उनसे तन्मय नहीं होता, वैसे ही जीव भी पौद्गलिक (द्रव्य मन–वचन–काय रूप) करणों को ग्रहण करता है परन्तु वह उनसे तन्मय नहीं होता, क्योंकि वे एक दूसरे के निमित्त हैं, उपादान नहीं।

जैसे शिल्पी कुण्डलादि कर्म के फल को भोगता है, परन्तु उससे तन्मय नहीं होता। उसी प्रकार जीव पुण्य–पापादि कर्मों के फलरूप पौद्गलिक सुख–दुःख को भोगता है, परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता क्योंकि वे दोनों भिन्न द्रव्य हैं। इसलिये ये सभी वचन व्यवहारनय के जानना। निश्चयनय से उपादानरूप द्रव्य अपने कार्य से तन्मय होता है, अनन्य होता है।

जैसे शिल्पी अपने जो परिणाम करता है उनसे वह अनन्य है, वैसे ही जीव भी अपने जो परिणाम करता है उनसे वह अनन्य होता है। अपने परिणामों से अनन्य होने के कारण शिल्पी अपने चेष्टारूप कर्म से नित्य दुःखी होता है। वह दुःख भी उसका अनन्य परिणाम है। उसी प्रकार चेष्टा (भाव) करता हुआ जीव अपने परिणामों से अनन्य है और उसके फलस्वरूप होनेवाले दुःख से भी वह अनन्य है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों अपने परिणाम तन्मय होकर करते हैं, परन्तु ज्ञानी को अपने अभिप्राय की अपेक्षा से कर्ताभोक्ता भाव नहीं होते और अज्ञानी को कर्ताभोक्ता भाव होते हैं। अतएव ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानधारा में स्थित होता है और अज्ञानी कर्मधारा और कर्मफलधारा में स्थित होता है। इसलिये ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से दुःख को तन्मय होकर नहीं भोगता, परन्तु वह दुःख आदि अपने परिणामों का ज्ञाताद्रष्टा होता है।

इन गाथाओं में आचार्यश्री ने उपादानरूप कारण–कार्य सम्बन्ध और निमित्त–नैमित्तिक भाव को संक्षेप में समझाया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३५६-३६५ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३८७-३९६

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ।।356।।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ।।357।।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह संजदो दु ण परस्य संजदो संजदो सो दु ।।358।।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ।।359।।

एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाण-दंसण-चरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ।।360।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सयेण भावेण ।।361।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सयेण भावेण ।।362।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सयेण भावेण ।।363।।

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मदिट्ठी सहावेण ।।364।।

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाण-दंसणं-चरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जयेसु एमेव णादव्वो ।।365।।

भावानुवाद : *जैसे सफ़ेद मिट्टी (की सफ़ेदी) पर की नहीं है, वह सफ़ेदी उस मिट्टी की ही है, उसी प्रकार ज्ञायक पर के कारण ज्ञायक नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। जैसे सफ़ेद मिट्टी (की सफ़ेदी) पर की नहीं है, वह सफ़ेदी उस मिट्टी की ही है, उसी प्रकार द्रष्टा पर का नहीं है, द्रष्टा तो द्रष्टा ही है। जैसे सफ़ेद मिट्टी (की सफ़ेदी) पर की नहीं है, वह सफ़ेदी उस मिट्टी की ही है, उसी प्रकार संयत (आत्मा में रहनेवाला) पर का नहीं है, संयत तो संयत ही है। जैसे सफ़ेद मिट्टी (की सफ़ेदी) पर की नहीं है, वह सफ़ेदी उस मिट्टी की ही है, उसी प्रकार श्रध्दा पर की नहीं है, श्रद्धा तो श्रद्धा ही है। यह था ज्ञान, दर्शन, चारित्र में निश्चयनय का कथन। अब इस सम्बन्ध में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनें। जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने स्वभाव से (दीवारादि) परद्रव्य को सफ़ेद करती है, उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है। जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने स्वभाव से (दीवारादि) परद्रव्य को सफ़ेद करती है, उसी प्रकार जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है। जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने स्वभाव से (दीवारादि) परद्रव्य को सफ़ेद करती है, उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को त्यागता है। जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने स्वभाव से (दीवारादि) परद्रव्य को सफ़ेद करती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्य का (परद्रव्य के रूप में) श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र में व्यवहारनय का निर्णय कहा गया है। अन्य पर्याय में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा है। जब वह पहली बार आत्मानुभूति करता है, तब उस जीव के लिये पहली बार शुद्धनय प्रकट होता है। वह शुद्धनय ही शुद्धनिश्चयनय है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अभिप्राय की अपेक्षा से उसका मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसे ही शुद्धनिश्चयनय कहा है। इससे समझ में आता है कि शुद्धनिश्चयनय में पर की कोई भूमिका नहीं है, स्व–पर का भेद ही नहीं है। इसलिये शुद्धनय अभेद है, निर्विकल्प है, नयातीत है, पर की अपेक्षा से मुक्त है।

ऐसा नहीं है कि ज्ञायक पर को जानता है, इसलिये ज्ञायक कहलाता है। ज्ञायक तो स्वभाव से ही स्व–पर को जाननेवाला होता है। इसलिये ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। वैसे ही द्रष्टा

पर को देखने के कारण द्रष्टा नहीं कहलाता, परन्तु स्वभाव से ही स्व–पर को देखनेवाला होने से द्रष्टा तो द्रष्टा ही है। वैसे ही सिर्फ़ बाह्यचारित्र पालने के कारण जीव संयत नहीं कहलाता, बल्कि निश्चय से अन्तरमुहूर्त में बार–बार आत्मानुभूति करनेवाला संयत कहलाता है। वैसे संयत को पर की अपेक्षा नहीं होती, वैसा संयत तो संयत ही है। वैसे ही निश्चय से श्रद्धा को भी पर की अपेक्षा नहीं होती यानी देव–शास्त्र–गुरु के प्रति श्रद्धा व्यवहारश्रद्धा है और निश्चय से आत्मानुभूति ही श्रद्धा है, क्योंकि आत्मानुभूति से ही श्रद्धा स्थापित होती है। इसलिये श्रद्धा तो श्रद्धा ही है।

जब पर की अपेक्षा से कथन किया जाता है, अथवा जहाँ स्व–पर का भेद आता है, उसे व्यवहारनय जानना चाहिये। इसी बात को आचार्यश्री यहाँ उदाहरण देकर समझा रहे हैं।

जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने कारण से ही सफ़ेद है, किसी दीवारादि परद्रव्य के कारण नहीं, वैसे ही ज्ञायक स्वभाव से ही ज्ञायक है, और द्रष्टा अपने स्वभाव से ही द्रष्टा है। दूसरे के कारण वह ज्ञाता या द्रष्टा नहीं है परन्तु ज्ञाताद्रष्टापन ही उसका स्वभाव है।

संयत अपनी आत्मा में रमता है। इसलिये संयत है। सिर्फ़ पर को छोड़ने से वह निश्चयसंयत नहीं कहलाता। दर्शन अपनी शुद्धात्मा की श्रद्धा करने के कारण ही श्रद्धान है, अन्यों के श्रद्धान के कारण नहीं।

इन सभी दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप कथनों में पर की अपेक्षा को ग्रहण नहीं किया है। इसलिये वे सभी निश्चयनय के कथन हैं।

आगे आचार्यश्री व्यवहारनय के कथन करते हैं। उन सभी कथनों में पर की अपेक्षा है। इसलिये वे व्यवहार कथन हैं। वे कथन इस प्रकार हैं—जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने स्वभाव से (दीवारादि) परद्रव्य को सफ़ेद करती है यानी दीवार और सफ़ेद मिट्टी का एकरूप से कथन व्यवहारकथन है। उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है, द्रष्टा भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है, ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को त्यागता है और सम्यग्दृष्टि भी अपने स्वभाव से परद्रव्य का परद्रव्य के रूप में श्रद्धान करता है। इस प्रकार इन कथनों में परद्रव्य की अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र में व्यवहारनय का निर्णय कहा गया है। अन्य पर्यायों में भी इसी प्रकार से जानना चाहिये। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और परद्रव्य तथा सम्यग्दर्शन और परद्रव्य—इस प्रकार पराश्रित कथन किया गया है। इसलिये उसे व्यवहार कथन कहा गया है। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३६६-३७१ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३७३-३७८

दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥366॥

दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥367॥

दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काये ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥368॥

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो ॥369॥

जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तम्हा समादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥370॥

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥371॥

भावानुवाद : *अचेतन विषय में किंचित् मात्र भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। इसलिये आत्मा उन विषयों का क्या घात करेगी? अचेतन कर्म में किंचित् मात्र भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। इसलिये आत्मा उन कर्मों का क्या घात करेगी? अचेतन काया में किंचित् मात्र भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। इसलिये आत्मा उस काया का क्या घात करेगी? ज्ञान का, दर्शन का तथा चारित्र का घात कहा है वहाँ पुद्गलद्रव्यों का घात किंचित् मात्र भी नहीं कहा है। जो भी जीव के गुण हैं वे वास्तव में परद्रव्य में नहीं हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को विषयों के प्रति राग नहीं है और राग, द्वेष और मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। इस कारण से रागादि (जीव में है) शब्दादि विषयों में नहीं हैं।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति प्राप्त करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा

जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से वह जीव सिर्फ़ शुद्धात्मा ही है। अभिप्राय की अपेक्षा से उसे न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ त्यागना बचा है। समयसार ग्रन्थ में ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी कहा गया है। समयसार ग्रन्थ में आत्मा को मुख्यतः शुद्धात्मा के रूप में ही दर्शाया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में हम इन गाथाओं को समझेंगे।

दूसरे, जड़ और चेतन के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता—यह भी बताया गया है। इसलिये निश्चय से आत्मा विषयों का घात नहीं करती, कर्मों का घात नहीं करती और काया का घात नहीं करती। अतएव जहाँ निश्चय से ज्ञान का, दर्शन का तथा चारित्र का घात कहा गया है वहाँ पुद्गलद्रव्यों का घात किंचित् मात्र भी नहीं कहा गया है। इन गाथाओं में दर्शन–ज्ञान–चारित्र की जो बात कही गयी है वह गुण की अपेक्षा से है। अतः उसे द्रव्यरूप शुद्धात्मा ही समझना चाहिये। यहाँ बताया गया है कि दर्शन–ज्ञान–चारित्र अचेतन विषय में, अचेतन कर्म में, अचेतन काया में किंचित् मात्र भी नहीं हैं। अर्थात् दर्शन–ज्ञान–चारित्र यानी जीव का कोई भी अंश अचेतन में नहीं है, क्योंकि विषय, कर्म या काया ये सभी अचेतन हैं और जीव चेतन है।

निश्चय से एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में नहीं होते। इसलिये जो कोई जीव के गुण हैं वे वास्तव में परद्रव्य में नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मा ही होती है, राग–द्वेष नहीं होते। इसलिये निश्चय से ऐसा कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को विषयों के प्रति राग नहीं है। अशुद्धनिश्चयनय से राग, द्वेष और मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। इस कारण से रागादि जीव में है, शब्दादि विषयों में नहीं हैं यानी पुद्गल में नहीं हैं।

परोक्षरूप से यहाँ यह बताया गया है कि जीव का जो विषयों के प्रति राग है वह शुद्धात्मा में नहीं है। इसलिये जीव को अपनी विषयों के प्रति सुखबुद्धि, रागबुद्धि, आकर्षण, मूर्छा पर काम करना है। विषयों का घात करने से उनके प्रति राग का घात नहीं होता। इसलिये जीव के पतन में अचेतन विषय ज़िम्मेदार नहीं हैं, बल्कि उनके प्रति जो राग, आकर्षण, मूर्छा है, वह ज़िम्मेदार है। उसे बारह भावनाओं से निरस्त करना ही मोक्षमार्ग है, विषयों का घात करना मोक्षमार्ग नहीं है।

उसी प्रकार अचेतन कर्म भी जीव के नहीं हैं। कई साधक कर्मों को दूर करना ही साधना

समझते हैं अथवा कर्मों से युद्ध करने को ही साधना समझते हैं। चेतन जीव अचेतन कर्म का कुछ नहीं कर सकता, उसका घात नहीं कर सकता। उससे निजात पाने का तरीक़ा कुछ और ही है। उसका तरीक़ा कर्मों से लड़ने का नहीं अपितु अपने जिन भावों से उन कर्मों को बल मिलता है, जिन भावों का निमित्त पाकर वे कर्म बँधते हैं, उन भावों को सम्यक् बनाना है। अर्थात् जीव को अपने भावों पर काम करना है, कर्मों पर नहीं। चार भावना, बारह भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम! यानी Thank you! Welcome! इत्यादि से आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता के लक्ष्य से कर्मनिर्जरा करनी है। यह है कर्मों से लड़ने का सही तरीक़ा! चेतन जीव अचेतन कर्म का किसी अन्य रीति से घात नहीं कर सकता, क्योंकि वे दोनों भिन्न द्रव्य हैं।

इसी प्रकार अचेतन काया, और दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप आत्मा, दोनों भिन्न–स्वतन्त्र (पृथक्–पृथक्) द्रव्य हैं। इसलिये जीव जड़ शरीर का घात करके मुक्त नहीं हो सकता है। शरीर से मुक्ति पाने का तरीक़ा है मोक्षमार्ग, और मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव जब बार बार आत्मस्थिरता का पुरुषार्थ करता है, तब उसे गुणश्रेणीवाली निर्जरा होती है और आत्मा क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान–केवलदर्शन पाती है, और आयु के अन्त में शरीर से सादि अनन्तकाल के लिये मुक्त हो जाती है। यह है शरीर से मुक्त होने का तरीक़ा, क्योंकि जीव को आत्मा में ही कार्य करना है, जड़ शरीर में नहीं।

न जीव पुद्गल का घात कर सकता है और न ही पुद्गल जीव का घात कर सकता है, क्योंकि दो द्रव्यों में कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं होता, निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये जीव के दर्शन–ज्ञान–चारित्र के घात में जीव के रागादिभाव काम करते हैं, पुद्गलकर्म नहीं। वे जीव के दर्शन–ज्ञान–चारित्र के घात में निमित्त बन सकते हैं, उपादान रूप से घात नहीं कर सकते।

समयसार ग्रन्थ में प्रायः सभी बातें उपादान की अपेक्षा से ही बतायी गयी हैं। इसी अपेक्षा से आचार्यश्री यहाँ बताते हैं कि दर्शन–ज्ञान–चारित्र के घात में पुद्गलद्रव्य का घात किंचित्मात्र भी उपादान रूप से नहीं होता। इस प्रकार जो जीव के गुण हैं, वे पुद्गलादि परद्रव्य में नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होने के कारण, और शुद्धात्मा में रागादि विशेषभाव न होने के कारण सम्यग्दृष्टि का विषयों के प्रति राग नहीं है, ऐसा कहा गया है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को जो भी यथागुणस्थान राग होता है, उसके प्रति उसे राग नहीं होता, अर्थात् उसके

अभिप्राय में किंचित्मात्र भी राग न होने से उसे अपने राग के प्रति राग नहीं होता। इससे यह तय होता है कि राग–द्वेष–मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, पुद्गल के नहीं। इसलिये अचेतन पुद्गलरूपी शब्दादि विषयों में रागादिभाव नहीं होते। अर्थात् शब्दादि विषय जीव को राग नहीं कराते परन्तु जीव का उनके प्रति आकर्षण या मूर्छा या सुखबुद्धि उसको राग–द्वेष–मोह करवाते हैं। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३७२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३७९

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरदे गुणुप्पादो ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ।।372।।

भावानुवाद : *अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) सभी द्रव्य (अपने–अपने) स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।*

टीका : यहाँ आचार्यश्री बता रहे हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादान रूप से कर्ता नहीं हो सकता। अर्थात् किसी एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अर्थात् पुद्गल जीव का रागादि परिणमन नहीं करता। यदि पुद्गल जीव का रागादि परिणमन करवाता तो जीव का मोक्ष कभी भी नहीं होता। जीव अपने उपादान, अपनी योग्यता के अनुसार, अपने पर के प्रति आकर्षण, सुखबुद्धि और मूर्छा के कारण, अज्ञानवश पर में 'मैंपन और मेरापन' करने के कारण ही रागादि के रूप में परिणमन करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी द्रव्य अपने–अपने भावों के रूप में परिणमन करते हैं। यही बात यहाँ बतायी गयी है।

यहाँ 'जो स्वभाव से उत्पन्न होते हैं' कहा गया है, उसका अर्थ है—वे अपने–अपने स्वभाव के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। अपने भावों में एक त्रिकाल व्यापक द्रव्यत्व भाव होता है—जो सदैव शुद्ध रहता है—उसे द्रव्यात्मा भी कहते है और दूसरा पर्यायरूपी आगन्तुक (अस्थायी) भाव होता है, जो शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। मोक्षमार्ग की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य इसी आगन्तुक भाव, अर्थात् पर्याय को सादि–अनन्तकाल के लिये शुद्ध परिणमन में स्थिर करना ही है। अर्थात् मोक्षप्राप्ति ही लक्ष्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३७३-३८२ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४०१-४१०

णिंदिद-संथुद-वयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि ।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ॥373॥

पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ॥374॥

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं ॥375॥

असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥376॥

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ॥377॥

असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥378॥

असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥379॥

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥380॥

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥381॥

एयं तु जाणिदूणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥382॥

भावानुवाद : *पुद्गल बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचनों के रूप में परिणत होते हैं। उन्हें सुनकर (अज्ञानी जीव) 'मुझसे ऐसा कहा है' मानकर रुष्ट और तुष्ट होते हैं। पुद्गलद्रव्य शब्दरूप से परिणत हुआ है, उसका गुण जो (जीव से) अन्य है। तो हे अज्ञानी! (वह पुद्गल) तुमसे कुछ भी नहीं कहता, तो तुम रोष क्यों करते हो? अशुभ अथवा शुभ शब्द तुमसे यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे सुनो' और आत्मा भी श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को ग्रहण करने नहीं जाती। अशुभ अथवा शुभ रूप तुमसे यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे देखो' और आत्मा भी चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप को ग्रहण करने नहीं जाती। अशुभ अथवा शुभ गन्ध तुमसे यह नहीं कहती कि 'तुम मुझे सूंघो' और आत्मा भी घ्राण इन्द्रिय के विषय में आयी हुई गन्ध को ग्रहण करने नहीं जाती। अशुभ अथवा शुभ रस तुमसे यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे चखो' और आत्मा भी रसना इन्द्रिय के विषय में आये हुए रस को ग्रहण करने नहीं जाती। अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुमसे यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे छुओ' और आत्मा भी काया के विषय में आये हुए स्पर्श को ग्रहण करने नहीं जाती। अशुभ अथवा शुभ गुण तुमसे यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे जानो' और आत्मा भी बुद्धि में आये हुए गुण को ग्रहण करने नहीं जाती। अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुमसे यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे जानो' और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य को ग्रहण करने नहीं जाती। ऐसा जानकर भी मूढ़ जीव उपशम को प्राप्त नहीं होता और जिस जीव के शिवबुद्धि प्राप्त नहीं हुई हो, उसका पर को ग्रहण करने को मन करता है।*

टीका : जानना–देखना तो सभी जीवों को हो रहा है। जानते–देखते हुए भगवान को राग–द्वेष नहीं होता। ज्ञानी अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ शुद्धात्मा ही होने के कारण अभिप्राय की अपेक्षा से उसे राग–द्वेष नहीं होता। अर्थात् ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय के साथ कर्ताभोक्ता भाव नहीं होता, परन्तु पर्यायअपेक्षा से उसे भी गुणस्थान के अनुसार राग–द्वेष होते हैं। अज्ञानी को पर्याय में ही मैंपन होता है। इसलिये अज्ञानी राग–द्वेष की पर्याय का कर्ताभोक्ता होता है। अर्थात् अज्ञानी को राग–द्वेष होते हैं। अज्ञानी के अभिप्राय में पर में सुखबुद्धि होती है। इसलिये अज्ञानी 'विषयों से सुख मिलेगा' यह समझकर विषयों के प्रति लालायित रहता है। इस प्रकार, जब तक पर में सुखबुद्धि होती है तब तक जीव को पर को ग्रहण करने का अभिप्राय बना रहता है।

अनेक प्रकार के निन्दा और स्तुति के शब्द पुद्गल की पर्यायें हैं। लोग अज्ञानवश इन्हें जीव की पर्याय मान लेते हैं। और अन्य कई लोग अज्ञानवश इन्हें आकाश का गुण मानते हैं। वर्तमान में शब्द रिकॉर्ड (record) भी होते हैं। और उन्हें बार-बार सुन भी सकते हैं। उसमें कोई जीव नहीं होता। अतः वे पुद्गल के ही परिणाम हैं। उन निन्दा या स्तुति के वचनों को सुनकर अज्ञानी जीव 'यह मुझे सुनाया' ऐसा मानकर या तो रोष करते हैं या फिर प्रसन्न होते हैं। निन्दा या स्तुति के वचन उपादानरूप से पुद्गल की पर्यायें हैं परन्तु निमित्त रूप से कोई जीव उसका निमित्त होता है। अज्ञानी जीव उस निमित्तरूप जीव को ही शब्दों का कर्ता मानकर उसपर रुष्ट या तुष्ट होते हैं। परन्तु वे यह नहीं समझते कि पुद्गलद्रव्य शब्द रूप से परिणत हुआ है।

पुद्गल बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचनों के रूप में परिणत होते हैं। उन्हें सुनकर (अज्ञानी जीव) 'मुझसे ऐसा कहा है' मानकर रुष्ट और तुष्ट होते हैं। निन्दा और स्तुति के वचन जीव को यह नहीं कहते कि 'तुम मुझे सुनो' क्योंकि पुद्गल तो अजीव है। आत्मा भी उन श्रोत्र इन्द्रियों के विषय में आये हुए शब्दों को ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती, क्योंकि आत्मा अरूपी है और शब्दरूपी है। आत्मा का जो सहज जानने-देखने का स्वभाव है, वह सहज रूप से ही सुन लेता है, ज्ञात कर लेता है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर उन शब्दों के कारण राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव को वे निन्दा और स्तुति के वचन अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलते हैं। इन निन्दा और स्तुति के वचन के कारण आत्मा के कर्मों की निर्जरा हो गयी—यह समझकर उसे शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

शुभ या अशुभ रूप जीव को यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे देखो' क्योंकि रूप तो अजीव है। और आत्मा भी चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप को ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती। क्योंकि आत्मा अरूपी है और रूप सरूपी है। इसलिये आत्मा अपने जानने-देखने के स्वभाव से उसे अपने स्थान में रहते हुए ही देख लेती है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर शुभ-अशुभ रूप देखकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव को वे शुभ-अशुभ रूप अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलते हैं और वे पुद्गलरूपी होने के कारण सदैव परिवर्तनशील होते हैं। पुद्गल का स्वभाव ही सड़ने-गलने

का है। इसलिये शुभ रूप को अशुभ रूप में और अशुभ रूप को शुभ रूप में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती यह समझकर जीव को शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

शुभ या अशुभ गन्ध जीव को यह नहीं कहती कि 'तुम मुझे सूंघो' क्योंकि वह पुद्गल की पर्याय होने से गन्ध तो अजीव है। और आत्मा भी घ्राण इन्द्रिय के विषय में आयी हुई गन्ध को ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती। क्योंकि आत्मा अरूपी है और गन्ध सरूपी है। अतः रूपी को अरूपी ग्रहण नहीं कर सकता है, पकड़ नहीं सकता है। आत्मा अपने जानने–देखने के स्वभाव से उसे सहजता से अपने स्थान में रहकर ही जान लेती है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर शुभ–अशुभ गन्ध को सूंघकर राग–द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव को शुभ–अशुभ गंधें अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलती हैं और वे पुद्गलरूपी होने के कारण सदैव परिवर्तनशील होती हैं। पुद्गल का स्वभाव ही सड़ने–गलने का है। इसलिये शुभ गन्ध को अशुभ गन्ध में और अशुभ गन्ध को शुभ गन्ध में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती—यह समझकर जीव को शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

शुभ या अशुभ रस जीव को यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे चखो' क्योंकि पुद्गल की पर्याय होने से रस तो अजीव है। और आत्मा भी रसना इन्द्रिय के विषय में आये हुए रस को ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती। आत्मा अपने जानने–देखने के स्वभाव से उसे सहजता से अपने स्थान में रहकर ही रस का ज्ञान कर लेती है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर शुभ–अशुभ रस को चखकर राग–द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव को वे शुभ–अशुभ रस अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलते हैं और वे पुद्गलरूपी होने के कारण सदैव परिवर्तनशील होते हैं। पुद्गल का स्वभाव ही सड़ने–गलने का है। इसलिये शुभ रस को अशुभ रस में और अशुभ रस को शुभ रस में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती—यह समझकर जीव को शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

शुभ या अशुभ स्पर्श जीव को यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे छुओ' क्योंकि पुद्गल की पर्याय होने से स्पर्श तो अजीव है। और आत्मा भी स्पर्श इन्द्रिय के विषय में आये हुए स्पर्श को

ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती। क्योंकि स्पर्श रूपी है और आत्मा अरूपी। विदित है कि अरूपी रूपी को ग्रहण नहीं कर सकता, पकड़ नहीं सकता। आत्मा अपने जानने–देखने के स्वभाव से उसे सहजता से अपने स्थान में रहकर ही उस स्पर्श का ज्ञान कर लेती है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर शुभ–अशुभ स्पर्श को जानकर राग–द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव को वे शुभ–अशुभ स्पर्श अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलते हैं और वे पुद्गलरूप होने के कारण सदैव परिवर्तनशील होते हैं। पुद्गल का स्वभाव ही सड़ने–गलने का है। इसलिये शुभ स्पर्श को अशुभ स्पर्श में और अशुभ स्पर्श को शुभ स्पर्श में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती—यह समझकर जीव को शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

शुभ या अशुभ गुण जीव को यह नहीं कहते कि 'तुम मुझे जानो' और आत्मा भी उन बुद्धि के विषय में आये हुए गुणों को ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती। आत्मा अपने जानने–देखने के स्वभाव से सहजता से अपने स्थान में रहकर ही गुणों का ज्ञान कर लेती है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर शुभ–अशुभ गुणों को जानकर राग–द्वेष नहीं करना चाहिये। क्योंकि जीव को वे शुभ–अशुभ गुण अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलते हैं और वे पुद्गलरूपी होने के कारण सदैव परिवर्तनशील होते हैं। पुद्गल का स्वभाव ही सड़ने–गलने का है। इसलिये शुभ गुण को अशुभ गुण में और अशुभ गुण को शुभ गुण में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती—यह समझकर जीव को शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

शुभ या अशुभ द्रव्य जीव को यह नहीं कहता कि 'तुम मुझे जानो' और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य को ग्रहण करने यानी पकड़ने नहीं जाती। परन्तु आत्मा अपने जानने–देखने के स्वभाव से सहजता से अपने स्थान में रहकर ही उस द्रव्य का ज्ञान कर लेती है। यहाँ आचार्यश्री परोक्ष रूप से यह संकेत दे रहे हैं कि जीव को पर में सुखबुद्धि त्यागकर शुभ–अशुभ द्रव्य को जानकर राग–द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीव को वे शुभ–अशुभ द्रव्य अपने कर्मों के निमित्त से ही मिलते हैं और वे पुद्गलरूपी होने के कारण सदैव परिवर्तनशील होते हैं। पुद्गल का स्वभाव ही सड़ने–गलने का है। इसलिये शुभ द्रव्य को अशुभ द्रव्य में और अशुभ द्रव्य को शुभ द्रव्य में परिवर्तित होने में देर नहीं लगती—यह समझकर जीव को शान्त और प्रसन्न रहते हुए आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता का ही प्रयास करना चाहिये। यही इस गाथा का सन्देश है।

यहाँ आचार्यश्री जीव और अजीव का स्वभाव बता रहे हैं और अजीव के प्रति राग–द्वेष से कैसे बचा जा सकता है यह भी परोक्षरूप से बता रहे हैं। परन्तु अज्ञानी जीव को आत्मानुभूतिपूर्वक भेद पता न होने की वजह से वह मूढ़ कहलाता है। ऐसा मूढ़ जीव पर में सुखबुद्धि के कारण उपशम को प्राप्त नहीं होता, और शिवबुद्धिस्वरूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करता। ऐसा अज्ञानी जीव पर में सुखबुद्धि के कारण पर को ग्रहण करने की इच्छा करता रहता है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३८३–३८६ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ३९७–४००

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ।।383।।

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं ।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा ।।384।।

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा ।।385।।

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य ।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ।।386।।

भावानुवाद : *जो आत्मा अपने को अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से दूर रखती है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल का शुभाशुभकर्म जिस भाव से बँधता है, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होती है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है। वर्तमानकाल में उदय में आनेवाले अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्म हैं, उस दोष को जो आत्मा (ज्ञाताद्रष्टा रहकर) जान लेती है, वह आत्मा वास्तव में आलोचना है। जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है, और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा वास्तव में चारित्र है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करके पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है।

इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपनी पर्याय का भी ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं। इसलिये वह अभिप्राय की अपेक्षा से अपने शुभाशुभ भावों का भी ज्ञाताद्रष्टा ही है। वह शुद्धात्मा ही सदा प्रत्याख्यान है, प्रतिक्रमण है और आलोचना भी। यही बात इन गाथाओं में बतायी गयी है।

जीव के अनेक प्रकार के पूर्वकृत ज्ञानावरणादि शुभाशुभकर्म हैं, वे पुद्गलरूप हैं। एवं उनके निमित्त से होनेवाले जीव के जो भाव हैं, उनमें ज्ञानी का मैंपन नहीं होता। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि जो आत्मा अपने को द्रव्यकर्म और भावकर्म से दूर रखती है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। अर्थात् ज्ञानी का जिसमें मैंपन है, ऐसी शुद्धात्मा ही प्रतिक्रमण है।

आचार्यश्री आगे बता रहे हैं कि भविष्यकाल के शुभाशुभकर्म जिस भाव से बँधते हैं, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होती है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है। अर्थात् ज्ञानी जिस भाव से मैंपन करता है, वह शुद्धात्मा ही प्रत्याख्यान है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। उस शुद्धात्मा में 'भविष्यकाल का शुभाशुभकर्म जिस भाव में बँधता है' वह भाव (भावास्रव) नहीं होता। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि 'उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होती है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है' यानी आत्मानुभूति का विषय शुद्धात्मा ही प्रत्याख्यान है।

आगे बता रहे हैं कि वर्तमानकाल में उदय में आनेवाले जो अनेक प्रकार के शुभाशुभकर्म हैं, यदि आत्मा उनकी ज्ञाताद्रष्टा होती है, तो वह आत्मा वास्तव में आलोचना है। अर्थात् ज्ञानी जिस भाव में मैंपन करता है ऐसी शुद्धात्मा ही आलोचना है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। उस शुद्धात्मा में वर्तमानकाल में उदय में आनेवाले अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्म के निमित्त से होनेवाले दोष नहीं होते। इस अपेक्षा से यहाँ बताया गया है कि 'उस भाव को जो आत्मा ज्ञाताद्रष्टा रहकर जान लेता है, वह आत्मा आलोचना है' यानी आत्मानुभूति का विषय शुद्धात्मा ही आलोचना है।

इसलिये ऐसा कह सकते हैं कि जो ज्ञानी सदा उपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन करता है, वही अभिप्राय की अपेक्षा से सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है। निश्चय से ऐसा ज्ञानी वास्तव में चारित्र से युक्त है। यहाँ

निश्चयनय की अपेक्षा से चारित्र की व्याख्या की गयी है। अन्यथा सप्तम गुणस्थान में सहज पाये जानेवाले द्रव्य कर्म, भावकर्म तथा भावास्रव से रहित भाव की बात नहीं करते।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द का अभिप्राय सिर्फ़ सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को ही स्वसमय बताने का होता, तो वे चारित्र को उपर्युक्त रीति से यानी शुद्धात्मा की अनुभूति रूप परिभाषित नहीं करते। अर्थात् गाथा क्रमांक २ में भी यही निश्चय चारित्र की ही बात की है और वे छठवीं गाथा में यह नहीं कहते कि शुद्धात्मा न तो प्रमत्त है और न ही अप्रमत्त है। इससे तय होता है कि उनको सामान्यभाव यानी द्रव्यात्मा ही इष्ट है, न कि विशेषभाव। वह सामान्यभाव चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सभी जीवों को अनुभव में आता है। और उस सामान्यभाव में सभी गुण विद्यमान हैं परन्तु उन्होंने नाम तो सिर्फ़ ज्ञान–दर्शन–चारित्र का ही लिया है। इसलिये कई लोग इसे विशेषभाव समझकर आत्मानुभूति को सातवें गुणस्थान में ही मानते हैं, उसके पहले नहीं। यही बात आचार्य कुन्दकुन्द ने सातवीं गाथा में भी बतायी है—व्यवहार से कहते हैं कि ज्ञान–दर्शन–चारित्र हैं परन्तु ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है, वह सिर्फ़ शुद्ध ज्ञायक ही है। इसी से स्पष्ट होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द को सामान्यभाव अभिप्रेत है, न कि विशेषभाव। विशेषभाव में ज्ञान–दर्शन–चारित्र में स्थिति सातवें गुणस्थान की दशा में होती है परन्तु यहाँ सामान्यभाव अभिप्रेत है, जिसमें चतुर्थादि गुणस्थान में भी सभी गुण विद्यमान होते हैं। इस अपेक्षा से यहाँ चारित्र की व्याख्या की गयी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३८७–३८९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४११–४१३

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बन्धदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।387।।

वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बन्धदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।388।।

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बन्धदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।389।।

भावानुवाद : *जो आत्मा कर्मफल का वेदन करती हुई, कर्मफल में मैंपन करती है, वह पुनः पुनः आठ प्रकार के कर्मों को अर्थात् दुःख के बीज को बाँधती है। कर्मफल का वेदन करती*

हुई जो आत्मा यह जानती है कि कर्मफल मैंने किया है, वह पुनः पुनः आठ प्रकार के कर्मों को अर्थात् दुःख के बीज को बाँधती है। कर्मफल का वेदन करती हुई जो आत्मा सुखी–दुःखी होती है, वह पुनः पुनः आठ प्रकार के कर्मों को अर्थात् दुःख के बीज को बाँधती है।

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। शुद्धात्मा सामान्यभाव है। इसलिये वह त्रिकालशुद्ध होती है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये उसे न तो कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ त्यागना बचा है। ऐसे जीव को अभिप्राय की अपेक्षा से पर्याय में मैंपन नहीं होता तथा वह पर्याय का कर्ताभोक्ता भी नहीं होता। अभिप्राय की अपेक्षा से वह सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। इसलिये ऐसा जीव कर्म के फल को जानता ही है, वेदन नहीं करता। और 'कर्मफल मैंने किया' यह भाव भी उसे अभिप्राय में नहीं होता। अभिप्राय की अपेक्षा से वह सिर्फ़ शुद्धात्मा ही होता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी कर्म के फलस्वरूप सुख–दुःख का भी सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता। इस अपेक्षा से वह कर्मफल का वेदन करते हुए अभिप्राय की अपेक्षा से सुखी–दुःखी नहीं होता। और आगे वह आत्मस्थिरता बढ़ाते हुए गुणश्रेणीवाली निर्जरा करता है तथा क्षपकश्रेणी चढ़कर कर्मों से मुक्त होता है।

जबकि अज्ञानी जीव कर्मफल का वेदन करता हुआ अज्ञानवश कर्मफल को निजरूप मानता है, क्योंकि उसका मैंपन अपनी और पुद्गलरूप शरीर की पर्याय में ही होता है। इसलिये वह पुनः पुनः दुःख के बीजरूप अर्थात् दुःखमय संसार के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है। ऐसा जीव कर्मफल का वेदन करता हुआ अज्ञानवश यह मानता है कि 'कर्मफल मैंने किया है' क्योंकि उसका मैंपन सिर्फ़ पर्याय में ही होता है। अतएव वह अपनी पर्याय का कर्ताभोक्ता होता है। इसलिये वह पुनः पुनः दुःख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है। इस प्रकार अज्ञानी को कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है और ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से सिर्फ़ ज्ञानचेतना ही होती है।

अज्ञानी का मैंपन पर्याय में ही होता है और कर्मफल का वेदन भी पर्याय में ही होता है। इसलिये ऐसा जीव कर्मफल का वेदन करता हुआ अभिप्राय में भी सुखी–दुःखी होता है, क्योंकि उसका मैंपन सिर्फ़ पर्याय में ही होता है। इसलिये वह पुनः पुनः दुःख के बीजरूप आठ

प्रकार के कर्मों को बाँधता है। जबकि ज्ञानी का मैंपन द्रव्य में होता है, पर्याय में नहीं। अतः अभिप्राय की अपेक्षा से वह अपने सुख-दुःख का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ताभोक्ता नहीं होता।

आचार्यश्री यहाँ परोक्ष रूप से सभी साधकों को अनन्त दुःखों से बचने के लिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की ही हिदायत दे रहे हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ३९०-४०४ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४१४-४२८

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति ॥३९०॥

सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति ॥३९१॥

रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति ॥३९२॥

वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति ॥३९३॥

गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति ॥३९४॥

ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति ॥३९५॥

फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति ॥३९६॥

कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति ॥३९७॥

धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति ।।398।।

णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाऽधम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति ।।399।।

कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति ।।400।।

आयासं पि ण णाणं जम्हाऽऽयासं ण याणदे किंचि ।
तम्हाऽऽयासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति ।।401।।

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ।।402।।

जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं ।।403।।

णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगदं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ।।404।।

भावानुवाद : *शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ नहीं जानता। इसलिये ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, शब्द अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, रूप अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। गन्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गन्ध कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, गन्ध अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, रस अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, स्पर्श अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।*

कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, कर्म अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। धर्म (धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म (धर्मास्तिकाय) कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, धर्म (धर्मास्तिकाय) अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। अधर्म (अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म (अधर्मास्तिकाय) कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, अधर्म (अधर्मास्तिकाय) अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। काल ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, काल अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। आकाश ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है। इसलिये ज्ञान अन्य है, आकाश अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है। इसलिये ज्ञान अन्य है, अध्यवसान अन्य है। चूँकि (जीव) निरन्तर जानता है। इसलिये ज्ञायक ऐसा जीव ज्ञानी है। और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) है, ऐसा जानना चाहिये। बुद्ध पुरुष (ज्ञानी) ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) तथा प्रव्रज्या (दीक्षा) मानते हैं।

टीका : आत्मा के ज्ञान की पर्याय जानने–देखने का, सुनने का, सूंघने का, चखने का, स्पर्श आदि का कार्य करती है। अन्य कोई भी द्रव्य ये सभी कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान सिर्फ़ आत्मा में ही होता है। अन्य द्रव्यों में ज्ञान नहीं होता। सामान्यज्ञान ही ज्ञायक है, ज्ञानसामान्यभाव ही आत्मानुभूति का विषय है जो इस शास्त्र का हार्द है। उस शुद्धात्मानुभूति को ही आचार्यश्री ने यहाँ सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) तथा प्रव्रज्या (दीक्षा) कहा है।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। वह शुद्धात्मा ही ज्ञायक भाव है, ज्ञानमात्र भाव है, उसी की बात इन गाथाओं में बतायी गयी है। यहाँ बताया गया है कि शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और अकाश ये सभी ज्ञान नहीं हैं। क्योंकि ये सभी अजीव हैं और ज्ञान सिर्फ़ जीव में ही होता है। अजीव में ज्ञान नहीं होता। इसलिये ज्ञान अन्य है और इन सभी में ज्ञान न होने से वे ज्ञान से भिन्न हैं।

जीव के जो अध्यवसान हैं, वे भी ज्ञायक भाव में नहीं होते, आत्मानुभूति में नहीं होते और इस ग्रन्थ में प्रायः ज्ञायक भाव को ही आत्मा बताया है। इसलिये यहाँ शुद्धात्मा की अपेक्षा से बताया गया है कि अध्यवसान अचेतन हैं, क्योंकि सिर्फ़ शुद्धात्मा ही आत्मानुभूति का विषय है जो इस शास्त्र का हार्द है और उस शुद्धात्मा में अध्यवसान नहीं होते। अतः ज्ञान और अध्यवसान भिन्न-भिन्न हैं। चूँकि जीव ज्ञानस्वरूप है और अभिप्राय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञायकभाव में ही होता है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी ही ज्ञायक है। और ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है। इसलिये निश्चयनय से सिर्फ़ ज्ञायकभाव को मैंपन से अनुभव करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि है और वह अभिप्राय की अपेक्षा से संयमी है, अंगपूर्वगत सूत्रों के सार का ज्ञाता है, उसे गुणस्थान के अनुसार धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) होते हैं एवं वह इस ज्ञायकभाव (शुद्धात्मा की अनुभूति) से ही पाप और पुण्य का नाश कर मुक्त होनेवाला है। निश्चयनय से शुद्धात्मा की अनुभूति को ही आचार्यश्री सच्चा प्रव्रज्याधारक मानते हैं। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४०५-४०७ - आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४२९-४३१

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु ।।405।।

ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं चेव जं परद्दव्वं ।
सो को वि य तस्स गुणो पाओग्गिओ विस्ससो वा वि ।।406।।

तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिण्हदे किंचि ।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ।।407।।

भावानुवाद : *इस प्रकार जिसकी आत्मा अमूर्तिक है, वह वास्तव में आहारक नहीं है। आहार तो मूर्तिक है, क्योंकि वह पुद्गलमय है। जो परद्रव्य है, वह न तो ग्रहण किया जा सकता और न ही छोड़ा जा सकता है। ऐसा ही उसका प्रायोगिक तथा वैस्रसिक (अप्रायोगिक) गुण है। इसलिये जो विशुद्धात्मा है, वह जीव और अजीव द्रव्यों में न तो कुछ ग्रहण करती है और न ही कुछ त्यागती है।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता प्राप्त कर के पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होता है और आत्मानुभूति करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से ऐसे ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। अतएव ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से न कुछ ग्रहण करना बचा है और न ही कुछ त्यागना बचा है। यही बात यहाँ बतायी गयी है।

आत्मा अमूर्तिक है और आहाररूपी पुद्गल मूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक आहार को ग्रहण नहीं कर सकती। वैसे भी निश्चय से कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य को उपादान की अपेक्षा से ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये उसे त्यागने का भी प्रश्न नहीं आता है यानी जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं बन सकता तो उपादानरूप से उनका ग्रहण–त्याग भी नहीं होता, दोनों द्रव्य एकमेव अद्वितीय नहीं हो जाते। इसलिये वे एकमेव अद्वितीय होकर न मिलते हैं (एक दूसरे को ग्रहण करते हैं) और न ही छोड़ते हैं (एक दूसरे का ग्रहणपूर्वक त्याग करते हैं)। यह निश्चयकथन है, व्यवहारकथन नहीं।

व्यवहारनय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को ग्रहण करता हुआ दिखता है। वास्तव में वह सिर्फ़ उनका एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप में कभी भी परिवर्तित नहीं होता। इसलिये यहाँ बताया गया है कि आत्मा आहार को न तो ग्रहण करती है और न ही उसे त्यागती है। जो भी एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है वह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। उनमें से कुछ तो प्रायोगिक (प्रयत्नपूर्वक) होते हैं और कुछ वैस्रसिक (बिना प्रयत्न के) होते हैं। उदाहरणतः रोमाहार, श्वासोछ्वास आदि सहज होते हैं, बिना बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के होते हैं।

परन्तु यदि कोई अज्ञानी ग़लत अर्थघटन के कारण निश्चयाभासी होकर इसे अन्यथा लेकर यथेच्छ भोजन करते हुए भी भ्रमवश यह बोले कि मैं कहाँ खाता हूँ, यह तो शरीर खा रहा है। मैं अनाहारी हूँ, मै तो उसका सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही हूँ। इस प्रकार वह हर प्रकार के विषय–कषाय को सेवन करते हुए बोलता रहता है कि मैं कहाँ भोग रहा हूँ, मैं तो उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही हूँ। मैं कहाँ राग–द्वेष करता हूँ, मैं तो उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही हूँ। बिना आत्मानुभूति के कोई भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा समझे और बौद्धिकरूप से स्वयं को अनाहारक माने तो यह इस गाथा का उद्देश्य नहीं है। ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी जीव अपना अनन्त अहित कर लेते हैं और अपने

ही दुःखमय संसार को और अधिक बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार अनेक लोग इस अध्यात्मशास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण उसे आत्मकल्याण के साधन के स्थान पर स्वयं के लिये शस्त्र बना लेते हैं और अपना अनन्त संसार और अधिक बढ़ा लेते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४०८-४०९ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४३२-४३३

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ।।408।।

ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसण-णाण-चरित्ताणि सेवंते ।।409।।

भावानुवाद : *बहुत प्रकार के मुनिलिंगों को या गृहस्थलिंगों को ग्रहण करके मूढ़ (अज्ञानी) जीव यह कहते हैं कि यह (बाह्य) लिंग मोक्षमार्ग है। परन्तु (बाह्य) लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि अरिहंतदेव देह के प्रति निर्मम होकर, लिंग से मुक्त होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी बाह्यलिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता, क्योंकि शुद्धात्मा में कोई लिंग ही नहीं होता।

ऐसे जीव को आचार्यश्री गाथा २ में दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित स्वसमय बताते हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित अर्थात् शुद्धात्मा में स्थित, क्योंकि शुद्धात्मा में सभी गुण विद्यमान हैं। वही बात प्रमुख गुणों का उल्लेख करके बतायी गयी है।

यहाँ भी आचार्यश्री दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करने की ही बात कर रहे हैं। बार-बार शुद्धात्मा में ही स्थित होने को निश्चय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना बताया गया है। बार-बार शुद्धात्मा के सेवन से ही गुणश्रेणीवाली कर्मनिर्जरा होती है, आगे जीव क्षपकश्रेणी चढ़कर

केवली बनता है और आयु का अन्त होने पर मुक्त हो जाता है। इसलिये निश्चय से सच्चा मोक्षमार्ग शुद्धात्मा में रमण करना ही है।

परन्तु अज्ञानी को यह बात बिना आत्मानुभूति के समझ में नहीं आती। वह तो सच्चे मोक्षमार्ग में चलनेवाले जीव के बाह्य आचरण को ही देखकर बाह्याचाररूपी मुनिलिंग या गृहस्थलिंग ग्रहण कर लेता है और अज्ञानवश उसे ही सच्चा मोक्षमार्ग मानता है।

इसलिये यहाँ आचार्यश्री वैसे मुनिलिंग को पाखण्डीलिंग बता रहे हैं। बिना सम्यग्दर्शन के, बाह्याचार के आधार पर स्वयं को मुनि मानने को पाखण्ड कहा गया है। अतः सभी को एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से ही धर्म करना चाहिये और अज्ञानवश स्वयं को मात्र बाह्याचार के आधार पर श्रावक या साधु न मानकर आत्मसाधक मानना चाहिये, क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के सभी का पहला गुणस्थान ही है, अर्थात् सभी अज्ञानी हैं। यही बात आचार्यश्री ने गाथा २७४ में भी कही है—अज्ञानी या अभव्य जीव का ज्ञान शास्त्राध्ययन करने के बावजूद श्रद्धानरहित ही होता है। अतः शास्त्राध्ययन से भी उसे मोक्ष नहीं मिलता।

यहाँ आचार्यश्री सिर्फ़ बाह्यलिंग को मोक्षमार्ग मानने को मना कर रहे हैं और सम्यग्दर्शनसहित के सच्चे बाह्यलिंग में भी मैंपन करने को मना कर रहे हैं। यही इन गाथाओं का सार है। इसी लिये साररूप से आचार्यश्री बता रहे हैं कि अरिहंतदेव देह के प्रति निर्मम होकर, लिंग से मुक्त होकर अर्थात् बाह्यलिंग में मैंपन न करते हुए शुद्धात्मा में स्थिरता रूप दर्शन–ज्ञान–चारित्र का ही सेवन करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४१०–४१२ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४३४–४३६

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसण–णाण–चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति ।।410।।

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे ।
दंसण–णाण–चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ।।411।।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।412।।

भावानुवाद : *मुनि और गृहस्थ के लिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं। जिनेन्द्रदेव दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहते हैं। इसलिये सागारों द्वारा अथवा अनगारों द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो कि मोक्षमार्ग है, उसी में आत्मा को लगाओ। तुम मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित करो, उसी का ध्यान करो, उसी का अनुभव करो, उसी में निरन्तर विहार करो। अन्य द्रव्यों में विहार मत करो।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी बाह्य लिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता, क्योंकि शुद्धात्मा में कोई लिंग ही नहीं होता।

उपरोक्त गाथा ४०८, ४०९ में बताये अनुसार यहाँ भी आचार्यश्री बिना सम्यग्दर्शन के बाह्य मुनिलिंग को पाखण्ड बता रहे हैं। और बाह्य मुनिलिंग तथा बाह्य गृहस्थलिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं यह बता रहे हैं। क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता। इसलिये आचार्यश्री सम्यग्दर्शन का महिमामण्डन करते हुए बता रहे हैं कि जिनेन्द्र भगवान दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहते हैं। इन गाथाओं के माध्यम से आचार्यश्री बहुत ही स्पष्ट रूप से सभी को सम्यग्दर्शन पाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

इसलिये उन्होंने बिना सम्यग्दर्शन के ग्रहण किये हुए बाह्य मुनिलिंग तथा बाह्य गृहस्थलिंग को पाखण्ड कह दिया है। इसी से सभी को इस ग्रन्थ का उद्देश्य समझ में आ जाना चाहिये। वर्तमानकाल में और आचार्यश्री के समय में भी बाह्यलिंग का महिमामण्डन बढ़ जाने से सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रव्रज्या ही सही प्रव्रज्या है, इस बात का प्रायः लोप हो गया है। वे उसी बात को पुनःस्थापित कर रहे हैं।

इन गाथाओं को अन्यथा लेकर इसे मुनियों का विरोध नहीं समझना चाहिये। इसलिये अनगारों (बाह्य मुनिलिंगियों) द्वारा एवं सागारों (बाह्य गृहस्थलिंगियों) द्वारा अज्ञानवश ग्रहण किये गये बाह्यलिंगों में अपना मैंपन करना छोड़कर आत्मानुभूति प्राप्त करके शुद्धात्मा में मैंपन स्थापित करना चाहिये और दर्शन-ज्ञान-चारित्र में, जो कि सच्चा मोक्षमार्ग है, उसमें अपनी आत्मा को लगाना चाहिये।

यहाँ आचार्यश्री लिंगों को छोड़ने को कह रहे हैं यानी सिर्फ़ बाह्यलिंगों को मोक्षमार्ग मानना छोड़ना है यानी बाह्यलिंग रूप शरीरादि में मैंपन करना छोड़ना है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं के मन में मात्र बाह्याचारवाले लिंगों से स्वयं को श्रावक या मुनि मानना छोड़ना। अर्थात् किसी ने भी बिना आत्मानुभूति के यदि बाह्यलिंग के कारण स्वयं को मुनि या श्रावक मान लिया तो फिर वह सच्चा मुनि या सच्चा श्रावक बनने की आवश्यकता ही नहीं समझेगा।

दूसरे, आत्मानुभूतियुक्त मुनि का बाह्यलिंग में मैंपन नहीं होता, अभिप्राय की अपेक्षा से उनका मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता हैं। इस अपेक्षा से आचार्यश्री लिंगों को छोड़ने को कह रहे हैं।

इसी प्रकार कई लोग इस ग्रन्थ को अन्यथा समझकर भ्रमवश स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मानने लगे हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। उनको भी इन गाथाओं से स्वयं को पाखण्डी जानकर शुद्धात्मा की अनुभूति के लिये पुरुषार्थ प्रारम्भ करना चाहिये। इससे यह तय होता है कि मोक्षमार्ग बिना आत्मानुभूति के महज़ बौद्धिकरूप से स्वयं को शुद्धात्मा या श्रावक या मुनि मान लेने मात्र से प्राप्त नहीं होता। उसके लिये आत्मानुभूति परम आवश्यक है। बिना आत्मसन्मुखता के आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होती। बिना वैराग्यादि योग्यताओं के और पर की इच्छाओं से विरत हुए बिना आत्मसन्मुखता प्राप्त नहीं होती। अतः सभी को ठान लेना चाहिये कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति ही एकमात्र लक्ष्य है, और ख़ुद को छलना नहीं चाहिये।

आगे आचार्यश्री केवलज्ञान–केवलदर्शनरूपी मुक्ति की सच्ची साधना बताते हुए कहते हैं कि हे साधक! तुम्हें मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित करने के लिये आत्मानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिये, बार–बार उसी का अनुभव करना चाहिये और अपने को अन्य द्रव्यों के विकल्पों से मुक्त कर उसी में निरन्तर स्थिरता का प्रयास करना चाहिये। इसी से साधक को क्षपकश्रेणी चढ़कर कैवल्य की प्राप्ति होगी और आयुक्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होगी, जो इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है। यही इन गाथाओं का सार है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति गाथा ४१३–४१५ – आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति गाथा ४३७–४३९

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णादं समयसारं ।।413।।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।।414।।

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थ-तच्चदो णादुं ।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं ।।415।।

भावानुवाद : *जो बहुत प्रकार के (बाह्य) मुनिलिंगों से अथवा (बाह्य) गृहस्थलिंगों से ममता करते हैं, उन्होंने समयसार को नहीं जाना। व्यवहारनय (बाह्य मुनिलिंग और बाह्य गृहस्थलिंग) दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है। निश्चयनय सभी (बाह्य मुनि या बाह्य गृहस्थ) लिंगों को मोक्षमार्ग नहीं मानता। जो आत्मा इस समयपाहुड को पढ़कर, अर्थ और तत्त्व से जानकर उसके अर्थ में स्थित होगी वह उत्तम सुखस्वरूप हो जायेगी।*

टीका : जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा जाता है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। वह जीव बार-बार आत्मानुभूति करते हुए गुणश्रेणीवाली निर्जरा करता है और गुणस्थान आरोहण करते हुए श्रावक या मुनि भी बनता है। ऐसे जीव के सिर्फ़ बाह्याचरण को देखकर कई अज्ञानी जीव अज्ञानवश उस बाह्य आचरण को ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं।

सम्यग्दर्शनप्राप्ति के लिये अपना अभिप्राय बदलना परम आवश्यक है। क्योंकि बिना अभिप्राय बदले जीव तो प्रायः बहिरात्मा ही होता है। इसलिये सभी साधकों को सर्वप्रथम एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यादि योग्यता पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि अनादि से अज्ञानवश जीव बाहर ही सुख मानता और ढूँढ़ता आया है।

इसलिये हमारी पूर्व जन्मों में बिना आत्मानुभूति के अनेकों बार ली हुई प्रव्रज्या भी मोक्षप्राप्ति में निष्फल रही है। अज्ञानी जीव अज्ञानवश ज्ञानी के सिर्फ़ बाह्याचार को ही मोक्षमार्ग मानकर उससे ममता करने लगता है। जबकि ज्ञानी का आन्तरिक आचरण यानी शुद्धात्मा में ही स्थिरता पाने का प्रयास होता है। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये ज्ञानी का बाह्यलिंग में मैंपन नहीं होता और वह सभी बाह्यलिंगों को मोक्षमार्ग भी नहीं मानता।

यहाँ आचार्यश्री ऐसे अज्ञानी जीवों को बाह्यलिंग की ममता छोड़कर समयसाररूपी शुद्धात्मा को ग्रहण करने की परोक्ष रूप से प्रेरणा दे रहे हैं। इसलिये वे बताते हैं कि सिर्फ़ बाह्यलिंग से

ममता करनेवाला जीव पाखण्डी है, क्योंकि उसने समयसार को नहीं जाना, अर्थात् समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया। यहाँ 'जानना' शब्द से अनुभूति करना समझना है। वास्तव में शुद्धात्मा को जानने का एक ही तरीक़ा है और वह है शुद्धात्मा की अनुभूति। इसलिये बिना आत्मानुभूति के शुद्धात्मा की श्रद्धा को गधे के सींग की श्रद्धा के समान सिर्फ़ कल्पना ही कहा जाता है।

शब्दरूप से तो वर्तमान में कई लोग शुद्धात्मा को जानते हैं। पूर्वकाल में हमने भी कई बार नौ पूर्व का अभ्यास करते हुए इसे शब्दरूप में जाना है। इसलिये यहाँ शब्दरूप से जानना न समझकर अनुभूति के रूप में जानना ही समझना चाहिये। यही बात पूरे समयसार शास्त्र में जहाँ कहीं भी आत्मा को जानना बताया गया है वहां उसे अनुभूतिपूर्वक जानना ही समझना चाहिये।

कई लोग इस बात को न समझने के कारण बिना आत्मानुभूति के ही इस ग्रन्थ को पढ़कर भ्रमवश स्वयं को स्वरूप से शुद्ध मानने लगते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। वास्तव में सभी जीव स्वरूप से शुद्ध ही हैं परन्तु यह बात गाथा १४ में बताये अनुसार आत्मानुभूति से ही प्रकट करनी है।

चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धनय प्रकट होता है। यदि कोई लोग उससे पूर्व ही बिना आत्मानुभूति के भ्रमवश स्वयं को स्वरूप से भी शुद्ध मानते हैं, तो वे पाखण्डी हैं। इसलिये ऐसे जीव निश्चयाभासी हो जाते हैं, जो इस ग्रन्थ का उद्देश्य ही नहीं है। इसलिये आचार्यश्री ने सभी को गाथा ५ के द्वारा सावधान कर दिया है कि इस शास्त्र को आत्मानुभूतिपूर्वक ही प्रमाण करना, अन्यथा इसके अर्थघटन में ग़लती होने की गुंजाइश बनी रहती है। इसलिये सभी साधकों को इस ग्रन्थ की सभी गाथाओं को योग्य अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिये।

अन्यथा कई लोग इस शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते हैं। वे शास्त्र को शस्त्र बना लेते हैं और उसी की प्ररूपणा करते रहते हैं। उन्हें सावधान होकर हमारे आगम, युक्ति और अपनी आत्मानुभूति के आधार पर बताये हुए अर्थ पर ग़ौर फ़रमाना चाहिये और अपना आत्मकल्याण करना चाहिये।

व्यवहारनय बाह्यलिंग को भी मोक्षमार्ग ही कहता है। अर्थात् व्यवहारनय से बाह्य गृहस्थलिंग और बाह्य मुनिलिंग दोनों ही मोक्षमार्ग हैं, क्योंकि व्यवहारनय उपचार से बाह्यलिंग को ही जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रतिपादित करता है।

निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग नहीं मानता, क्योंकि निश्चयनय से सिर्फ़ शुद्धात्मा में स्थिरता करने को ही मोक्षमार्ग माना जाता है। शुद्धात्मा में कोई भी विकल्प नहीं होते और कोई भी लिंग नहीं होते। इसलिये आत्मानुभूति को यानी शुद्धात्मा की अनुभूति को निर्विकल्प बताया गया है। अतः ज्ञानी को अपने अभिप्राय में कुछ भी ग्रहण करने का या छोड़ने का कोई भी विकल्प नहीं होता, किसी भी लिंग का विकल्प नहीं होता। इस अपेक्षा से भी यहाँ बताया गया है कि निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्गस्थ नहीं मानता।

आगे आचार्यश्री इस शास्त्र की पूर्णाहुति करते हुए साधक को यह उपदेश दे रहे हैं कि इस समयपाहुड (समयसार ग्रन्थ) को पढ़कर आत्मानुभूतिपूर्वक उसे अर्थ और तत्त्व रूप से जानकर शुद्धात्मानुभूतिरूप उसके अर्थ में जो जीव स्थित होगा वह उत्तम सुखस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करेगा। यहाँ जो अर्थ और तत्त्व से जानना बताया गया है वह आत्मानुभूतिपूर्वक ही समझना चाहिये। अर्थ को सिर्फ़ शब्दों में सीमित न करते हुए आचार्यश्री इस शास्त्र के शब्दार्थ को शुद्धात्मा की अनुभूति करके प्रमाण करने को ही अर्थ कहते हैं। वे शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करने की ही सलाह देते हैं।

उन्हें आशंका थी कि बिना आत्मानुभूति के इस शास्त्र को पढ़कर लोग भ्रमवश निश्चयाभासी बन जायेंगे। इसलिये उन्होंने गाथा ५ में इस शास्त्र को आत्मानुभूति प्राप्त करके प्रमाण करने को कहा है और छल (भ्रम) ग्रहण करने को मना किया है। यही इन गाथाओं का और इस शास्त्र का भी सार है।



सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार का उपसंहार

आचार्यश्री यहाँ बताते हैं कि जो द्रव्य की और गुणों की पर्यायें उत्पन्न होती हैं उनसे द्रव्य और गुणों को अनन्य जानो। जैसे जगत में कड़ा आदि आभूषणों रूपी पर्यायों से स्वर्ण अनन्य है, उसी प्रकार। जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये गये हैं, उन परिणामों से जीव और अजीव को अनन्य जानो। कई लोग ग़लत अर्थघटन के कारण द्रव्य और पर्याय में प्रदेशभेद मानते हैं। आचार्यश्री ने उनके मत को यहाँ निरस्त किया है।

आगे आचार्यश्री एकान्त से निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध को उड़ानेवाले मत को भी यह कहकर निरस्त कर रहे हैं कि चेतन अर्थात् आत्मा प्रकृति के निमित्त से परिणाम के रूप में उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। प्रकृति कर्म के रूप में आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार एक दूसरे के निमित्त से आत्मा तथा प्रकृति दोनों का बन्ध होता है। इसी से संसार उत्पन्न होता है।

अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये ज्ञानी ज्ञानचेतना में स्थित होता है और अज्ञानी कर्मचेतना और कर्मफल चेतना में स्थित होता है। अज्ञानी द्वारा भ्रमवश स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मान लेने से वह ज्ञान–चेतना में स्थित नहीं हो जाता, उसके लिए आत्मानुभूति आवश्यक है।

जब नेत्र किसी भी दृश्य को देखते हैं, तब वे उसे न तो स्पर्श करते हैं, न भोगते हैं, और न उसमें कोई परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार नेत्र दृश्य पदार्थों के कर्ताभोक्ता नहीं होते, सिर्फ़ द्रष्टा होते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी भी परपदार्थों को सिर्फ़ जानता ही है, उनका कर्ताभोक्ता नहीं होता। परन्तु जीव अनादि से अज्ञानवश उस ज्ञान के द्वारा ही ऐसे भाव करता है कि वह अपने अभिप्राय की अपेक्षा से पर का कर्ताभोक्ता बन जाता है। अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी अपने

परिणामों का सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा होता है, उनका कर्ताभोक्ता नहीं। ऐसे ज्ञानी को ही यहाँ नेत्र की उपमा दी गयी है। नेत्र की भाँति ज्ञानी भी अभिप्राय की अपेक्षा से अपने परिणाम और परद्रव्यों का अकारक तथा अवेदक है। और वह बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को सिर्फ़ जानता ही है, उनका कर्ताभोक्ता नहीं होता।

ज्ञानीजन व्यवहारनय से परद्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु वे निश्चयनय से यह जानते हैं कि 'परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है'। ज्ञानी 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर लोगों के परद्रव्य–कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए यह जानते हैं कि 'यह व्यवसाय सम्यग्दर्शनरहित नरों का है'। इससे पता चलता है कि सच्चे ज्ञानी को दूसरे के उपदेश या प्ररूपणा से यह ज्ञात होता है कि वह उपदेशक सम्यग्दर्शनरहित है या सम्यग्दर्शनसहित है।

यदि कोई यह समझे कि सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आत्मा को सम्यग्दृष्टि बनाते हैं, तो उसके मत में अचेतन सम्यक्त्वमोहनीय कर्मप्रकृति जीव के सम्यक्त्व भाव की कर्ता हो गयी। जबकि दो पृथक् द्रव्यों के बीच में कभी भी कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं होता। यानी सम्यक्त्व नामक प्रकृति जीव को उपादान रूप से कभी भी सम्यक्त्व रूप नहीं कर सकती। परन्तु सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के निमित्त से जीव अपने परिणामों को सम्यक्त्व रूप से परिणमित करता है। इस प्रकार दोनों अपना–अपना कार्य अपने उपादान से ही करते हैं और एक–दूसरे के निमित्त बनते हैं। इसे ही निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। जब तक एक द्रव्य निमित्तकारणवश परिणमन करता है, तब तक ही उन दो द्रव्यों में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है।

अथवा कोई यह माने कि जीव पुद्गलकर्मवर्गणा को मिथ्यात्वरूप करता है तो पुद्गलद्रव्य को ही मिथ्यादृष्टि मानने का प्रसंग आयेगा, जीव को नहीं। वास्तव में मिथ्यात्वभाव से परिणमन जीव ही करता है, पुद्गल नहीं। अथवा यदि कोई ऐसा माने कि जीव और प्रकृति दोनों मिलकर पुद्गलकर्मवर्गणा को मिथ्यात्वभाव के रूप से परिणमन करवाते हैं, तो जो कार्य दोनों के द्वारा किया गया है उसका फल भी दोनों को भोगने का प्रसंग बनेगा। जबकि कर्मोदय का फल तो जीव ही भुगतता है, अजीव नहीं। दोनों द्रव्य अपना–अपना कार्य करते हैं। इसलिये दो द्रव्य मिलकर कभी एक कार्य नहीं करते। ऐसा हुआ तो द्विक्रियावाद का दोष आयेगा। क्योंकि एक तो द्रव्य का अपना कार्य और दूसरा मिलकर किया गया कार्य—इस प्रकार दो कार्य एक समय में करने का दोष आयेगा।

अथवा यदि ऐसा माना जाये कि मिथ्यात्व नामक पुद्गलद्रव्यरूप कर्मवर्गणा को मिथ्यात्वरूप से न तो प्रकृति करती है और न ही जीव करता है। अर्थात् दोनों में से कोई नहीं करता। यदि ऐसा मानें तो पुद्गलद्रव्य को सहज रूप से यानी अपने स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप मानना पड़ेगा। जबकि यह बात सरासर ग़लत है। क्योंकि पुद्गलद्रव्य स्वभावतः परमाणु, अणु, स्कन्ध, वर्गणा आदि के रूप में विद्यमान रहता है। कर्मवर्गणारूपी पुद्गलद्रव्य जीव के मिथ्यात्वभाव के निमित्त से ही जीव के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध बनाकर मिथ्यात्वमोहनीय कर्मरूप होता है, ऐसा समझना चाहिये।

अज्ञानवश कई लोग जीव को अपरिणामी एवं एकान्त नित्य मानते हैं और जीव के परिणाम का कारण कर्म को मानते हैं। अर्थात् जीव के परिणाम और पुद्गलकर्म के बीच कर्ता–कर्म सम्बन्ध मानते हैं। वे जीव को त्रिकालशुद्ध समझते हैं और जीव के अज्ञानादि परिणाम कर्मकृत मानते हैं। कई लोग ऐसे भी हैं, जो वस्तुव्यवस्था के ग़लत अर्थघटन के कारण द्रव्य और पर्याय के षट्कारकों को भिन्न मानते हैं। वे अज्ञानवश मानते हैं कि द्रव्य तो शुद्ध है परन्तु पर्याय अपने स्वतन्त्र षट्कारक से अज्ञानादि रूप से परिणमती है, क्योंकि उन्हें यह पता नहीं होता कि द्रव्य और पर्याय एक–अभेद वस्तु है और अभेद वस्तु के षट्कारक भी एक–अभेद ही होते हैं। ऐसी कई ग़लत धारणाओं को आचार्यश्री ने यहाँ निरस्त किया है।

इस अधिकार में आचार्यश्री बताते हैं कि पुद्गलकर्म ही जीव को अज्ञानी करता है, जीव को ज्ञानी करता है, जीव को सुलाता–जगाता है, जीव को सुखी–दुःखी करता है, जीव को मिथ्यात्वी बनाता है, जीव को असंयमी बनाता है, जीव को ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण कराता है। उसके जीवन में जो कुछ भी, जितना भी, शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही कराते हैं। इस प्रकार माननेवाले जीव अज्ञानवश यही मानते हैं कि पुद्गलकर्म ही सब कुछ कराता है, सब कुछ देता है और सब हर लेता है। इस प्रकार जो कुछ भी करता है, वह कर्म ही करता है। परन्तु ऐसा होने पर सभी जीवों को अकारक (अकर्ता) ही मानना पड़ेगा। इसलिये हमारे उपदेश में कोई भी जीव घात करनेवाला नहीं है, क्योंकि कर्म ही उसको प्रेरित करके घात करवाता है, ऐसा कहा जाता है। जैसे सांख्य मत कहता है कि पुरुष अकर्ता है और प्रकृति ही सब कुछ करवाती है। ऐसा उपदेश यदि कोई श्रमण देते हैं तो उनके मत से सभी कार्य प्रकृति ही करती है और आत्मा तो सबकी अकर्ता है, ऐसा मानना

पड़ेगा। अथवा यदि कोई अज्ञानवश यह मानता है कि मेरी आत्मा तो द्रव्यरूप आत्मा को ही करती है, और पर्याय को प्रकृति करती है, या पर्याय को उसके स्वतन्त्र षट्कारक करते हैं। ऐसा माननेवाला को आचार्यश्री ने मिथ्यास्वभावी अर्थात् अज्ञानी कहा है।

इस अधिकार में आचार्यश्री यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि जीव किसी पर्याय की अपेक्षा से नष्ट होता है और किसी पर्याय की अपेक्षा से नष्ट नहीं होता। यहाँ उन्होंने द्रव्य को भी अपेक्षा से पर्याय बताया है। क्योंकि द्रव्य वस्तु का अंश है, पूरी वस्तु नहीं। मतलब द्रव्य अंशी नहीं पर वस्तु का अंश है और वस्तु अंशी है। इस अपेक्षा से उसे (द्रव्य को) भी पर्याय बताया है। इस अपेक्षा से उन्होंने बताया है कि जीव किसी पर्याय (द्रव्य की अपेक्षा) से नष्ट नहीं होता। यही अनेकान्त है, यही अरिहंत का मत है, यही सिद्धान्त है। अज्ञानवश इस सिद्धान्त को नहीं माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, जिनमतबाह्य हैं।

आचार्यश्री आगे बताते हैं कि दूसरा करता है और दूसरा भोगता है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है वह जीव मिथ्यादृष्टि है, जिनमतबाह्य है। यहाँ आचार्यश्री ने अनेकान्त की स्थापना की है और एकान्त को पाखण्ड बताया है, मिथ्यादृष्टि और जिनमतबाह्य बताया है।

वे बताते हैं कि जैसे शिल्पी अर्थात् स्वर्णकार सोने से कुण्डलादि बनाते हैं परन्तु वे कुण्डलादि को तन्मय होकर नहीं बनाते। अर्थात् उपादान रूप से कुण्डलादि स्वर्ण के कार्य हैं, और स्वर्णकार उस कार्य का निमित्तकारण है। इसलिये वह स्वर्णकार कुण्डलादि से तन्मय नहीं होता। उपादान कार्य से तन्मय होता है, निमित्त कार्य से कभी तन्मय नहीं होता।

जब पर की अपेक्षा से कथन किया जाता है, अथवा जहाँ स्व–पर का भेद आता है, उसे व्यवहारनय जानना चाहिये। इसी बात को आचार्यश्री यहाँ उदाहरण देकर समझा रहे हैं।

जैसे सफ़ेद मिट्टी अपने कारण से ही सफ़ेद है, किसी दीवारादि परद्रव्य के कारण नहीं, वैसे ही ज्ञायक स्वभाव से ही ज्ञायक है, और द्रष्टा अपने स्वभाव से ही द्रष्टा है। दूसरे के कारण वह ज्ञाता या द्रष्टा नहीं है परन्तु ज्ञाताद्रष्टापन ही उसका स्वभाव है। उसे आत्मानुभूति से प्रकट करना है, न कि बौद्धिकरूप से मान लेना है।

निश्चय से एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में नहीं होते। इसलिये जो भी जीव के गुण हैं वे वास्तव में परद्रव्य में नहीं होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मा ही होती है, राग–

द्वेष नहीं होते। इसलिये निश्चय से ऐसा कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव को विषयों के प्रति राग नहीं है। अशुद्धनिश्चयनय से राग, द्वेष और मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। इस कारण से रागादि जीव में हैं, शब्दादि विषयों में नहीं हैं यानी पुद्गल में नहीं हैं।

परोक्षरूप से यहाँ यह बताया गया है कि जीव का जो विषयों के प्रति राग है वह शुद्धात्मा में नहीं है। इसलिये जीव को अपनी विषयों के प्रति सुखबुद्धि, रागबुद्धि, आकर्षण, मूर्छा पर काम करना है। विषयों का घात करने से उनके प्रति राग का घात नहीं होता। इसलिये जीव के पतन में अचेतन विषय ज़िम्मेदार नहीं हैं, बल्कि उनके प्रति जो राग, आकर्षण और मूर्छा है, वह ज़िम्मेदार है। उसे बारह भावनाओं से निरस्त करना ही मोक्षमार्ग है, विषयों का घात करना मोक्षमार्ग नहीं है।

समयसार ग्रन्थ में प्रायः सभी बातें उपादान की अपेक्षा से ही बतायी गयी हैं। इसी अपेक्षा से आचार्यश्री बताते हैं कि दर्शन–ज्ञान–चारित्र के घात में पुद्गलद्रव्य का घात किंचित्मात्र भी उपादान रूप से नहीं होता। इस प्रकार जो जीव के गुण हैं, वे पुद्गलादि परद्रव्य में नहीं हैं।

आचार्यश्री ने गाथा ३७२ में 'जो स्वभाव से उत्पन्न होते हैं' कहा गया है, उसका अर्थ है—वे अपने–अपने स्वभाव के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। अपने भावों में एक त्रिकाल व्यापक द्रव्यत्व भाव होता है—जो सदैव शुद्ध रहता है—उसे द्रव्यात्मा भी कहते है और दूसरा पर्यायरूपी आगन्तुक (अस्थायी) भाव होता है, जो शुद्ध भी हो सकता है और अशुद्ध भी। मोक्षमार्ग की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य इसी आगन्तुक भाव, अर्थात् पर्याय, को सादि–अनन्तकाल के लिये शुद्ध परिणमन में स्थिर करना ही है।

इस अधिकार में आचार्यश्री जीव और अजीव का स्वभाव बता रहे हैं और अजीव के प्रति राग–द्वेष से कैसे बचा जा सकता है यह भी परोक्षरूप से बता रहे हैं। परन्तु अज्ञानी जीव को आत्मानुभूतिपूर्वक भेद पता न होने से वह मूढ़ कहलाता है। ऐसा मूढ़ जीव उपशम को प्राप्त नहीं होता, और शिवबुद्धिस्वरूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करता। ऐसा अज्ञानी जीव पर को ग्रहण करने का मन करता रहता है। परन्तु ज्ञानी को अभिप्राय की अपेक्षा से कुछ भी ग्रहण करने का या छोड़ने का भाव नहीं होता। इसलिये ऐसा कह सकते हैं कि जो ज्ञानी सदा उपयोग रूप से या लब्धिरूप से शुद्धात्मा में मैंपन करता है, वही अभिप्राय की अपेक्षा से सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है। निश्चय से ऐसा ज्ञानी वास्तव में चारित्र से युक्त है। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से चारित्र की व्याख्या की गयी है। अन्यथा सप्तम गुणस्थान में पाये जानेवाले द्रव्य कर्म, भावकर्म तथा भावास्रव से रहित भाव की बात नहीं करते।

अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी सिर्फ़ शुद्धात्मा ही होता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से कर्म के फलस्वरूप सुख–दुःख का भी वह सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही होता है। जबकि अज्ञानी जीव कर्मफल का वेदन करता हुआ अज्ञानवश कर्मफल को निजरूप मानता है, क्योंकि उसका मैंपन अपनी और पुद्गलरूप शरीर की पर्याय में ही होता है। इसलिये वह पुनः पुनः दुःख के बीजरूप अर्थात् दुःखमय संसार के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है।

आत्मा के ज्ञान की पर्याय जानने–देखने का, सुनने का, सूंघने का, चखने का, स्पर्श आदि का कार्य करती है। अन्य कोई भी द्रव्य ये सभी कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि ज्ञान सिर्फ़ आत्मा में ही होता है। अन्य द्रव्यों में ज्ञान नहीं होता। सामान्यज्ञान ही ज्ञायक है, ज्ञानसामान्यभाव ही आत्मानुभूति का विषय है जो इस शास्त्र का हार्द है। उस शुद्धात्मानुभूति को ही आचार्यश्री ने यहाँ सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) तथा प्रव्रज्या (दीक्षा) कहा है।

जीव के जो अध्यवसान हैं, वे भी ज्ञायक भाव में नहीं होते, आत्मानुभूति में नहीं होते और इस ग्रन्थ में प्रायः ज्ञायक भाव को ही आत्मा बताया गया है। इसलिये यहाँ शुद्धात्मा की अपेक्षा से बताया गया है कि अध्यवसान अचेतन हैं, क्योंकि सिर्फ़ शुद्धात्मा ही आत्मानुभूति का विषय है जो इस शास्त्र का हार्द है और उस शुद्धात्मा में अध्यवसान नहीं होते। अतः ज्ञान और अध्यवसान भिन्न–भिन्न हैं। चूँकि जीव ज्ञानस्वरूप है और अभिप्राय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ ज्ञायकभाव में ही होता है। इसलिये यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी ही ज्ञायक है। और ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है। इसलिये निश्चयनय से सिर्फ़ ज्ञायकभाव को मैंपन से अनुभव करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि है और वह अभिप्राय की अपेक्षा से संयमी है, अंगपूर्वगत सूत्रों के सार का ज्ञाता है, उसे गुणस्थान के अनुसार धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) होते हैं एवं वह इस ज्ञायकभाव (शुद्धात्मा की अनुभूति) से ही पाप और पुण्य का नाश करके मुक्त होनेवाला है। निश्चयनय से शुद्धात्मा की अनुभूति को ही आचार्यश्री सच्चा प्रव्रज्याधारी मानते हैं।

आत्मा अमूर्तिक है और आहाररूपी पुद्गल मूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक आहार को ग्रहण नहीं कर सकती। वैसे भी निश्चय से कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य को उपादान की अपेक्षा से ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये उसे त्यागने का भी प्रश्न नहीं आता है यानी जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता तो उपादानरूप से उनका ग्रहण–त्याग भी नहीं होता, दोनों द्रव्य एकमेव अद्वितीय नहीं हो जाते। इसलिये वे एकमेव अद्वितीय होकर न मिलते हैं (एक दूसरे को ग्रहण

करते हैं) और न ही छोड़ते हैं (एक दूसरे का ग्रहणपूर्वक त्याग करते हैं)। यह निश्चय कथन है, व्यवहार कथन नहीं।

व्यवहारनय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को ग्रहण करता हुआ दिखता है। वास्तव में वह सिर्फ़ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप में कभी भी परिवर्तित नहीं होता। इसलिये यहाँ बताया गया है कि आत्मा आहार को न तो ग्रहण करती है और न ही उसे त्यागती है। जो भी एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है वह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। उनमें से कुछ तो प्रायोगिक (प्रयत्नपूर्वक) होते हैं और कुछ वैस्रसिक (बिना प्रयत्न के) होते हैं। उदाहरणतः रोमाहार, श्वासोछ्वास आदि सहज होते हैं, बिना बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के होते हैं।

परन्तु यदि कोई अज्ञानी ग़लत अर्थघटन के कारण निश्चयाभासी होकर इसे अन्यथा लेकर यथेच्छ भोजन करते हुए भी भ्रमवश यह बोले कि मैं कहाँ खाता हूँ, यह तो शरीर खा रहा है। मैं तो उसका सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा ही हूँ। इस प्रकार वह हर प्रकार के विषय–कषाय को सेवन करते हुए बोलता रहता है कि मैं कहाँ भोग रहा हूँ, मैं तो उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही हूँ। मैं कहाँ राग–द्वेष करता हूँ, मैं तो उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा ही हूँ। बिना आत्मानुभूति के कोई भ्रमवश स्वयं को शुद्धात्मा समझे और बौद्धिकरूप से स्वयं को अनाहारक माने तो यह इस गाथा का उद्देश्य नहीं है। ऐसी मिथ्या मान्यता से ऐसे अज्ञानी जीव अपना अनन्त अहित करते हैं और स्वयं का दुःखमय संसार बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार कई लोग इस अध्यात्मशास्त्र के ग़लत अर्थघटन के कारण उसे स्वयं के लिये शस्त्र के रूप में ग्रहण करते हैं और अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते हैं।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यता पाकर पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति करता है, तब उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसे जीव को सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। निश्चयनय से ज्ञानी का मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, जिसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। इसलिये अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी बाह्य लिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता, क्योंकि शुद्धात्मा में कोई लिंग ही नहीं होता।

यहाँ भी आचार्यश्री दर्शन–ज्ञान–चारित्र का सेवन करने की ही बात कर रहे हैं। बार–बार शुद्धात्मा में ही स्थित होने को निश्चय से दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित होना बताया गया है। बार–बार शुद्धात्मा के सेवन से ही गुणश्रेणीवाली कर्मनिर्जरा होती है। आगे जीव क्षपकश्रेणी चढ़कर केवली बनता है और आयु का अन्त होने पर मुक्त हो जाता है। इसलिये निश्चय से सच्चा मोक्षमार्ग शुद्धात्मा में रमण करना ही है।

परन्तु अज्ञानी को यह बात बिना आत्मानुभूति के समझ में नहीं आती। वह तो सच्चे मोक्षमार्ग में चलनेवाले जीव के बाह्य आचरण को ही देखकर बाह्याचार रूप मुनिलिंग या गृहस्थलिंग ग्रहण कर लेता है और अज्ञानवश उसे ही सच्चा मोक्षमार्ग मानता है। इसलिये यहाँ आचार्यश्री वैसे मुनिलिंग को पाखण्डीलिंग बता रहे हैं। बिना सम्यग्दर्शन के, बाह्याचार के आधार पर स्वयं को मुनि मानने को पाखण्ड कहा गया है।

यहाँ आचार्यश्री बाह्यमुनिलिंग तथा बाह्यगृहस्थलिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं यह बता रहे हैं। क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता। इसलिये आचार्यश्री सम्यग्दर्शन का महिमामण्डन करते हुए बता रहे हैं कि जिनेन्द्र भगवान दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहते हैं।

इस बात को अन्यथा लेकर इसे मुनियों का विरोध नहीं समझना चाहिये। इसलिये अनगारों (मुनिलिंगियों) द्वारा एवं सागारों (गृहस्थलिंगियों) द्वारा अज्ञानवश ग्रहण किये गये बाह्यलिंगों में अपना मैंपन करना छोड़कर आत्मानुभूति प्राप्त करके शुद्धात्मा में मैंपन स्थापित करना चाहिये और दर्शन–ज्ञान–चारित्र में, जो कि सच्चा मोक्षमार्ग है, उसमें अपनी आत्मा को लगाना चाहिये।

यहाँ आचार्यश्री लिंगों को छोड़ने को कह रहे हैं यानी सिर्फ़ बाह्य लिंगों को मोक्षमार्ग मानना छोड़ना है यानी बाह्यलिंग रूप शरीरादि में मैंपन करना छोड़ना है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वयं के मन में मात्र बाह्याचारवाले लिंगों से स्वयं को श्रावक या मुनि मानना छोड़ना। अर्थात् किसी ने भी बिना आत्मानुभूति के यदि बाह्यलिंग के कारण स्वयं को मुनि या श्रावक मान लिया तो फिर वह सच्चा मुनि या सच्चा श्रावक बनने की आवश्यकता ही नहीं समझेगा।

दूसरे, आत्मानुभूतियुक्त मुनि का बाह्यलिंग में मैंपन नहीं होता, अभिप्राय की अपेक्षा से उनका मैंपन और मेरापन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता हैं। इस अपेक्षा से आचार्यश्री लिंगों को छोड़ने को कह रहे हैं।

इसी प्रकार कई लोग इस ग्रन्थ को अन्यथा समझकर भ्रमवश स्वयं को बौद्धिक रूप से शुद्धात्मा मानने लगे हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। उनको भी इन गाथाओं से स्वयं को पाखण्डी जानकर शुद्धात्मा की अनुभूति के लिये पुरुषार्थ प्रारम्भ करना चाहिये। इससे यह तय होता है कि मोक्षमार्ग बिना आत्मानुभूति के महज़ बौद्धिकरूप से स्वयं को शुद्धात्मा या श्रावक या मुनि मान लेने मात्र से प्राप्त नहीं होता। उसके लिये आत्मानुभूति परम आवश्यक है। बिना

आत्मसन्मुखता के आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होती। बिना वैराग्यादि योग्यताओं के तथा पर की इच्छाओं से विरत हुए बिना आत्मसन्मुखता प्राप्त नहीं होती। अतः सभी को ठान लेना चाहिये कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति ही एकमात्र लक्ष्य है, और ख़ुद को छलना नहीं चाहिये।

आगे आचार्यश्री केवलज्ञान–केवलदर्शन रूप मुक्ति की सच्ची साधना बताते हुए कहते हैं कि हे साधक! तुम्हें मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित करने के लिये आत्मानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिये, बार–बार उसी का अनुभव करना चाहिये और अपने को अन्य द्रव्यों के विकल्पों से मुक्त कर उसी में निरन्तर स्थिरता का प्रयास करना चाहिये। इसी से साधक को क्षपकश्रेणी चढ़कर कैवल्य की प्राप्ति होगी और आयुक्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होगी, जो इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है।

सम्यग्दर्शनप्राप्ति के लिये अपना अभिप्राय बदलना परम आवश्यक है। क्योंकि बिना अभिप्राय बदले जीव तो प्रायः बहिरात्मा ही होता है। इसलिये सभी साधकों को सर्वप्रथम एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यादि योग्यता पाने का और पर की इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि अनादि से अज्ञानवश जीव बाहर ही सुख मानता और ढूँढ़ता आया है।

इसलिये हमारी पूर्व जन्मों में बिना आत्मानुभूति के अनेकों बार ली हुई प्रव्रज्या भी मोक्षप्राप्ति में निष्फल रही है। अज्ञानी जीव अज्ञानवश ज्ञानी के सिर्फ़ बाह्याचार को ही मोक्षमार्ग मानकर उससे ममता करने लगता है। जबकि ज्ञानी को आन्तरिक आचरण यानी शुद्धात्मा में ही स्थिरता पाने का प्रयास होता है। ज्ञानी का मैंपन सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है। इसलिये ज्ञानी को बाह्यलिंग में मैंपन नहीं होता और सभी बाह्यलिंगों को मोक्षमार्ग भी नहीं मानता।

यहाँ आचार्यश्री ऐसे अज्ञानी जीवों को बाह्यलिंग की ममता छोड़कर समयसाररूपी शुद्धात्मा को ग्रहण करने की परोक्ष रूप से प्रेरणा दे रहे हैं। इसलिये वे बताते हैं कि सिर्फ़ बाह्यलिंग से ममता करनेवाला जीव पाखण्डी है, क्योंकि उसने समयसार को नहीं जाना, अर्थात् समयसाररूप शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया। यहाँ 'जानना' शब्द से अनुभूति करना समझना है। वास्तव में शुद्धात्मा को जानने का एक ही तरीक़ा है और वह है शुद्धात्मा की अनुभूति। इसलिये बिना आत्मानुभूति के शुद्धात्मा की श्रद्धा को गधे के सींग की श्रद्धा के समान सिर्फ़ कल्पना ही कहा जाता है।

शब्दरूप से तो वर्तमान में कई लोग शुद्धात्मा को जानते हैं। पूर्वकाल में हमने भी कई बार नौ पूर्व का अभ्यास करते हुए इसे शब्दरूप में जाना है। इसलिये यहाँ शब्दरूप से जानना न

समझकर अनुभूति के रूप में जानना ही समझना चाहिये। यही बात पूरे समयसार शास्त्र में जहाँ कहीं भी आत्मा को जानना बताया गया है वहां उसे अनुभूतिपूर्वक जानना ही समझना चाहिये।

कई लोग इस बात को न समझने के कारण बिना आत्मानुभूति के ही इस ग्रन्थ को पढ़कर भ्रमवश स्वयं को स्वरूप से शुद्ध मानने लगते हैं और उसी ख़ुशफ़हमी में रहते हैं। वास्तव में सभी जीव स्वरूप से शुद्ध ही हैं परन्तु यह बात गाथा १४ में बताये अनुसार आत्मानुभूति से ही प्रकट करनी है।

चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धनय प्रकट होता है। यदि कोई उससे पूर्व ही बिना आत्मानुभूति के भ्रमवश स्वयं को स्वरूप से भी शुद्ध मानते हैं तो वे पाखण्डी हैं। इसलिये ऐसे जीव निश्चयाभासी हो जाते हैं, जो इस ग्रन्थ का उद्देश्य ही नहीं है। इसलिये आचार्यश्री ने सभी को गाथा ५ में सावधान कर दिया है कि इस शास्त्र को आत्मानुभूतिपूर्वक ही प्रमाण करना, अन्यथा इसके अर्थघटन में ग़लती होने की गुंजाइश बनी रहती है। इसलिये सभी साधकों को इस ग्रन्थ की सभी गाथाओं का योग्य अपेक्षा से यथार्थ अर्थ समझना चाहिये।

अन्यथा कई लोग इस शास्त्र का ग़लत अर्थघटन करके अपना अनन्त संसार बढ़ा लेते हैं। वे शास्त्र को शस्त्र बना लेते हैं और उसी की प्ररूपणा करते रहते हैं। उन्हें सावधान होकर हमारे आगम, युक्ति और अपनी आत्मानुभूति के आधार पर बताये हुए अर्थ पर ग़ौर फ़रमाना चाहिये और अपना आत्मकल्याण करना चाहिये।

आगे आचार्यश्री इस शास्त्र की पूर्णाहुति करते हुए साधक को यह उपदेश दे रहे हैं कि इस समयपाहुड (समयसार ग्रन्थ) को पढ़कर आत्मानुभूतिपूर्वक उसे अर्थ और तत्त्वरूप से जानकर शुद्धात्मानुभूतिरूप उसके अर्थ में जो जीव स्थित होगा वह उत्तम सुखस्वरूपी मोक्ष को प्राप्त करेगा। यहाँ जो अर्थ और तत्त्व से जानना बताया गया है वह आत्मानुभूतिपूर्वक ही समझना चाहिये। अर्थ को सिर्फ़ शब्दों में सीमित न करते हुए आचार्यश्री इस शास्त्र के शब्दार्थ को शुद्धात्मा की अनुभूति करके प्रमाण करने को ही अर्थ कहते हैं। वे शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करने की ही सलाह देते हैं।



आत्मप्राप्ति का मार्ग

जब कोई जीव वैराग्य आदि योग्यताओं को प्राप्त करता है, तभी वह आत्मसन्मुख होता है। आत्मसन्मुख होने के पश्चात ही वह आत्मानुभूति कर पाता है। उस समय उसका 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में स्थित होता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि अर्थात् ज्ञानी कहलाता है।

वैराग्य आदि योग्यताओं के अभाव में आत्मा बहिरात्मा बनी रहती है। जब तक बाह्य पदार्थों में सुख की बुद्धि बनी रहती है, तब तक आत्मानुभूति नहीं होती। बहिरात्मा व्यक्ति को यह भ्रम रहता है कि सुख बाहर से प्राप्त होता है। इसलिए वह बाह्य वस्तुओं या व्यक्तियों के पीछे दौड़ता रहता है और इच्छित वस्तु या व्यक्ति मिलने पर उनके अधीन हो जाता है।

यदि कोई ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो – अव्याबाध, नित्य और शाश्वत हो – तो वह केवल आत्मानुभूति से ही संभव है। आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता, और आत्मप्राप्ति के बिना अनन्त अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति असंभव है।

केवल आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्य प्राप्त करने के लिये बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) आदि का अभ्यास करना चाहिये और निरंतर स्वयं की जांच करते रहना चाहिये।

आत्मपरीक्षण के लिये स्वयं से ये प्रश्न पूछने चाहिये:

- मुझे क्या प्रिय लगता है?
- मुझे किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह/ममता है?
- मेरी तीव्र इच्छाएँ क्या हैं?
- ऐसा क्या है जिसके बिना मैं रह नहीं सकता?

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मेरी बहिर्मुखता या परसन्मुखता कितनी है। फिर इस बहिर्मुखता का उपचार बारह भावना आदि के अभ्यास से करते हुए अपने अभिप्राय को आत्मसन्मुख बनाते रहना ही आत्मानुभूति का मार्ग है।

– सी.ए. जयेश मोहनलाल शेठ

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

समयसार अभिनव टीका की विशेषताएँ

- अनेकान्तमय प्ररूपणा
- निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण
- ज्ञानी-अज्ञानी की स्थिति का स्पष्टीकरण
- आत्मानुभूति हेतु योग्यता की आवश्यकता का स्पष्टीकरण
- अज्ञानी, वास्तविक आत्मानुभूति के बिना ही ज्ञानी के अभिप्राय को मात्र बौद्धिक स्तर पर जानकर, स्वयं के ज्ञानी होने का भ्रम पाल लेता है। साधक इस भ्रम में न रहे, इसके लिये टीका में हर स्थान पर सावधान किया गया है।

– एडवोकेट रश्मिन मोहनलाल शेठ

JSBN

ISBN

ISBN

9 789357 824361